पण्डित दौलतरामजी कृत

क्रियाकोश

सम्पादक

संजय शास्त्री, (बड़ामलहरा)

जयपुर

प्रकाशक

प्रेमचन्द बजाज प्रकाशन

मुमुक्षु आश्रम ट्रस्ट, कोटा

प्रथम आवृत्ति : 1000 प्रतियाँ
दिन-दिनांक : रविवार, 12 अगस्त 2018
(श्री टोडरमल स्मारक भवन में आयोजित 41वें शिक्षण-शिविर के अवसर पर)

न्यौछावर राशि : 80/- रुपये

प्राप्ति स्थान

1. श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर
   जैन मुमुक्षु आश्रम ट्रस्ट
   केशोरायपाटन रोड
   गिरधरपुरा, कोटा (राजस्थान)
   + 91 97856 43203
2. श्री प्रेमचन्द बजाज
   बजाज पैलेस, नगर परिषद कॉलोनी
   छावनी, कोटा-324 007
3. सर्वोदय अहिंसा
   बी. 180 ए. 2 मंगल मार्ग, बापू नगर
   जयपुर-302 015
   +91 9785 999100

टंकण एवं शब्द-शुद्धि –
प्रीति कम्प्यूटर्स (प्रीति जैन), जयपुर + 91 9785 999100
मुद्रण व्यवस्था –
प्री एलविल सन (संजय शास्त्री)
सर्वोदय अहिंसा, बी. 180 मंगल मार्ग, बापू नगर, जयपुर + 91 95092 32733

प्रकाशकीय

आचार्य श्री समन्तभद्रस्वामी ने हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह – इन पाँच पापों से निवृत्त होने को चारित्र कहा है। यह चारित्र एकदेश और सर्वदेश के भेद से दो प्रकार का होता है। जिसमें उपर्युक्त पाँचों पापों का पूर्णरूप से त्याग होता है, वह सर्वदेश चारित्र कहलाता है। इसके धारक यथाजात निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा के धारी मुनिराज होते हैं।

जिसमें उपर्युक्त पाँच पापों का एकदेश त्याग होता है, वह देशचारित्र कहलाता है। इसे धारण करने वाला श्रावक या उपासक कहलाता है। शृणोति इति श्रावकः – जो गुरुजनों के द्वारा उपदिष्ट धर्मोपदेश को श्रद्धा के साथ सुनकर उसका पालन करता है, उसे श्रावक कहते हैं।

प्रस्तुत 'क्रियाकोश' ग्रन्थ श्रावक जीवों के कल्याण हेतु प्रकाशित किया जा रहा है। आत्मकल्याण के लिए आध्यात्मिकता के साथ-साथ उचित आचार-विचार का होना अति आवश्यक है। वर्तमान समय में जीवों को श्रावकों द्वारा पालन करने योग्य क्रियाओं की उचित जानकारी हो, वे श्रावकाचार का उत्तम रीति से पालन कर सकें – इस विचार को लेकर इसका प्रकाशन किया जा रहा है।

जैनधर्म में संयम का स्थान सर्वोपरि है। मनुष्य गति की सार्थकता भी संयम धारण करने में है। जैनाचार्यों ने भी संयम धर्म पर विशेष प्रकाश डाला है। द्वादशांगरूपी गंगा में आचारांग सूत्र का प्रथम स्थान है। इससे भी संयम की महिमा स्पष्ट होती है। यथार्थ में मानव जीवन की अनुपम विभूति संयम ही है, जो कि अन्य पर्यायों में सुलभ नहीं होती। अतः मनुष्य पर्याय में संयम अंगीकार करने का यत्न करना चाहिए।

श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन मुमुक्षु आश्रम ट्रस्ट, कोटा द्वारा दिगम्बर जैन सत्साहित्य का प्रकाशन निरन्तर किया जाता है। इस शृंखला में संस्था के द्वारा अब तक संयम प्रकाश (तीन भाग), धर्मपरीक्षा, पंच संग्रह, सर्वार्थसिद्धि प्रश्नप्रदीप एवं शान्तिसुधा का प्रकाशन किया जा चुका है एवं अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन में सहयोग भी दिया गया है। अब पण्डित दौलतरामजी द्वारा रचित क्रियाकोश को अनुवाद सहित प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वच्छ-सुन्दर प्रकाशन हेतु संजय शास्त्री (बड़ामलहरा) जयपुर, टाइप सैटिंग हेतु श्रीमती प्रीति जैन, जयपुर धन्यवाद के पात्र हैं।

तत्त्वपिपासु स्वाध्यायी जन प्रस्तुत कृति के स्वाध्याय द्वारा संयम के मार्ग पर अग्रसर हों – इसी मंगल भावना के साथ विराम।

– प्रेमचन्द बजाज

अध्यक्ष, मुमुक्षु आश्रम ट्रस्ट, कोटा

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन सहयोगी

21000/- श्रीमती सुनीता बजाज, कोटा
11000/- श्री अरुणकुमार बज, कोटा
5000/- श्रीमती ताराबाई जैन, कोटा
5000/- श्रीमती उमाजी पालीवाल, कोटा
5000/- श्रीमती मैना जैन, कोटा
2100/- श्रीमती बीना पाटोदी, कोटा
2100/- श्रीमती कमलेश जैन, कोटा
2100/- श्रीमती आयुषी जैन, बैंगलोर
2100/- श्रीमती तिलक जैन, कोटा
2100/- श्री अतुल खरोड, कोटा
2100/- श्रीमती बीना पाटनी, कोटा
2000/- श्रीमती गीता जैन बजाज, कोटा
2000/- श्रीमती अनीता जैन, जयपुर
1500/- श्रीमती रिंकू-सुमित जैन, कोटा
1100/- श्रीमती प्रकाशमती जैन, कोटा
1100/- श्रीमती ऊषा जैन, कोटा
1100/- श्रीमती चन्द्रकान्ता जैन, भानुपुरा
1000/- श्री अशोककुमार जैन, कोटा
1000/- श्री हुकमचन्द जैन (ऑवरदा वाले), कोटा
1000/- श्रीमती उर्मिला जैन बजाज, कोटा
1000/- श्रीमती चन्द्रकला जैन, कोटा
1000/- श्रीमती कल्पना जैन, कोटा
1000/- श्रीमती सरोज जैन, कोटा
1000/- श्रीमती रुचि-त्रिलोक जैन (इन्द्रविहार), कोटा
1000/- श्रीमती प्रीति जैन, कोटा

श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन मुमुक्षु आश्रम ट्रस्ट, कोटा

।। संक्षिप्त परिचय ।।

अनन्त तीर्थंकरों और आचार्यों की भावनाओं के अनुरूप कल्याणकारी जिनवाणी और जिनधर्म चिरकाल तक जयवन्त वर्ते - इसी मंगलमय भावना से आध्यात्मिक सत्पुरुष गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के पुण्य प्रभावना योग में 4 फरवरी से 10 फरवरी 2006 तक अनेक विद्वानों के सान्निध्य में श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन मुमुक्षु आश्रम की स्थापना हुई।

आश्रम की स्थापना के समय से ही शास्त्र स्वाध्याय, पूजन, विधान, ग्रुप शिविर एवं शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर आदि का आयोजन, धर्म-शिक्षा हेतु महाविद्यालय की स्थापना तथा जिनवाणी का प्रकाशन आदि गतिविधियाँ निरन्तर संचालित हो रही हैं।

आठ बीघा क्षेत्र में फैले मुमुक्षु आश्रम में भव्य श्री शीतलनाथ जिनालय, श्री महावीर स्वामी जिनालय, श्री सीमन्धर जिनालय, उत्तुंग श्री मानस्तम्भ जिनालय एवं कृत्रिम पहाड़ी पर ग्यारह फीट ऊँची कायोत्सर्ग मुद्रा वाली श्री मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा युक्त जिनालय है।

मुमुक्षु आश्रम ट्रस्ट द्वारा चलाई जा रही गतिविधियों का संक्षिप्त परिचय

आचार्य धरसेन दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय -

जिनवाणी के प्रचार-प्रसार हेतु तत्त्वज्ञान को हृदयंगम करने वाले व वाणी में ओज धारण करने वाले विद्वानों का होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः इसी भावना के साथ आचार्य धरसेन दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की स्थापना जुलाई 2008 में की गई।

इस काल में जहाँ अन्य बालक/युवा पाश्चात्य की अन्धी दौड़ में अपने धर्म व संस्कार को खोते जा रहे हैं। वहीं इस महाविद्यालय में छात्रों को धार्मिक व नैतिक संस्कार सहित लौकिक शिक्षा व कम्प्यूटर/अँग्रेजी आदि की शिक्षा प्रदान की जाती है।

पण्डित श्री धर्मेन्द्र शास्त्री के प्राचार्यत्व एवं श्री सौरभ शास्त्री-निलय शास्त्री के अधीक्षकत्व में संचालित इस महाविद्यालय में किसी जाति-भाषा-प्रान्त के भेदभाव के बिना तत्त्व-रुचिवन्त छात्रों को कक्षा दसवीं में प्राप्त अंकों के आधार पर साक्षात्कार की प्रक्रिया द्वारा प्रवेश दिया जाता है। दसवीं के पश्चात् छात्र यहाँ रहकर प्रथम दो वर्षों में अजमेर बोर्ड (राजस्थान) की वरिष्ठ उपाध्याय परीक्षा उत्तीर्ण करके तीन वर्षों में राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय की जैनदर्शन शास्त्री (बी.ए.) की डिग्री

प्राप्त करते हैं, जो पूरे भारत में मान्य है। छात्रों को भोजन, आवास, शिक्षा एवं स्वास्थ्य आदि की उच्च स्तरीय सुविधाएँ निःशुल्क उपलब्ध कराई जाती हैं।

छात्रों के सर्वांगीण विकास के लिए महाविद्यालय में सह-शैक्षणिक एवं शिक्षणेतर गतिविधियाँ, साप्ताहिक गोष्ठी, प्रवचन प्रशिक्षण, साहित्यिक प्रतियोगिताएँ, चर्चा-समाधान, शैक्षिक भ्रमण, खेल-कूद, व्यायाम, धार्मिक विधि-विधान और संगीत-भजन आदि कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है एवं समय-समय पर बाहर से आमन्त्रित विशिष्ट विद्वानों एवं विषय विशेषज्ञों का मार्गदर्शन भी छात्रों को प्राप्त होता है। महाविद्यालय में मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्नाटक, छत्तीसगढ़ आदि प्रान्तों के छात्र अध्ययन कर रहे हैं।

इसमें अब तक 54 छात्र शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके हैं।

आचार्य समन्तभद्र विद्यानिकेतन –

इस वर्ष अप्रैल 2018 से नन्हें-मुन्ने बालकों में बचपन से धर्म-संस्कार रोपित करने के उद्देश्य से ट्रस्ट द्वारा आचार्य समन्तभद्र विद्यानिकेतन की स्थापना की गई। पण्डित श्री धर्मेन्द्र शास्त्री के प्राचार्यत्व एवं श्री अभिनय शास्त्री-श्री पीयूष शास्त्री के अधीक्षकत्व में संचालित इस विद्यालय की प्रवेश-प्रक्रिया आचार्य धरसेन दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की तरह ही है।

विद्यानिकेतन की कुछ विशेषताएँ निम्नानुसार हैं –

- अँग्रेजी माध्यम द्वारा सी.बी.एस.ई. के प्रतिष्ठित विद्यालय में अध्ययन।
- लौकिक शिक्षण के साथ धार्मिक अध्ययन एवं चारित्रिक निर्माण का सुनहरा अवसर।
- सातवीं कक्षा में 90 प्रतिशत से अधिक अंक सहित प्रवेश लेने वाले छात्रों को स्कूल फीस में 52 प्रतिशत की छात्रवृत्ति।
- 80 प्रतिशत अंक से 10वीं उत्तीर्ण करने पर एवं शास्त्री महाविद्यालय में प्रवेश लेने वाले छात्रों को आठवीं, नौवीं एवं दसवीं – तीनों वर्षों की पूरी स्कूल फीस वापस की।
- सर्व सुविधायुक्त आवासीय परिसर।
- आवास, भोजन एवं आवागमन हेतु बस आदि की उत्कृष्ट निःशुल्क व्यवस्था।
- प्रतिवर्ष 24 छात्रों को प्रवेश।

इस वर्ष विद्यानिकेतन में उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र एवं छत्तीसगढ़ राज्य के इकतीस छात्रों ने प्रवेश लिया है।

अतिथि भवन/भोजनशाला

मुमुक्षु आश्रम में बाहर से पधारने वाले साधर्मी मुमुक्षु बन्धुओं एवं छात्रों के अभिभावकों के लिए अतिथि भवन बनाया गया है। यहाँ बाहर से पधारने वाले साधर्मियों के लिए शुद्ध भोजन की व्यवस्था भी है।

औषधालय

मुमुक्ष आश्रम परिसर में ही निःशुल्क औषधालय संचालित किया जाता है, जिसमें महाविद्यालय के छात्रों के अलावा आसपास के निवासियों का भी शुद्ध रीति से तैयार आयुर्वेदिक औषधियों द्वारा उपचार किया जाता है।

सत्साहित्य प्रकाशन

ट्रस्ट द्वारा अद्यतन अप्रकाशित एवं वर्तमान में अनुलब्धप्राय दिगम्बर जैन ग्रन्थ प्रकाशित करके अल्प मूल्य में साधर्मियों को स्वाध्याय हेतु उपलब्ध कराये जाते हैं। इसके अन्तर्गत प्रस्तुत ग्रन्थ संयम प्रकाश सम्पूर्ण (तीन भाग) के अलावा धर्मपरीक्षा, द्रव्य संग्रह, शान्ति सुधा, श्री जिनेन्द्र पूजन तथा सर्वार्थसिद्धि प्रश्नदीप आदि भी प्रकाशित हो चुके हैं। इसी क्रम में मूल तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्ड श्रावकाचार एवं द्रव्य संग्रह हिन्दी अर्थ सहित प्रकाशनाधीन हैं।

शिविरों में सहयोग

ट्रस्ट द्वारा आध्यात्मिक शिक्षण शिविरों, ग्रुप शिविरों एवं बाल संस्कार शिविरों के संचालन में सहयोग किया जाता है।

आगामी योजनाएँ

मासिक पत्रिका का प्रकाशन।

प्रवचन मण्डप निर्माण।

कोटा नगर एवं आसपास के नगरों में वीतराग विज्ञान पाठशालाओं एवं स्वाध्याय सभाओं का संचालन।

प्रेमचन्द बजाज	**तन्मय बजाज**	**ध्याता बजाज**
अध्यक्ष	उपाध्यक्ष	मंत्री

श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन मुमुक्षु आश्रम ट्रस्ट, कोटा

ग्रन्थकर्ता पण्डित दौलतराम कासलीवाल

पण्डित दोलतराम जी का जन्म वि.सं. 1749 की आषाढ़ सुदी 14 को बसवा ग्राम (राजस्थान) में हुआ था। आपके पितामह का नाम घासीराम और पिता का नाम आनन्दराम था। जाति खण्डेलवाल और गोत्र कासलीवाल था। अपने अध्ययन के सम्बन्ध में आपने कोई उल्लेख अपनी रचनाओं में कहीं नहीं किया है, परन्तु आपकी रचनाओं को देखते हुए ज्ञात होता है कि आप प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता था। आपके पिता राज्य के उच्च पद पर आसीन रहे हैं। आप स्वयं उदयपुर राज्य में जयपुर के वकील बन कर गये थे और वहाँ तीस वर्षों तक रहे। हिन्दी गद्य साहित्य के क्षेत्र में सबसे पहली रचना इन्हीं दौलतरामजी की उपलब्ध है।

आप पण्डित टोडरमलजी और रायमलजी आदि के समकालीन थे। आपका समय विक्रम की 18वीं शताब्दी का अन्तिम भाग और 19वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। डॉ. कस्तूरचन्दजी कासलीवाल ने इनकी 18 रचनाओं का उल्लेख करते हुए उन्हें तीन भागों में बाँटा है, जो निम्नानुसार हैं –

मौलिक रचनाएँ –

1. क्रियाकोश (वि.सं. 1795)
2. अध्यात्म बारहखड़ी (सं. 1798)
3. जीवन्धर चरित (सं. 1805)
4. श्रीपाल चरित (सं. 1822)
5. विवेकविलास (सं. 1827)
6. श्रेणिक चरित
7. चौबीस दण्डक
8. सिद्ध पूजाष्टक

विशेष – ये सभी रचनाएँ छन्दोबद्ध हैं।

अनुदित रचनाएँ :–

1. पुण्यास्रव कथाकोश वचनिका (वि.सं. 1777)
2. पद्मपुराणवचनिका (सं. 1823)
3. आदिपुराणवचनिका (सं. 1824)
4. हरिवंशपुराण (सं. 1829)
5. परमात्म प्रकाश
6. सारसमुच्चय
7. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय – जो पण्डित टोडरमलजी पूर्ण नहीं कर पाये थे।

ये सभी ढूँढ़ारी भाषा में गद्यानुवाद हैं।

टब्बा – टीकाएँ –

1. तत्त्वार्थसूत्र टब्बा – टीका
2. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा टब्बा – टीका
3. वसुनन्दि श्रावकाचार टब्बा – टीका (वि.सं. 1818।।

इन रचनाओं के अवलोकन से ज्ञात होता है कि आप चारों अनुयोगों के अच्छे ज्ञाता थे।

क्रियाकोश भाषा : सामान्य परिचय

संस्कृत क्रियाकोश के आधार पर रचित 'श्रावकाचार' विषयक यह रचना स्वयं पण्डित दौलतराम जी द्वारा 'क्रियाकोश' अभिहित की गई है। ''क्रियाकोश भाषा कहूँ, जिन आगम परवानि।''

यह रचना श्री किशनसिंह जी कृत क्रियाकोष की रचना (सं. 1784) के 11 वर्ष बाद (सं. 1795 में) लिखी गई। कविवर ने अपनी रचना का परिमाण नहीं दिया है और न रचे गये छन्दों के नाम ही दिये हैं। फिर भी हिन्दी भाषा के प्रसिद्ध दोहा, चौपाई, बेसरी छन्द, जोगीरासा, इकतीसा सवैया, चाल छन्द, कवित्त, सवैया तेईसा और सोरठा छन्दों में इनकी रचना हुई है। पण्डितजी ने अपनी इस रचना में 'उक्तं च' करके कुछ गाथाएँ और श्लोक दिये हैं, जिनकी संख्या छह है। इनमें से एक गाथा 'रयणसार' की है, तीन श्लोक ज्ञानार्णव के हैं और दो श्लोक 'प्रश्नोत्तर श्रावकाचार' के हैं।

मंगलाचरण के पश्चात् गृहस्थ की अनेक क्रियाओं में प्रधान त्रेपन क्रियाओं का वर्णन किया है और इन्हीं की मुख्यता से श्रावक के आचार का वर्णन हुआ है। वे त्रेपन क्रियाएँ इस प्रकार हैं –

मूलगुण 8, व्रत 12, तप 12, समभाव 1, श्रावकप्रतिमा 11, दान 4, जलगालन 1, अनस्तमितव्रत (रात्रिभोजन त्याग) 1, दर्शन 1, ज्ञान 1, चारित्र 1 = 53

मंगलाचरण के बाद मूलगुणों का वर्णन करते हुए अभक्ष्य पदार्थों का विस्तार से वर्णन किया है, भक्ष्य वस्तुओं की काल मर्यादा का भी निर्देश किया है। सम्यक्त्व के आठों अंगों का स्वरूप अति संक्षेप में कहा गया है और उनमें प्रसिद्ध पुरुषों के नामों का उल्लेख मात्र हुआ है। लूँका मत का नामोल्लेख न करते हुए भी दौलतरामजी ने इस मत की समालोचना कर जिनप्रतिमा की महत्ता का शंका-समाधानपूर्वक वर्णन किया है।

कविवर ने चौका, चक्की, परण्डा आदि की शुद्धि का, रजस्वला-प्रसूतादि स्त्री के हाथ से स्पर्शित वस्तुओं की अग्राह्यता का और सप्त व्यसनों का अत्यन्त भावपूर्ण-सरस वर्णन किया है। इसी प्रकार व्रती श्रावक के नहीं करने योग्य व्यापारों का, सम्यक्त्व के भेदों का सरस वर्णन तथा अहिंसाणुव्रत के वर्णन में दया का विस्तृत वर्णन बार-बार पढ़ने को प्रेरित करता है। श्रावक के 17 नियमों का भी विस्तृत वर्णन है। चार शिक्षाव्रतों के वर्णन का आधार तत्त्वार्थसूत्र है।

दौलतरामजी की वर्णन शैली बहुत ही भावपूर्ण, सरल और रोचक है। पूरे ग्रन्थ में आपने कहीं भी शीर्षक नहीं दिये हैं। अहिंसादि प्रत्येक अणुव्रत का वर्णन विधि और निषेध दोनों दृष्टियों से किया है। जैसे अहिंसाणुव्रत का वर्णन करते हुए पहले अहिंसा या दया-करुणा की महत्ता 67 छन्दों में बताकर पुन: हिंसा-पाप के दोषों का वर्णन 24 छन्दों में किया गया है। इसी प्रकार सत्य-असत्य, चौय-अचौर्य, ब्रह्म-अब्रह्म और परिग्रह-अपरिग्रह के गुणदोषों का वर्णन भी खूब विस्तार से किया है। दान के प्रकरण में दान का भी विशद वर्णन किया गया है।

सम्पूर्ण रचना मननीय और तदनुकूल आचरण करने योग्य है।

ॐ

।।शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण।।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ जय जय जय, नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।।

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः।।

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलंकाः।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती! हरतु नो दुरितान्।।

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः-प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्रीसंयमप्रकाशनामधेयम् अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्यश्रीकुन्दकुन्दाम्नाये आचार्यसूर्यसागरेण विरचितम्।

श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम्।।

विषय सूची

क्र.	विषय	पृष्ठ
1.	मंगल	1
2.	आठ मूलगुण	6
	मूलगुण धारण	
	अभक्ष्य–त्याग	
	रजस्वला की क्रिया	
	सप्तव्यसन–त्याग	
	किन–किन जाति के लोगों से तथा किन–किन वस्तुओं का व्यापार न करना चाहिए	
	सम्यक्त्व, उसके आठ अंग और पच्चीस मल दोष	
3.	बारह व्रत	
	पाँच अणुव्रत – अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत, परिग्रह–परिमाणाणुव्रत	
	तीन गुणव्रत – दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत	
	चार शिक्षाव्रत – भोगोपभोगपरिमाणव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, वैयावृत्य	
4.	तप	
	छह बाह्य तप – अनशन, अवमौदर्य, व्रतपरिसंख्या, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश	
	छह अभ्यंतर तप – प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, ध्यान	
5.	सम्यक्त्व वर्णन	
6.	प्रतिमा वर्णन	
7.	दान वर्णन	
8.	जल–गालन विधि	
9.	रात्रिभोजन त्याग वर्णन	
10.	रत्नत्रय वर्णन	

।।नमः श्रीमते गणधरदेवाय।।

पण्डित दौलतरामजी विरचित

क्रियाकोश

मंगल

दोहा

प्रणमि जिनंद मुनिंद कों, नमि जिनवर मुखवानि।
क्रियाकोष-भाषा कहूँ, जिन आगम परवानि।।1।।

अर्थ :- मैं (दौलतराम) जिनेन्द्र देव को और मुनीन्द्र को प्रणाम करके, जिनेन्द्र देव के मुख से निःसृत वाणी को नमस्कार करके, जिन-आगम को साक्षी रखकर भाषामय क्रियाकोश को कहता हूँ।

मोक्ष न आतमज्ञान बिन, क्रिया ज्ञान बिन नाहिं।
ज्ञान विवेक बिना नहीं, गुन विवेक के माहिं।।2।।

अर्थ :- आत्मज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता, ज्ञान के बिना क्रिया नहीं हो सकती तथा ज्ञान विवेक के बिना नहीं होता अर्थात् हिताहित के निर्णय के बिना ज्ञान केवल जानकारी ही है। जितने भी गुण हैं, वे सब विवेक (भला-बुरा पहचानने की शक्ति) में हैं।

नहिं विवेक जिनमत बिना, जिनमत जिन बिन नाहिं।
मोक्षमूल निर्मल महा, जिनवर त्रिभुवन माहिं।।3।।

अर्थ :- विवेक जिनमत अर्थात् जैनदर्शन के बिना नहीं हो सकता और जिनमत जिनेन्द्र देव के बिना नहीं हो सकता। तीन लोक में महान निर्मल मोक्ष के मूल श्री जिनेन्द्र देव ही हैं।

तातें जिन कों वंदना, हमरी बारम्बार।
जिनतें आपा पाइये, तीन भुवन में सार।।4।।

अर्थ :- इसलिए हम जिनेन्द्र देव को बारम्बार वन्दन करते हैं। जिनेन्द्र देव से आत्मा की प्राप्ति होती है, जो कि तीन लोक में सारभूत पदार्थ है अर्थात् जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर चलकर हमें आत्मा की प्राप्ति होती है।

द्वीप अढ़ाई के विषें, आरज छेत्र अनूप।
सौ ऊपर सत्तरि सबै, वृत्त भूमि शुभरूप।।5।।

अर्थ :– ढाई द्वीप में एक सौ सत्तर अनुपम आर्य क्षेत्र हैं, जो शुभ क्रियाओं की – व्रताचरण की भूमि हैं अर्थात् इन क्षेत्रों में ही आर्यजन अपने व्रताचरण के बल से स्वर्ग और मोक्ष का साधन करते हैं।

जिनमें उपजें जिनवरा, व्रत्त विधान निरूप।
कबहूँ इक इक क्षेत्र में, इक इक ह्वै जिनभूप।।6।।

अर्थ :– जहाँ (ढाई द्वीप में) व्रत–विधान का निरूपण करने वाले जिनेन्द्र देव होते हैं। कभी तो एक–एक आर्यक्षेत्र में एक–एक जिनराज होते हैं।

तब सत्तरि सौं ऊपरैं, उतकिष्टे भुवनेस।
तिनमें महाविदेह में, अस्सी दूण असेस।।7।।

अर्थ :– इसप्रकार उत्कृष्ट रूप से एक सौ सत्तर तीर्थंकर होते हैं। जिनमें सम्पूर्ण महा विदेह में अस्सी से दोगुने अर्थात् एक सौ साठ तीर्थंकर होते हैं।

भरतैरावत छेत्र दस, तिनके दस जिनराय।
ए दस अर वे सर्व ही, सौ सत्तरि सुखदाय।।8।।

अर्थ :– भरत और ऐरावत सम्बन्धी पाँच–पाँच कुल दस आर्यखण्डों में दस तीर्थंकर होते हैं। ये दस और ऊपर कहे एक सौ साठ मिलाकर एक सौ सत्तर तीर्थंकर होते हैं, जो कि हमें सुखदायक अर्थात् सच्चे सुख का मार्ग बताने वाले हैं।

घटि ह्वैं तौ जिन बीसतें, घटैं न काहू काल।
पंच विदेह विषें महा, केवलरूप विशाल।।9।।

अर्थ :– यदि ये घटेंगे अर्थात् कम से कम होंगे तो किसी भी काल में बीस से कम नहीं होंगे। इसप्रकार पाँच विदेह क्षेत्र में महान केवलज्ञान का विशाल रूप दिखाई देता है।

चलै धर्म द्वय सासता, यति–श्रावक व्रतरूप।
टलै पाप हिंसादि का, उपजें पुरुष अनूप।।10।।

अर्थ :– वहाँ यति और श्रावक रूप अर्थात् महाव्रत और अणुव्रतरूप दो प्रकार के शाश्वत धर्म निरन्तर चलते हैं। वहाँ हिंसादि का पाप दूर ही रहता है तथा अनुपम पुरुष उत्पन्न होते हैं।

कालचक्र की फिरणि बिन, कुलकर तहाँ न होय।
नाहिं कुलिंगम वरति हैं, तातें रुद्र न जोय।।11।।

अर्थ :– वहाँ कालचक्र का परिवर्तन नहीं होता अर्थात् सदैव चौथा काल रहता है; इसलिए वहाँ कुलकर नहीं होते। वहाँ कुलिंगी नहीं होते, अतः रुद्र भी नहीं होते।

तीर्थाधिप चक्री हली, हरि प्रतिहरि उपजंत।
इंद्रादिक आवें जहाँ, करें भक्ति भगवंत।।12।।

अर्थ :– वहाँ तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण तथा प्रतिनारायण जन्म लेते हैं। वहाँ इन्द्रादि आते हैं और भगवान की भक्ति करते हैं।

तीर्थंकर अर केवली, गणधर मुनि विहरंत।
जहाँ न मिथ्यामारगी, एक धर्म अरहंत।।13।।

अर्थ :– तीर्थंकर, केवली, गणधर और मुनि वहाँ विहार करते हैं। यहाँ मिथ्यामार्गी नहीं होते। एक मात्र आर्हत् धर्म होता है अर्थात् केवल अरहन्त परमेष्ठी द्वारा प्रतिपादित धर्म ही वहाँ विद्यमान रहता है।

तात मात जिनराज के, अर नारद फुनि काम।
परघट पुरुष पुनीत बहु, शिवगामी गुण धाम।।14।।

अर्थ :– वहाँ तीर्थंकर के माता-पिता, नारद, कामदेव तथा और भी बहुत-से पवित्र पुरुष होते हैं, जो गुणों के धाम एवं शिवगामी होते हैं।

ह्वैं विदेह मुनिवर जहाँ, पंच महाव्रत धार।
तातें महा विदेह में, सत्यारथ सुखकार।।15।।

अर्थ :– उस विदेह क्षेत्र में मुनिराज पंच महाव्रत को धारण करके देहरहित अर्थात् मुक्त होते हैं, इसलिए यह महाविदेह सत्यार्थ सुख को करने वाला है अर्थात् सच्चे अर्थों में सुख देने वाला है।

भरतैरावत दस विषें, कालचक्र हैं दोय।
अवसर्पिणि उत्सर्पिणी, षट् षट् काला सोय।।16।।

अर्थ :– पाँच भरत क्षेत्र और पाँच ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी दस आर्यखण्डों में दो कालचक्र होते हैं। इनमें अवसर्पिणी काल और छह उत्पसर्पिणी काल होते हैं।

तिनमें चौथे कालही, उपजें जिन चौबीस।
द्वादश चक्री नव हली, हरि प्रतिहरि अवनीश।।17।।

अर्थ :– उनमें से चौथे काल में ही चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण उत्पन्न होते हैं।

त्रिसठि सलाका पुरुष ए, जिनमारग धर धीर।
इनमें तीर्थंकर प्रभू, और भक्तिवर वीर।।18।।

तात मात जिनदेव के, चौबीसा चौबीस।
नौ नारद चौदा मनूँ, कामदेव चौबीस।।19।।

एकादस रुद्रा महा, इत्यादिक पद धारि।
उपजें चौथे काल ही, ए निश्चै उर धार।।20।।

अर्थ :– ये त्रेसठ शलाका पुरुष जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मार्ग को धैर्य पूर्वक धारण करते हैं। इनमें तीर्थंकर प्रभु एवं भक्तिपरायण वीर तीर्थंकर के माता–पिता चौबीस–चौबीस होते हैं, नारद नौ होते हैं, कुलकर चौदह होते हैं, कामदेव चौबीस होते हैं और ग्यारह रुद्र होते हैं। इत्यादिक पदों को धारण करने वाले चौथे काल में ही उत्पन्न होते हैं। ऐसा हृदय में निश्चित जानना चाहिए।

या विधि भए अनंत जिन, होसी देव अनंत।
सबको मारग एक ही, ज्ञान–क्रिया बुधिवंत।।21।।

अर्थ :– इस प्रकार अनन्त जिनराज हुए हैं और आगे भी अनन्त होंगे। सबका एक ही मार्ग होता है, जो कि ज्ञान और क्रिया से युक्त है।

सब ही शान्तिप्रदायका, सब ही केवलरूप।
सब ही धर्म निरूपका, हिंसा–रहित–सरूप।।22।।

अर्थ :– ये सभी जिनेन्द्र शान्तिप्रदायक हैं, सभी केवलज्ञान स्वरूप हैं और सभी हिंसा रहित धर्म अर्थात् अहिंसा धर्म के निरूपक होते हैं।

सबही आगम भासका, सब अध्यातम मूल।
युक्ति–मुक्ति–दायक सबै, ज्ञायक सूक्षम–थूल।।23।।

अर्थ :– सभी जिनेन्द्र भगवान आगम के उपदेशक हैं, जिसके मूल में अध्यात्म है। सूक्ष्म एवं स्थूल पदार्थों के ज्ञाता वे जिनेन्द्र भगवान मुक्ति की युक्ति अर्थात् उपाय बताने वाले हैं।

बरनन में आवें नहीं, तीन काल के नाथ।
सर्व क्षेत्र के जिनवरा, नमों जोरि जुग हाथ।।24।।

अर्थ :– तीन काल अर्थात् भूत–भविष्य–वर्तमान के सभी जिनेन्द्र भगवन्त वर्णन में नहीं आ पाते अर्थात् उनका वर्णन करना संभव नहीं है। अतः सभी क्षेत्रों के जिनवरों के लिए मैं दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ।

भरत क्षेत्र यह आपनो, जंबूदीप मझारि।
ताके मैं चौबीसि का, बंदूं श्रुत–अनुसारि।।25।।

अर्थ :– जम्बूद्वीप के बीच हमारा यह भरत क्षेत्र है। मैं श्रुत के अनुसार यहाँ की चौबीसी की वंदना करता हूँ।

निर्वाणादि भये प्रभु,– निर्वाणी चौबीस।
ते अतीत जिन जानिये, नमों नाय निज शीश।।26।।

अर्थ :– भूतकाल में जो निर्वाण आदि चौबीस तीर्थंकरों ने निर्वाण प्राप्त किया है। मैं उन अतीत काल के तीर्थंकरों को अपना शीश झुका कर नमस्कार करता हूँ।

जिन भाष्यौ द्वै विधि धरम, परम धाम को मूल।
यति–श्रावक के भेद करि, इक सूक्षम इक थूल।।27।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान ने मोक्ष के मूल धर्म को दो प्रकार का कहा है। यह यति और श्रावक के भेद रूप है तथा एक सूक्ष्म है और एक स्थूल है। अर्थात् यति का सूक्ष्म धर्म है और श्रावक स्थूल धर्म का पालन करते हैं।

बहुरि वर्तमाना जिना, रिषभादिक चौबीस।
नमों तिनें निज भाव करि, जिनके राग न रीस।।28।।

अर्थ :– वर्तमान में राग–द्वेष विरहित ऋषभदेव आदि चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, उन्हें मैं निज भावों से नमस्कार करता हूँ।

तिनहूं सो ही भाषियौ, द्वै विधि धर्म विसाल।
महाव्रत्त अणुव्रत्तमय, जीवदया प्रतिपाल।।29।।

अर्थ :– इन्होंने भी वही दो प्रकार का धर्म कहा है। जीव दया के पालन स्वरूप महाव्रत और अणुव्रत रूप दो प्रकार के विशाल धर्म का स्वरूप उनके द्वारा कहा गया है।

बहुरि अनागत काल में, ह्वैंगे तीरथनाथ।
महापद्म प्रमुख प्रभु, चौबीसा बड़हाथ।।30।।
तातें सोही भासि है, जै जोऽनादि प्रबंध।
सबकों मेरी वंदना, सबको एक निबंध।।31।।

अर्थ :– और भविष्य काल में भी महापद्म को आदि में रखकर तीर्थ के कर्ता चौबीस तीर्थंकर होंगे। वे ही वैसा ही उपदेश देंगे, जैसी व्यवस्था अनादि से चली आ रही है। सबको मैं वंदन करता हूँ। सबका एक ही कथन है अर्थात् सभी तीर्थंकरों ने वस्तु–स्वरूप का प्रतिपादन एक जैसा किया है।

चौबीसी तीनूं नमूं, नमों तीस चौबीस।
श्री सीमंधर आदि प्रभु, नमन करों फुनि बीस।।32।।

अर्थ :– मैं जम्बूद्वीप स्थित भरतक्षेत्र की भूत, भविष्य, वर्तमान काल की तीनों चौबीसी को नमस्कार करता हूँ तथा पाँच भरत, पाँच ऐरावत – दोनों मिलाकर दस क्षेत्रों की भूतकाल की दस, भविष्य काल की दस, वर्तमान काल की दस – इस प्रकार तीस चौबीसी को नमस्कार करता हूँ अर्थात् सात बीस तीर्थंकरों को नमस्कार करता हूँ तथा श्री सीमंधर आदि विद्यमान बीस तीर्थंकरों को भी नमस्कार करता हूँ।

पंद्रा कर्मधरा सबै, तिनमें जे जिनराय।
अर सामान्य जु केवली, वर्तें निर्मल काय।।33।।
तिन सबकों परनाम करि, प्रणमों सिद्ध अनंत।
आचारिज उपाध्यायकों, बिनऊँ साधु महंत।।34।।

अर्थ :– पंद्रह कर्मभूमियाँ होती हैं, उनमें जो जिनराज हैं और जो निर्मल काया वाले सामान्य केवली हैं; उन सबको प्रणाम करके अनंत सिद्धों को नमन करता हूँ। महान आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की विनय करता हूँ; उन्हें नमस्कार करता हूँ।

तीन काल के जिनवरा, तीन काल के सिद्ध।
तीन काल के मुनिवरा, बंदूं लोक प्रसिद्ध।।35।।

अर्थ :– मैं तीन काल के सभी जिनेन्द्रों की, तीन काल के सभी सिद्धों की और लोक में प्रसिद्ध तीन काल के सभी मुनिराज की वंदना करता हूँ।

पंच परमपद–पद प्रणमि, बंदों केवलवानि।
बंदों तत्त्वारथ महा, जैन धर्म गुणखानि।।36।।

अर्थ :– मैं पाँच परमेष्ठियों को प्रणाम करके, केवली कथित वाणी अर्थात् जिनवाणी को नमस्कार करता हूँ। महान तत्त्वार्थ की वंदना करता हूँ तथा गुणों की खान–स्वरूप जैनधर्म की वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ।

सिद्धचक्रकूं बंदिकै, सिद्धजंत्रकूं बंदि।
नमि सिद्धान्त–निबंधकों, समयसार अभिनंदि।।37।।

अर्थ :– सिद्ध चक्र अर्थात् समस्तों सिद्ध भगवन्तों की वंदना करके, सिद्ध यंत्र की वंदना करके,

समस्त सिद्धान्त ग्रन्थों को नमस्कार करता हूँ तथा समयसार परमागम का अभिनंदन करता हूँ अर्थात् समयसार परमागम को नमस्कार करता हूँ।

बंदि समाधि सुतंत्रकूं, नमि समभाव–सरूप।
नमोकारकूं करि प्रणति, भाषों व्रत्त अनूप।।38।।

अर्थ :– समाधितंत्र (समाधि–सल्लेखना) को वंदन करके, समताभाव को नमन करके, णमोकार मंत्र को प्रणाम करके, अब मैं अनुपम व्रतों का वर्णन करता हूँ।

चउ अनुयोगहिं बंदिकै, चउ सरणा ले सुद्ध।
चउ उत्तम मंगल प्रणमि, कहूं क्रिया अविरुद्ध।।39।।

अर्थ :– चार अनुयोगों की वंदना करके, चार की शरण लेकर अर्थात् अरहंत, सिद्ध, साधु एवं धर्म की शरण लेकर, चारों मंगल को प्रणाम करके अविरुद्ध क्रियाओं को कहता हूँ अर्थात् आगम के अनुसार कियाओं का वर्णन करता हूँ।

देव–धर्म–गुरु प्रणमि करि, स्यादवाद अवलोकि।
क्रियाकोष–भाषा कहूं, कुंदकुंद मुनि ढोकि।।40।।

अर्थ :– मैं देव–गुरु–धर्म को प्रणाम करके, स्याद्वाद का अवलोकन करके अर्थात् स्याद्वाद पूर्वक तथा कुन्दकुन्द मुनि को प्रणाम करके क्रियाकोष को देशभाषा में कहता हूँ।

अरचों चरचा जैन की, चरचों चरचा जैन।
क्रोध लोभ छल मोह मद, त्यागि गहूँ गुनगैन।।41।।

अर्थ :– मैं जैन चर्चा (जिनवाणी) को पूजता हूँ, जैन चर्चा (तत्त्वचर्चा) की अर्चना करता हूँ तथा क्रोध, लोभ, छल, मोह, मद को त्याग कर, गुणकारी जिनवचनों को धारण करता हूँ।

कर्तृम और अकर्तृमा, जिनप्रतिमा जिनगेह।
तिन सबकूं परणाम करि, धारूँ धर्मसनेह।।42।।

अर्थ :– कृत्रिम और अकृत्रिम जिनप्रतिमाओं को, जिनगृह अर्थात् जिनचैत्यालयों को प्रणाम करके स्नेह पूर्वक जिनधर्म को धारण करता हूँ।

गाऊँ चउविधि दान शुभ, गाऊँ दसधा धर्म।
गाऊँ षोडस भावना, नमि रतनत्रय पर्म।।43।।

अर्थ :– मैं रत्नत्रय धर्म को नमस्कार करके, चार प्रकार के शुभ दान, दस प्रकार के धर्म एवं सोलहकारण भावना को कहता हूँ।

स्तवऊं सर्व यतीसुरा, विनऊं आर्या सर्व।
सब श्रावक अर श्राविका, नमन करो तजि गर्व।।44।।

अर्थ :– मैं गर्व का त्याग करके सभी यतीश्वरों का स्तवन करता हुआ, सर्व आर्यिकाओं की विनय करता हूँ। श्रावक और श्राविकाएँ भी यतीश्वरों का स्तवन करें एवं आर्यिकाओं की विनय करें।

करों बीनती मन धरें, समदृष्टिनसों एह।
अपनों सौ धीरज मुझे, देहु, धर्म में लेह।।45।।

अर्थ :– मैं सम्यग्दृष्टियों को मन में धारण करके उनसे यही विनती करता हूँ कि मुझे अपने समान धैर्य प्रदान करें और धर्म में लगायें।

लोकशिखर पर थान जो, मुक्तिक्षेत्र सुखधाम।
जहाँ सिद्ध शुद्धातमा, तिष्ठें केवलराम।।46।।

नमों नमों ता क्षेत्र कों, जहाँ न कोइ उपाधि।
आधि व्याधि असमाधि नहिं, बरतै परम समाधि।।47।।

अर्थ :– लोक के शिखर पर जो सुख का धाम मुक्ति क्षेत्र है, जहाँ शुद्धात्मा सिद्ध प्रभु सुखास्वादन करते हुए शाश्वत निवास करते हैं। जहाँ न कोई उपाधि है, न आधि है, न व्याधि है और न असमाधि है। जहाँ तो मात्र उत्कृष्ट समाधि रूप अवस्था है। मैं उस क्षेत्र को अर्थात् लोक के अग्रभाग में स्थित सिद्धक्षेत्र को नमस्कार करता हूँ।

प्रणमि ज्ञान कैवल्य कों, केवलदर्शन ध्याय।
यथाख्यात चारित्र कूं, बंदों सीस नमाय।।48।।

अर्थ :– मैं कैवल्य ज्ञान को प्रणाम करके, केवलदर्शन को ध्या करके, यथाख्यात चारित्र को शीश नवा कर वंदन करता हूँ।

प्रणमि सयोग सथानकों, नमि अजोग गुणथान।
क्षायक सम्यक बंदिकै, वरणों व्रत्त–विधान।।49।।

अर्थ :– मैं सयोग स्थान को प्रणाम करके अर्थात् अरहन्त परमात्मा को प्रणाम करके, अयोग गुणस्थान को अर्थात् अयोग केवली सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करता हूँ। क्षायिक सम्यक्त्व की वंदना करके मैं व्रतों का विधान अर्थात् वर्णन करता हूँ।

बंदों चउ आराधना, बंदों उपशम भाव।
जाकरि क्षायकभाव ह्वै, होय जीव जिनराव।।50।।

अर्थ :– मैं चारों आराधनाओं की वंदना करता हूँ, उपशम भाव की वंदना करता हूँ, जिससे क्षायिक भाव प्राप्त करके जीव जिनराज हो जाता है।

मूलोत्तर गुण साधु के, हवै जिन करि जन सिद्ध।
तिनकूं बंदि कहूं क्रिया, त्रेपन परम प्रसिद्ध।।51।।

अर्थ :– जिन्हें धारण कर यह जीव सिद्ध दशा को प्राप्त होता है, ऐसे साधु के मूल और उत्तर गुणों की वंदना करके मैं अत्यन्त प्रसिद्ध तिरेपन (53) क्रियाओं का वर्णन करता हूँ।

जहाँ मुनी निज ध्यान करि, पावें केवलज्ञान।
बंदों ठौर प्रशस्त जो, तीरथ महा निधान।।52।।

अर्थ :– जहाँ मुनिराज आत्मध्यान कर, तपस्या कर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं; मैं उन प्रशस्त स्थानों की, महा निधान रूप तीर्थों की वंदना करता हूँ।

जा थानक सों केवली, पहुंचे पुर निर्वाण।
बंदों धाम पुनीत जो, जा सम थान न आन।।53।।

अर्थ :– जिस स्थान से केवली भगवान निर्वाण अवस्था को प्राप्त हुए, जिसके समान अन्य कोई स्थान नहीं है, मैं उन परम पवित्र स्थानों की वंदना करता हूँ।

तीर्थंकर भगवान के, बंदों पंच कल्याण।
और केवली कों नमों, केवल अर निर्वाण।।54।।

अर्थ :– मैं तीर्थंकर भगवान के पाँच कल्याणकों की वंदना करता हूँ तथा सामान्य केवलियों के केवलज्ञान कल्याणक और निर्वाण कल्याणक की वंदना करता हूँ।

नमों उभै विधि धर्म कों, मुनि–श्रावक निरधार।
धर्म मुनिन को मोक्ष दे, काटै कर्म अपार।।55।।

अर्थ :– मैं श्रावक धर्म और मुनि धर्म रूप दोनों प्रकार के धर्मों को नमन करता हूँ। यह मुनिधर्म कर्मों को नष्ट करके मोक्ष प्रदान करता है।

तातें मुनि–मत अति प्रबल, बार–बार थुति योग।
धन्य धन्य मुनिराज ते, तजें समस्त अजोग।।56।।

अर्थ :– इसीलिए मुनि–मार्ग अत्यन्त प्रबल है, बारम्बार स्तुति करने योग्य है। वे मुनिराज धन्य–धन्य हैं, जिन्होंने समस्त अयोग्य कार्यों का त्याग कर दिया है।

पर परणति जे परिहरें, रमें ध्यान में धीर।
ते हमकूं निज दास करि, हरौ महा भव–पीर।।57।।

अर्थ :– जो धीर पर–परिणति का परिहार करते हैं तथा ध्यान में लीन रहते हैं, वे हमें अपना दासत्व प्रदान करें अर्थात् हमें अपनी शरण में ले और हमारी भव की पीड़ा दूर करें।

मुनि की क्रिया विलोकिकै, हमपै बरनि न जाय।
लौकिक क्रिया गृहस्थ की, बरनूं मुनि–गुण ध्याय।।58।।

अर्थ :– मुनिराज की क्रिया देखकर, हमसे उसका वर्णन नहीं हो सकता। हम तो मुनिराजों के गुणों को ध्याकर, गृहस्थ की लौकिक क्रियाओं का वर्णन करते हैं।

यतिव्रत ज्ञान बिना नहीं, श्रावक ज्ञान बिना न।
बुद्धिवंत नर ज्ञान बिन, खोवें बादि दिना न।।59।।

अर्थ :– यति–व्रत ज्ञान के बिना नहीं हो सकते और श्रावक व्रत भी ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। बुद्धिमान लोग यथार्थ ज्ञान के बिना व्यर्थ ही दिन खो रहे हैं।

मोक्षमारगी मुनिवरा, जिनकी सेव करेय।
सो श्रावक धनि धन्य है, जिनमारग चित देय।।60।।

अर्थ :– जो श्रावक मोक्षमार्गी मुनिराज की सेवा करते हैं। वे श्रावक धन्य हैं, जो जिनमार्ग में मन से लगा हुए हैं।

जिनमंदिर जो शुभ रचै, अरचै जिनवर देव।
जिनपूजा नितप्रति करै, धरै साधु की सेव।।61।।

करै प्रतिष्ठा परम जो, जात्रा करै सुजान।
जिन सासन के ग्रंथ शुभ, लिखवावै मतिवान।।62।।

चउ विधि संघतणी सदा, सेवा धारै वीर।
पर उपगारी सर्व की, पीड़ा हरै जु वीर।।63।।

अपनी शक्ति प्रमाण जो, धारै तप अर दान।
जीव मात्र को मित्र जो, शीलवंत गुण धाम।।64।।

अर्थ :– जो जीव जिनमंदिर का निर्माण करवाता है, जिनेन्द्र भगवान की अर्चना करता है, नित्य जिनपूजा करता है और साधु की सेवा करता है। जो प्रतिष्ठा कराता है, यात्रा करता है, जिनशासन के

ग्रंथ लिखवाता है, चतुर्विध संघ की सेवा करता है, दूसरों का उपकार करके अन्य की पीड़ा का नाश करता है, अपनी शक्तिप्रमाण दान देता है, तप करता है तथा जीव-मात्र को अपना मित्र मानता है; वह शीलवंत है और गुणों का धाम है।

भाव शुद्ध जाके सदा, नहिं प्रपंच को लेश।
परधन पाहन सम गिनै, तृष्णा तजी बिसेस।।65।।

तातें गृहपति हू प्रबल, ताकी क्रिया अनेक।
जिनमें त्रेपन मुख्य हैं, तिनमें मुख्य विवेक।।66।।

अर्थ :- जिसके भाव शुद्ध हैं, जिसके प्रपंच का लेश भी नहीं है, जो दूसरे के धन को पत्थर के समान अग्राह्य जानता है तथा जिसने तृष्णा को विशेष रूप से त्याग दिया है; वह गृहस्थ महान है। उस गृहस्थ की अनेक क्रियायें हैं, उनमें तिरेपन क्रियायें मुख्य हैं। उनमें भी विवेक अर्थात् हेय-उपादेय के निर्णय रूप ज्ञान मुख्य है।

नमस्कार गुरुदेव कों, जे सब रीति कहेय।
जिनवानी हिरदै धरी, ज्ञानवंत व्रत लेय।।67।।

अर्थ :- मैं मोक्षमार्गी गुरुओं को प्रणाम करता हूँ, जो सब रीतियों (क्रियाओं) के कथन करने वाले हैं। ज्ञानवान पुरुष जिनवाणी को हृदय में धारण करके व्रत धारण करते हैं।

क्रियाकांड को करि प्रणति, भाषों किरियाकोष।
जिनसासन अनुसार शुभ, दयारूप निरदोष।।68।।

अर्थ :- क्रियाकांड को प्रणाम करके, मैं जिनशासन के अनुसार शुभ, दयारूप तथा निर्दोष क्रियाकोश को कहता हूँ अर्थात् क्रियाकोश की रचना करता हूँ।

प्रथमहिं त्रेपन जे क्रिया, तिनके वरनों नाम।
ज्ञान-विराग-सरूप जे, भविजनकूं विश्राम।।69।।

अर्थ :- सर्वप्रथम जो तिरेपन क्रियायें हैं, मैं उनके नाम कहता हूँ। ये क्रियायें ज्ञान-वैराग्य स्वरूप हैं तथा भव्य जनों के लिए विश्रामरूप अर्थात् शान्तिप्रदायक हैं।

।। अथ त्रेपन क्रिया वर्णन ।।

गाथा

गुण–वय–तव–सम–पडिमा, दाणं जलगालणं च अणत्थमियं।
दंसणणाणचरित्तं, किरिया तेवण्ण सावया भणिया।।1।।

अर्थ :– गुण (आठ मूलगुण), व्रत (5 अणुव्रत, 3 गुणव्रत, 4 शिक्षाव्रत – ये 12 व्रत), तप (6 अन्तरंग–6 बहिरंग), समताभाव, प्रतिमा (श्रावक की), दान (4 दान), जलगालन, रात्रिभोजन त्याग, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – ये श्रावक की त्रेपन (53) कियाएँ कही गई हैं।

चौपई

गुण कहिए अठमूल जु गुणा, वय कहिए व्रत द्वादश गुणा।
तव कहिए तप बारह भेद, सम कहिए समदृष्टि अभेद।।70।।

पड़िमा नाम प्रतिज्ञा सही, जे एकादस भेद जु लही।
दाणं कहिए दान जु चार, अर जलगालण रीति विचार।।71।।

अर्थ :– उक्त गाथा का अर्थ बताते हुए इस चौपई में कवि कहते हैं कि 'गुण' अर्थात् आठ मूलगुण, 'वय' अर्थात् बारह व्रत, 'तव' अर्थात् बारह भेद रूप तप, 'सम' अर्थात् राग–द्वेष से रहित सम्यग्दृष्टि। 'पडिमा' अर्थात् प्रतिज्ञा।

प्रतिज्ञा पूर्वक व्रत पालन करना प्रतिमा है। उसके ग्यारह भेद हैं। 'दाणं' अर्थात् चार प्रकार का दान और 'जलगालण' अर्थात् पानी को छानने की रीति/विधि अर्थात् विवेक पूर्वक पानी छानना। इस प्रकार ये 49 क्रियाएँ हैं।

निसिकों खानपान नहिं भला, अन्न औषधि दूध न जला।
रात्रि विषैं कछु लेवौ नाहिं, अति हिंसा निसिभोजन माहिं।।72।।

अर्थ :– रात्रि में कुछ भी खाना–पीना हितकारी नहीं है। चाहे वह अन्न हो, दूध हो, औषधि हो या जल हो। रात्रि में कुछ भी ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि इससे अत्यधिक हिंसा होती है।

कह्यौ 'अणत्थमिय' शब्द जु अर्थ, निशिभोजन सम नाहिं अनर्थ।
'दंसण णाण चरित्त' जु तीन, ए त्रेपन किरिया गिणि लीन।।73।।

अर्थ :– गाथा में जो 'अणत्थमिय' शब्द आया है, उसका अर्थ यह है कि रात्रिभोजन के समान कोई अनर्थ नहीं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – इन्हें मिलाकर त्रेपन क्रिया होती हैं।

।। अथ अष्ट मूलगुण कथन ।।

प्रथमहिं आठ मूलगुण कहों, गुण-परसाद विषाद न गहों।
मद्य मांस मधु मोटे पाप, इन करि पावै अतुलित ताप।।74।।

अर्थ :- सर्वप्रथम आठ मूलगुणों को कहते हैं, जिनको धारण करने से विषाद/खेद नहीं होता है। मद्य, मांस और मधु का सेवन करना बहुत बड़ा पाप है। इनके सेवन से जीव को अतुलित संताप भोगना पड़ता है।

वर पीपर पाकर नहिं लीन, ऊमर और कठूमर हीन।
तीन पाँच ए आठों वस्तु, इनको त्याग सकल परशस्त।।75।।

अर्थ :- बड़, पीपर, पाकर, ऊमर और कठूमर - इन फलों का ग्रहण अर्थात् सेवन नहीं करना चाहिए। मद्य, मांस, मधु और ये पाँच फल मिलाकर आठ अभक्ष्य होते हैं। इन आठों का त्याग करना शुभ है।

मन-वच-काय तजौ नर नारि, कृत-कारित-अनुमोद विचारि।
जिनमें इनको दोष जु लगै, तिन वस्तुनि तें बुधजन भगें।।76।।

अर्थ :- सभी श्रावक-श्राविकाओं को विचार पूर्वक मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से इन आठ अभक्ष्यों का त्याग करना चाहिए। जिन वस्तुओं में मांसादि के भक्षण का दोष लगता है, बुद्धिमान लोग उनका भी त्याग करते हैं।

अमल जाति सबही नहिं भक्ष, लगै मद्य को दोष प्रत्यक्ष।
रस चलितादिक सड़िय जु वस्तु, ते सब मदिरा तुल्यउ वस्तु।।77।।

अर्थ :- सर्व प्रकार के अमल (नशा उत्पन्न करने वाले पदार्थ) अभक्ष्य हैं; क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष ही मद्य-सेवन का दोष लगता है। जिन वस्तुओं का स्वाद बिगड़ चुका (चलित रस) है, जो सड़ी हुई वस्तुएँ हैं - वे सब मदिरा अर्थात् शराब के समान हैं।

तात्पर्य यह है कि जिन वस्तुओं का स्वाद बदल गया है, उनका सेवन नहीं करना चाहिए; क्योंकि इससे मद्य-सेवन का दोष लगता है।

जा खाये मन ठीक न रहै, सो सब मदिरा दूषण लहै।
अर्क अनेक भाँति के जेह, खइवे में आवत हैं तेह।।78।।

आली वस्तु रहै दिन घना, तामें दोष लगै मदतना।
अब सुनि आमिष दोष जु भया, चर्मादिक घृत तेल न लया।।79।।

हींग कदापि न खावन बुधा, बींधौ सीधौ भखिवौ मुधा।
चून चालियौ चलनी चाम, नीच जाति–पीस्यौ हु न काम।।80।

अर्थ :– जिसको खाने से मन ठीक नहीं रहता अर्थात् चंचल/आकुलित होता है; उसके सेवन से भी मद्य–सेवन का दोष लगता है। अनेक प्रकार के जो अर्क (जो वस्तु बहुत दिनों तक गीली रहती है) होते हैं, उनके खाने में भी मदिरा–सेवन का दोष होता है।

अब मांस के दोषों को कहते हैं। चमड़े में रखा हुआ घी, तेल, हींग आदि का सेवन बुद्धिमानों को नहीं करना चाहिए।

बींधा हुआ तथा सीजा हुआ (अंकुरित) अनाज भी नहीं खाना चाहिए। चमड़े की चलनी से चाला/छाना हुआ आटा और नीच जाति के यहाँ पिसा हुआ आटा काम में नहीं लेना चाहिए।

फूली आयौ धान अखान, फूल्यौ साग तजौ मतिमान।
कंद अथाणा माखन त्याग, हाट–मिठाई तज बड़भाग।।81।।

अर्थ :– बुद्धिमानों को फफूँद वाले धान्य (अनाज) नहीं खाना चाहिए, फफूँद वाली सब्जी भी नहीं खानी चाहिए। कंदमूल, अचार (अथाणा), मक्खन का त्याग तथा बाजार की मिठाई आदि वस्तुओं को नहीं खाना चाहिए। इनका त्याग करना चाहिए।

निसि–भोजन अणछाण्यूं नीर, आमिष तुल्य गिनें वरवीर।
निसि पीस्यौ निसि रांध्यौ होय, हाड़–चाम को परस्यौ जोय।।82।।

मांस अहारी के घर तनों, सो सब मांस समानहिं गिनों।
विकलत्रय अर तिर नर जेह, तिनको मांस रुधिरमय जेह।।83।।

अर्थ :– बुद्धिमान लोग रात्रिभोजन एवं बिना छने पानी को मांस के तुल्य मानते हैं। रात्रि में पीसा हुआ और रात्रि में पका कर तैयार किया हुआ, हाड़ (हड्डी)–चमड़े से छुआ हुआ (स्पर्शित), मांसाहारी के घर का भोजन – यह सब मांस के समान कहा है।

विकलत्रय (दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय), तिर्यंच और मनुष्यों का शरीर मांस तथा खून आदि से सहित होता है; अतः साक्षात् मांस ही है।

तजौ सबै आमिष अघखानि, या सम पाप न और प्रमानि।
त्यागौ सहत जु मदिरा समा, मधु दोउको नाम निरभृमा।।84।।

अर्थ :– पाप की खान स्वरूप सब प्रकार का मांस–भक्षण छोड़ो। मांस–सेवन के समान और कोई

पाप नहीं है। मदिरा के समान शहद का त्याग भी करो, जो कि मद्य/शराब के समान ही अभक्ष्य है। मदिरा और मधु दोनों ही संसार में निरर्थक भ्रमण कराने वाले हैं।

अर जिन वस्तुनि में मधुदोष, सो सब तजहु पापगण-पोष।
काकिब और मुरब्बा आदि, इनहिं खाहिं तिनको व्रत वादि।।85।।

अर्थ :- जिन वस्तुओं में शहद सेवन का दोष लगता हो, उनका भी त्याग करें; क्योंकि उनका सेवन पापसमूह को बढ़ानेवाला है। काकिब और मुरब्बा आदि खाने से व्रत नष्ट होते हैं।

मधु मदिरा पल जे नर गहें, ते शुभ गतितें दूरहिं रहें।
नर्क-निगोद माहिं दुख सहें, अतुल अपार त्रासना लहें।।86।।

अर्थ :- जो मनुष्य मद्य, मांस, मधु का सेवन करते हैं; वे शुभ गति से दूर रहते हैं एवं नरक-निगोद आदि दुर्गतियों के असह्य, अकथनीय दुखों को भोगते हैं।

तातें तीन मकार धिकार, मद्य मांस मधु पाप अपार।
ये तीनों औ पंच कुफला, तीन पाँच ए आठों मला।।87।।

अर्थ :- इसलिए तीन मकार को धिक्कार है। मद्य, मांस, मधु अपार पाप देने वाले हैं। ये तीन मकार और पाँच कुफल - सब मिलाकर ये आठ मल रूप हैं अर्थात् अभक्ष्य हैं।

इन आठों में अगणित त्रसा, उपजें मरण करें परवसा।
जीव अनंता बहुत निगोद, तातें कृत-कारित-अनुमोद।।88।।

अर्थ :- इन आठों में असंख्यात त्रस जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। इनमें अनन्त निगोदिया जीव हैं, इसलिए कृत-कारित-अनुमोदना से इनका त्याग करना चाहिए। इनका त्याग करने से पाप के प्रतिकूल अर्थात् पुण्य स्वरूप आठ मूलगुण होते हैं। तीन मकार और पाँच उदुम्बर फल के सेवन के समान और कोई पाप नहीं है।

इनको त्याग किये वसु मूल, गुणा होहिं अघतें प्रतिकूल।
पाँच उदम्बर तीन मकार, इनसे पाप न और प्रकार।।89।।

अर्थ :- इन आठों में असंख्यात त्रस जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं और इनमें अनन्त निगोदिया जीव हैं; इसलिए कृत-कारित-अनुमोदना से इनका त्याग करें। इनका त्याग करने से पाप के प्रतिकूल अर्थात् पुण्य स्वरूप आठ मूलगुण होते हैं। तीन मकार और पाँच उदुम्बर फल सेवन के समान कोई पाप नहीं है।

बार-बार इनको धिक्कार, जो त्यागै सो धन्य विचार।
इन आठनि सें चौदा और, भखै सु पावै अति दुख ठौर।।90।।

अर्थ :- इन आठों के सेवन करने वालों को बारम्बार धिक्कार हो। जो इनका त्याग करते हैं, वे धन्य हैं। इन आठों में चौदह और मिलाने से बाईस अभक्ष्य कहे गए हैं। अभक्ष्य भक्षण करने से अत्यन्त दुख के स्थानभूत नरकादि गतियों की प्राप्ति होती है।

बहुत अभक्षन में बाईस, मुख्य कहे त्यागें व्रत ईस।
ओला नाम बड़ा जु बखानि, जीव-रासि भरिया दुखखानि।।91।

अर्थ :- बहुत अभक्ष्यों में बाईस अभक्ष्य मुख्य कहे हैं। व्रती इनका त्याग करते हैं। दुख की खान स्वरूप, जीव राशि से भरपूर ओला अभक्ष्य माना गया है।

अणछणयां जल के बंधाण, दोष करै जैसे संघाण।
भखै पाप लागे अधिकाय, तातें त्याग करौ सुखदाय।।92।।

अर्थ :- अनछने पानी के बंधन से बर्फ बनता है, जो संघाण के समान पापरूप है। इनका भक्षण करने से बहुत पाप बंध होता है, इसलिए इनका त्याग करें जो सुखरूप है।

घोल बड़ा में दूषण बड़ा, खाहिं तिके जाणे अति जड़ा।
दही मही में बिदल जु वस्तु, खाये सुकृत जाय समस्त।।93।।

अर्थ :- घोलबड़ा में बहुत बड़ा दूषण है। जो इसको खाते हैं, वे अत्यन्त मूर्ख हैं। कच्चे दूध से जमाए हुए दही और छाछ में जो द्विदल (दो फाड़ वाली) वस्तु खाते हैं, उनके समस्त सुकृत नष्ट हो जाते हैं।

तुरत पंचेन्द्री उपजे तहां, बिदल दही मुख में ले जहां।
अन्न मसूर मूंग चणकादि, मोठ उड़द मट्टर तूरादि।।94।।
अर मेवो पिस्ता जुं बदाम, काजू चारौली अति नाम।
जिन वस्तुनि की ह्वै द्वै दाल, सो सो सब दधि भेला टालि।।95।।

अर्थ :- द्विदल मिश्रित दही को मुँह में रखने से पंचेन्द्रिय जीव की उत्पत्ति होती है। मसूर, मूँग, चना, मोठ, उड़द, मटर, तूअर आदि अन्न और पिस्ता, बादाम, काजू, चारोली आदि मेवा, जिन-जिन वस्तुओं की दो दाल होती हैं, उन-उन वस्तुओं को दही के साथ मिलाकर न खावें।

जानि निशाचर जे निशि चरें, निशिभोजन करि भवदुख करें।
ताते निशि-भोजन तजि भया, जो चाहें जिनमारग लया।।96।।

अर्थ :– जो रात्रिभोजन करते हैं, उन्हें निशाचर जानो। रात्रिभोजन से संसार के दुखों को पाते हैं। जो जिनमार्ग को ग्रहण करते हैं, वे रात्रिभोजन नहीं करते हैं।

दोय मुहूरत दिन जब रहै, तबतें चउबिहार बुध गहै।
जौलौं जुगल मुहूरत दिना, चढ़ि है तौलौं अनसन गिना।।97।।

अर्थ :– सूर्यास्त होने में जब दो मुहूर्त शेष रहते हैं, तब से सूर्योदय के दो मुहूर्त बाद तक चारों प्रकार के आहार–जल का त्याग करते हैं। इतने समय का अनशन कहा है।

रात–बसौं अर रातहिं कियौ, रात–पिस्यौ कबहूँ नहिं लियौ।
जहाँ होय अंधेरो वीर, तहाँ दिवस हू असन न वीर।।98।।

अर्थ :– रात्रि में शोधन किया हुआ, रात्रि में बनाया हुआ और रात्रि में पीसा हुआ उपयोग में नहीं लेना चाहिए। हे वीर! जहाँ दिन में भी अँधेरा हो, वहाँ भोजन न करें।

दृष्टि देखि भोजन करि शुद्ध, दृष्टि देखि पग धरहु प्रबुद्ध।
बहुबीजा जामें कण धणा, ते फल कुफल जिनेसुर भणा।।99।।

अर्थ :– ज्ञानी आँखों से देखकर शुद्ध भोजन करें एवं आगे देखकर गमन करें। बहुबीजा – जिनमें बहुत कण होते हैं, उन फलों को जिनेन्द्र देव ने कुफल कहा है।

प्रकट तिजारा आदिक जेह, बहुबीजा त्यागौ सब तेह।
बेंगण जाति सकल अघ–खानि, त्याग करौ जिन–आज्ञा मानि।।100।।

अर्थ :– तिजारा आदि प्रत्यक्ष बहुबीजा को छोड़ें। जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मानकर पाप की खानरूप समस्त बैंगन जाति छोड़ें।

संधाणा दोषीक विसेस, सो भव्या छांड़ौ जु असेस।
ताके भेद सुनो मन लाय, सुनि यामें उपजें अधिकाय।।101।।

अर्थ :– संघाणा में ज्यादा दोष लगता है। भव्य जीव इनको छोड़ें। मन लगाकर उनके भेद सुनो। इनमें अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती है।

अत्थाणा संधाणा मथाण, तीन जाति इनकी जु बखानि।
राई लूणी कलंजी आदि, अंबादिक में डारहिं वादि।।102।।

नाखि तेल में करहिं अथाण, या सम दोष न सूत्र प्रमाण।
त्रस जीवा तामें उपजन्त, मखियां आमिष दोष लहन्त।।103।।

अर्थ :– अत्थाणा, संधाणा, मत्थाण – ऐसे तीन भेद कहे हैं। कच्ची कैरी (आम) में राई, नमक, कलंजी, तैल आदि डालकर अत्थाण बनता है। आगम में इनको महान अभक्ष्य बताया है; क्योंकि त्रस जीवों की उत्पत्ति होने से मांस का दोष लगता है।

नींबू आम्रादिक जे फला, लूण माहिं डारै नहिं भला।
याको नाम होय संधाण, त्यागें पण्डित पुरुष सुजाण।।104।।

अर्थ :– नींबू–आम आदि फलों को नमक में डालना अच्छा नहीं है। इनको संधाण कहते हैं। पंडित पुरुष इनका त्याग करते हैं।

अथवा चलित रसा सब वस्त, संधाणा जाणों अप्रशस्त।
बहुरि जलेबी आदिक जोय, डोहा राव मथाणा होय।।105।।

अर्थ :– अथवा जो वस्तुएँ चलित–रस वाली हो गई हैं, वे संधाण के समान अभक्ष्य हैं। जलेबी आदि का डोहा (जिसमें आटा को तैयार करते) मथाणा के समान है।

लूण छांछि माहिं फल डारि, केर्यादिक जे खाहिं गंवारि।
तेहि विगारें जन्म स्वकीय, जैसें पापी मदिरा पीय।।106।।

अर्थ :– केर आदि फलों को नमक और छाछ में डालकर जो खाते हैं, वे भी मदिरा पीकर अपना जन्म गँवाने वालों की भाँति अपना जन्म व्यर्थ खोते हैं।

अब सुनि चून तनी मरजाद, भाषै श्री गुरुजी अविवाद।
शीतकाल में सातहिं दिना, ग्रीषम मे दिन पांचहिं गिना।।107।।

वरषा रितु माहीं दिन तीन, आगे संधाणा गण लीन।
मरजादा बीतें पकवान, सो नहीं भक्ष कहें भगवान।।108।।

अर्थ :– अब आटा की मर्यादा सुनो, जो श्री गुरु ने निर्विवाद कही है। शीतकाल में सात दिन, ग्रीष्म–काल में पाँच दिन, वर्षा ऋतु में तीन दिन। इस मर्यादा से परे आटा भी संधाणा की गिनती में है। मर्यादा बीत जाने पर पकवान भी अभक्ष्य है।

ताहि भखें जु असूत्री लोक, पावैं दुरगति में दुख शोक।
मर्यादा की विधि सुनि धीर, जो भाषी गौतम प्रति वीर।।109।।

अर्थ :– मर्यादा बीत जाने पर भी जो अभक्ष्य वस्तुओं का भक्षण करता है, वह दुर्गति में नाना दुख भोगता है। भगवान महावीर ने गौतम के प्रति भक्ष्य पदार्थों की मर्यादा का जो कथन किया, वह सुनो।

जामें अन्न जलादिक नाहिं, कछु सरदी जामांहिं नाहिं।
बूरा और बतासा आदि, बहुरि गिंदौडादिक जु अनादि।।110।।

ताकी मर्यादा दिन तीस, शीतकाल में भाषी ईश।
ग्रीष्म पंदरा वर्षा आठ, यह धारौ जिनवाणी पाठ।।111।।

अर्थ :– जिन वस्तुओं में अन्न और जल आदि नहीं है, किंचित् भी नमी नहीं है – ऐसे बूरा, बतासा, गिंदौड़ा आदि की मर्यादा शीतकाल में तीस दिन और ग्रीष्मकाल में पन्द्रह दिन एवं वर्षा ऋतु में आठ दिन कही गई है।

अर जो अन्नतणों पकवान, जलको लेश जु याहै जान।
आठ पहर मरजादा तास, भाषें श्री गुरु धर्म प्रकाश।।112।।

अर्थ :– धर्म का प्रवर्तन करने वाले गुरुदेव ने जिनमें जल का कुछ अंश है, ऐसे अनाज के बने हुए पकवान की मर्यादा आठ पहर (24 घंटे) की कही है।

जल–वर्जित जो चूनहिं तनीं, घृत मीठी मिलिकै जो बनीं।
ताकी चून समानहिं जानि, मरजादा जिन–आज्ञा मानि।।113।।

अर्थ :– जल के बिना आटा को घी–शक्कर में मिलाकर जो बनाया गया है, उसकी मर्यादा आटा के समान माननी चाहिए। ऐसी जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है।

भुजिया बड़ा, कचौरी पुवा, मालपुवा घृत तेलहि हुआ।
इत्यादिक है अवरहु जेह, लुचई सीरा पूरी एह।।114।।

ते सब गिनौ रसोई समा, यह उपदेश कहे पति रमा।
दारि भात कड़ही तरकारि, खिचड़ी आदि समस्त विचारी।।115।।

दोय पहर इनकी मरजाद, आगे श्री गुरु कहें अखाद।
केई नर संधारक त्यागि, ल्यूंजी खाँय सवादहिं लागि।।116।।

अर्थ :– मोक्ष–लक्ष्मी के स्वामी भगवान ने कहा है कि घृत या तैल में बनाये हुए भुजिया, बड़ा, कचौड़ी, पुवा, मालपुवा आदि एवं लुचई, शीरा, पूड़ी आदि सब वस्तुओं को रसोई के समान मानना चाहिए। दाल, भात, कढ़ी, सब्जी, खिचड़ी आदि उपर्युक्त सभी की मर्यादा दो पहर (छह घंटे) की होती है। मर्यादा के बाहर खाने के लिए गुरु ने निषेध किया है। कोई–कोई मनुष्य संधानक का त्याग करके भी स्वाद के लिए लूँजी आदि का सेवन करते हैं।

केरी नीबू आदि उकालि, नाना विधि सामग्री घालि।
सरस्यूं केरी तेल तपाय, तामें तलें सकल समुदाय।।117।।

अर्थ :– कच्ची कैरी, नींबू आदि को उबाल कर, उनमें नाना प्रकार के मसाले आदि डालकर सरसों आदि के तेल में सब मिली हुई वस्तुओं को पकाते हैं।

जिह्वालंपट बहु दिन राख, खांय तिन्हें मतिमंद जु भाख।
तरकारी–सम ल्यूंजी एह, आगे संधाणा समुझेह।।118।।

अर्थ :– जिह्वा इन्द्रिय के लंपटी पुरुष इनका बहुत दिन तक सेवन करते हैं। इनको खाने से बुद्धि भी मंद होती है। सब्जी के समान ल्यूंजी की मर्यादा समझनी चाहिए (छह घंटे की)। छह घंटे के आगे उसको संधानक समझना चाहिए।

अणजाण्यू फल त्यागहु मित्र, अणछाण्यो जल ज्यों अपवित्र।
त्यागौ कंद–मूल बुधिवंत, कंद–मूल में जीव अनंत।।119।।

अर्थ :– हे मित्र! अनजान फल का भी त्याग करो। उसे बिना छने जल की तरह माना गया है। कंद–मूल में अनन्त जीव होने से कंद–मूल का भी बुद्धिमानों को त्याग करना चाहिए।

गारि न कबहुँ भखहु गुणवन्त, गारी कबहु न काढउ संत।
डरी गारि में जीव असंख, निन्दैं साधु अशंक, अकंख।।120।।

अर्थ :– गली हुई वस्तु का कभी भक्षण नहीं करना चाहिए और न कभी गाली निकालनी चाहिए। चाहिए। गलित वस्तु की एक डली में असंख्यात जीव होते हैं। लौकिक कामना से रहित निःशंक साधु इसकी निन्दा करते हैं।

जा खाये छूटें निज प्राण, सो विषजाति अभक्ष प्रवान।
आफू और महोरा आदि, तजौ सकल मुनि सूत्र अनादि।।121।।

अर्थ :– जिनके खाने से स्वयं के प्राणों का घात होता है, उन्हें विष जाति का अभक्ष्य कहा है। ऐसे अफीम, शंखिया, महोरा आदि का त्याग करना चाहिए। ऐसा अनादिकाल से चले आ रहे सूत्रों के अनुसार इनका त्याग करो।

काचौ माखण अति हि सदोष, भखिया करै सबै शुभ सोख।
पहले आमिष दूषण माहिं, पुनि–पुनि निन्द्यौ संशय नाहिं।।122।।

अर्थ :– कच्चा मक्खन अत्यन्त दोषपूर्ण है। इसके भक्षण करने से सब प्रकार के सुख का

नाश होता है। कच्चे मक्खन का भक्षण करने से सर्व प्रथम मांस-भक्षण का दोष लगता है। बाद में वह पुन: पुन: निंदा का पात्र बनता है। इसमें कोई शंका नहीं है।

फल अति तुच्छ खाहु मति वीर, निन्दे महावीर जगधीर।
पालौ राति जमावै कोय, ताहि भखत दुरगति फल होय।।123।।

अर्थ :- हे भाई! अत्यन्त तुच्छ (छोटा) फल नहीं खाना चाहिए। भगवान महावीर ने इन्हें अभक्ष्य बताया है। जमे हुए पाले (बर्फ) के खाने से दुर्गति का फल प्राप्त होता है।

निज सवाद तजि ह्वै विपरीत, सो रस-चालित तज भवभीत।
आगें मदिरा दूषण महै, निंद्यौ ताहि सु बुध नहिं गहै।।124।।

अर्थ :- हे संसार-भीरु पुरुष! जो वस्तुएँ अपना स्वाद छोड़कर चलित-रस हो चुकी हैं अर्थात् विकारी हो चुकी हैं, उनका त्याग करना चाहिए; क्योंकि इनमें मदिरा-पान के समान दोष लगता है। बुद्धिमानों ने ऐसे पदार्थों की निंदा की है, वे कभी इनको ग्रहण नहीं करते हैं।

ए बाईस अभख तजि सखा, जो चाहौ अनुभव रस चखा।
अवर अनेक दोष के भरे, तजो अभख भव्यनि परिहरे।।125।।

अर्थ :- हे मित्र! यदि अपने स्वानुभव का रसास्वादन करना चाहते हो तो इन बाईस अभक्ष्यों का त्याग करो। भव्य जीवों को और भी अनेक दोषों से भरे हुए अभक्ष्यों का त्याग करना चाहिए।

फूल जाति सब ही दोषीक, जीव अनन्त फिरे तहकीक।
कबहुं न इनकों सपरस करौ, इह जिन आज्ञा हिरदै धरौ।।126।।

अर्थ :- सब तरह की पुष्प जाति दोषों की खान है; क्योंकि इनमें अनंत जीव रहते हैं। इनका स्पर्श मत करो। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को हृदय में धारण करना चाहिए।

खावौ और सूँघिवौ सदा, इनकूं तजहु न ढांकहु कदा।
शाक पत्र सब निंद बखानि, त्याग करौ जिन आज्ञा मानि।।127।।

अर्थ :- पुष्प जाति को खाना और सूँघना नहीं चाहिए एवं इनसे कोई वस्तु ढँकनी भी नहीं चाहिए। जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा मानकर पत्ते वाली सब्जियों का भी त्याग करना चाहिए।

नेम धर्म व्रत राख्यौ चहै, तौ इन सबकूं कबहुं न गहै।
झाड़ तनें बड़ वोरि जु तनें, तजौ वौर त्रस जीव जु घनें।।128।।

अर्थ :- यदि नियम, धर्म और व्रत का पालन करना चाहते हो तो उपर्युक्त वस्तुओं को कभी

ग्रहण नहीं करो। हे भाई! बहुत त्रस जीवों से युक्त झाड़ियों के बेर का भी त्याग करो।

पेठा और कोहला तजौ, तजि तरबूज जिनेसुर भजौ।
जांबू और करोंदा जेहु, दूध झरै त्यागौ सहु तेहु।।129।।

अर्थ :– पेठा, कद्दू, तरबूज आदि का त्याग करके जिनेन्द्र देव का स्मरण करना चाहिए। जामुन, करौंदा आदि जिन-जिन में दूध झरता हो, ऐसे सब फलों का त्याग करना चाहिए।

कन्द शाक दल फल जु त्यागि, साधारण फलतें दुर भागि।
जो प्रत्येक हु छांडै वीर, ता सम और न कोई धीर।।130।।

अर्थ :– कन्दमूल, शाखा, पत्ते, फल एवं फूल का भी त्याग करो एवं साधारण वनस्पतियों से तो दूर ही रहो। जो प्रत्येक वनस्पतियों को भी छोड़ देते हैं, उन-सा तो और कोई धीर पुरुष नहीं है।

जो प्रत्येक न त्यागे जाय, तौ परमाण करो सुखदाय।
तेहु अलप ही कबहुंक खाय नहिं तौंड़े न तुड़ावन जाय।।131।।

अर्थ :– यदि प्रत्येक वनस्पति का त्याग नहीं कर सकते हैं तो उनमें कुछ परिमाण कर लेना चाहिए। उन वनस्पतियों को भी अल्प मात्रा में कभी-कभी खावें। उन वनस्पतियों को स्वयं न तोड़ें और न दूसरों के द्वारा तुड़वावें।

ताजा ले बासी नहिं भखै, रस चलितादिक कबहुँ न चखै।
हरित कायसों त्यागै प्रीति, सो जानें जिन-मारग रीति।।132।।

अर्थ :– ताजी वनस्पतियों को ही उपयोग में लेवें, बासी या चलित-रस वाली को कभी ग्रहण न करें। हरितकाय का जो त्याग करते हैं, वे जिनमार्ग की रीति को जानते हैं।

जे अनन्तकाया दुखदाय, सब साधारण त्यागौ राय।
तजि केदार तूंबड़ी सदा, खाहु मनाली ढिस तुम कदा।।133।।

अर्थ :– हे भाई! जो अनन्तकाय साधारण वनस्पति हैं, उन सबका त्याग करना ही सुखदायक है। केदार, तूंबड़ी आदि के भक्षण का त्याग करो।

कचनारादिक डौंड़ी तजौ, तजि अण फोड्यो फल जिन भजौ।
पहली बिदलतनूं अति दोष, भख्यौ भेद सुनहु तजि रोष।।134।।

अर्थ :– कचनार आदि के डोंडे का सर्वथा त्याग करो। ताजे फल भी बिना फोड़े (टुकड़े किये) मत खाओ। पहले जो द्विदल बताये हैं, उनमें बहुत दोष है। अब उनके भेद सुनो –

।। अथ द्विदल वर्णन ।।

अन्न मसूर मूंग चणकादि, तिनकी दालि जु होय अनादि।
अर मेवा पिस्ता जु निदाम, चारौली आदिक अतिनाम।।135।।

जिन जिन वस्तुनि की है दालि, सो सो सब दधि भेला टालि।
अर जो दधि भेलो मिष्टान, तुरतहिं खावा सूत्र प्रमान।।136।।

अर्थ :– मसूर, मूँग, चने आदि अन्न की दो दालें होती हैं एवं पिस्ता, बादाम, चारोली आदि मेवा की भी दो फाड़ें होती हैं। जिन-जिन वस्तुओं की दो फाड़ें होती हैं, उन-उन वस्तुओं को दही के साथ मिलाकर नहीं खाना चाहिए। दही के साथ मिष्ठान्न मिलाकर उनको तुरन्त खा लेना चाहिए।

अन्तमुहूरत पीछें जीव, उपजें इह गावें जग-पीव।
तातें मीठा जुत जो दही, अन्तरमुहूरत पहले गही।।137।।

अर्थ :– मीठा मिला हुआ दही अन्तर्मुहूर्त के पहले-पहले ग्रहण कर लेना चाहिए; क्योंकि अन्तुर्महूर्त के बाद उसमें जीव उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा आचार्यों ने कहा है।

दधि-गुड़ खावौ कबहुं न जोग, वरजें श्री गुरु वस्तु अजोग।
पुनि तुम सुनहुं मित्र इक बात, राई लूण मिलें उतपात।।138।।

तातें दही मही में करै, तजौ रायता कांजी वरै।
घी ताजा गहिबौ भवि लोय, सूद्रनि को घृत जोगि न होय।।139।।

अर्थ :– दही-गुड़ मिलाकर कभी नहीं खाना चाहिए; क्योंकि इन दोनों को मिलाने से वह अभक्ष्य हो जाता है। हे मित्र! एक बात कहता हूँ, सुनो। दही और छाछ में राई और नमक आदि मिलाने से रायता बनता है। अभक्ष्य होने के कारण उसका भी त्याग करना चाहिए। हे भव्यजन! घी ताजा ही ग्रहण करना चाहिए। शूद्रों का घी कभी काम में नहीं लेना चाहिए।

स्वाद-चलित जो खावै घीव, सो कहिये अविवेकी जीव।
घिरत सोधिको लेवौ अल्प, भजिवौ जिनवर त्यागि विकल्प।।140।।

अर्थ :– जिसका स्वाद चलित हो गया है (बिगड़ गया है), ऐसे घी को जो खाते हैं, वे अविवेकी जीव हैं। घी शोध कर थोड़ा ही लेवें, फिर विकल्प छोड़कर जिनवर का भजन करें।

घृतहू छाड़ै तौ अति तपा, नीरस तप धरि श्रीजिन जपा।
सिंधव लोंन व्रतिनिको लेन, कृत्रिम लोंन सबै तजि देन।।141।।

अर्थ :– घृत (घी) मात्र का त्याग करना बहुत बड़ा तप बताया है। नीरस (छहों रस त्याग) तप को धारण करके जिनेन्द्र भगवान का स्मरण करना चाहिए। व्रतियों को सब प्रकार के कृत्रिम (बनावटी) नमक का त्याग करके, सैंधा नमक ग्रहण करना चाहिए।

जो सिंधवहू त्यागै भया, महा तपस्वी श्रुत में लया।
अब तुम गोरस की विधि सुनों, जिनवर की आज्ञा उर गुणों।।142।।

अर्थ :– जो सैंधा नमक का भी त्याग करते हैं, उनको आगम में महान तपस्वी कहा है। जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को हृदय में धारण करके अब गोरस की विधि कहता हूँ। सो सुनो।

।। अथ गोरस विधि ।।

दोहत जब महिषी अर गाय, तबतें इह मरजाद गहाय।
काचौ दूध न राखै सुधी, द्वै घटिका राखैं तो कुधी।।143।।

अर्थ :– जब भैंस और गाय को दोहते हैं, तब से उनके दूध की मर्यादा ग्रहण करनी चाहिए। बुद्धिमानों को कच्चा दूध कभी नहीं रखना चाहिए। दो घड़ी (48 मिनिट) के बाद भी कच्चा दूध रखने वाले अज्ञानी हैं।

काचौ दूध न लेवौ वीर, अणछाण्यूं पय तजिवो धीर।
अंतर एक मुहूरत बसा, उपजै जीव असंखित त्रसा।।144।।

अर्थ :– हे भाई! कच्चा दूध नहीं पीना चाहिए। अनछाना दूध भी नहीं पीना चाहिए। एक अन्तर्मुहूर्त के बाद उस कच्चे दूध में असंख्यात त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

जाको पय हवै तैसे जीव, प्रकटैं इह भावे जग–पीव।
पंचेन्द्री सम्मूर्छन प्राणि, भैया तू जिन–वचन प्रवाणि।।145।।

अर्थ :– हे भाई! जिनवचन अनुसार जिनका (गाय–भैंस आदि) दूध है, उसी जाति के पंचेन्द्रिय सम्मूर्छन जीव उस कच्चे दूध में उत्पन्न हो जाते हैं।

इह तो दूध तणी विधि कही, अब सुनो दही मही की सही।
जामण दीयौ ह्वै जिंह दिना, ताके दूजौ दिन शुभ गिना।।146।।

पीछे दधि खावौ नहिं जोगि, इह भाषें जिनराज अरोगि।
दधि को मथियौ पानी डारि, ताको नाम जु छांछि विचारि।।147।।

अर्थ :– इसप्रकार दूध की विधि कही है। अब दही और छाछ की विधि कहता हूँ। जिस दिन दूध में जामन दिया है, उससे दूसरे दिन तक दही खा सकते हैं। इससे आगे (तीसरे दिन) वही दही नहीं खाना चाहिए, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। दही में पानी डालकर मथने से वह छाछ कहलाती है।

ताही दिवस होय सो भक्ष, यह जिन आज्ञा है परतक्ष।
मथता ही जा माही तोय, बहुर्यो बारि न डार्यो होय।।148।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान की प्रत्यक्ष आज्ञा है कि छाछ उसी दिन पीने योग्य है। दही मथते (बिलोते) समय जो पानी डाला गया है, वही छाछ भक्ष्य है। उसके बाद में उसमें पानी नहीं डालना चाहिए।

मथिया पाछे काचौ वारि, नाख्यौ सो लेवौ जु विचारि।
जेतो काचा जल को काल, तेतौ ही ताको जु सँभाल।।149।।

अर्थ :– बिलौने के बाद यदि उसमें कच्चा जल मिलाते हैं तो जो कच्चे पानी की मर्यादा है, उतनी ही छाछ की मर्यादा है।

छणयूं जल सो काचौ रहै, एक मुहूरत जिनवर कहै।
आगें त्रसजीवा उपजंत, अणछणयां को दोष लगंत।।150।।

अर्थ :– जिनवर ने छने हुए कच्चे जल की मर्यादा एक मुहूर्त (48 मिनिट) कही है। एक मुहूर्त के बाद में त्रस जीवों की उत्पत्ति होने से उस जल में अनछने का दोष हो जाता है।

तिक्त कषाय मिल्यौ जो नीर, सो प्राशुक भाख्यौ जिन वीर।
दोय पहर पहिली ही गहौ, यह जिन आज्ञा हिरदै बहो।।151।।

अर्थ :– जल के अंदर तिक्त (चरपरा – लौंग–कालीमिर्च आदि) और कषायला पदार्थ डालने से वह जल प्रासुक हो जाता है। ऐसा वीर भगवान ने कहा है। यह प्रासुक जल भी दो पहर (6 घंटे) तक ही काम में लेना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान की इस आज्ञा को हृदय में धारण करना चाहिए।

तातौ जल जो भात उकाल, आठ पहर मरजादा काल।
आगे सन्मूर्छन उपजाहिं, पीवत धर्मध्यान सब जाहिं।।152।।

अर्थ :– चावल सीझते समय पानी में जैसे उबाल आता है, ऐसे उबले हुए पानी की मर्यादा आठ पहर (24 घंटा) कही है। इसके बाद उस जल में सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं; अत: ऐसा पानी पीने से धर्मध्यान नष्ट हो जाता है।

दोहा

अघ–तरुवर को मूल इह, मोह मिथ्यात जु होय।
राग द्वेष कामादि का, ए सकंध बहु जोय।।153।।

अर्थ :– पापरूपी वृक्ष का मूल मोह और मिथ्यात्व है। राग–द्वेष–काम इस वृक्ष का स्कंध है।

अशुभ क्रिया शाखा घनी, पल्लव चंचल भाव।
पत्र असंजम अव्रता, छाया नाहिं लखाव।।154।।

अर्थ :– अशुभ क्रिया उसकी बहुत शाखाएँ हैं, कोपल चंचल भाव है, पत्र असंयम और अव्रत है। इस वृक्ष से थोड़ी–सी भी छाया नहीं मिलती अर्थात् सुख नहीं मिलता।

इह भव दुख भाखै पहुप, फल निगोद नरकादि।
इह अघ–तरु को रूप है, भव–वन माहिं अनादि।।155।।

अर्थ :– संसार का दुख इस वृक्ष के पुष्प हैं एवं नरक–निगोदादि इस वृक्ष के फल हैं। इस प्रकार यह पापरूपी वृक्ष संसाररूपी वन में अनादि काल से है।

चौपाई

क्रिया कुठार गहै कर कोय, अघ–तरुवर को काटैं सोय।
जे बेचैं दधि और जु मठा, उदर भरण के कारण शठा।।156।।
तिनकों मोल लेय जे खाहिं, ते नर अपनों जन्म नसाहिं।
तातैं मोलतनों दधि तजौ, यह गुरु आज्ञा हिरदै भजौ।।157।।

अर्थ :– जो मनुष्य क्रियारूपी कुठार को हाथ में ग्रहण करता है, वह इस पाप रूपी वृक्ष को काटता है एवं जो प्राणी उदर–भरण के कारण दही और छाछ बेचते हैं, वे मूर्ख हैं। उनसे जो दही और छाछ मोल खरीद कर खाते हैं, वे मनुष्य अपने जन्म को नष्ट करते हैं; इसलिए गुरु–आज्ञा हृदय में धारण कर दही और छाछ मोल खरीद कर नहीं खाना चाहिए।

दधी जमावै जा विधि ब्रती, सो विधि धारहु भाषहिं जती।
दूध दुहाकर ल्यावैं जबै, ततछिन अगनि चढ़ावै तबै।।158।।
रूपौ गरम करै पयमांहि, जामण देय जु संसै नाहिं।
जमें दही या विधि कर जोहु, बाधै कपा माहीं सोहु।।159।।

अर्थ :– यतियों ने व्रतियों के लिए दही जमाने की विधि बताई है। दूध दोह कर, छान कर

तुरंत ही अग्नि पर चढ़ाना चाहिए। चाँदी का टुकड़ा तपा कर नि:शंक होकर दूध में उसका जामन देना चाहिए। इस प्रकार की विधि से दही जम जाता है। फिर दही कपड़े में बाँध दो।

बूंद रहै नहिं जल की एक, तबहिं सुकाय धरै सुविवेक।
दही बड़ी इह भाषी सही, गृही जमावै तासों दही।।160।।

अर्थ :– जब उसमें एक बूँद भी जल की नहीं रहे, तब उस कपड़े को विवेकपूर्वक सुखा दो। गृहस्थ दही की इस बड़ी (दही को सुखा कर बनाया हुआ चूर्ण) से दूध जमाते हैं। यह दही जमाने की विधि है।

अथवा दधि में रूई भेय, कपरा भेय सुकाय घरेय।
राखै इक द्वै दिन ही जाहि, बहुत दिना राखै नहिं ताहि।।161।।

अर्थ :– अथवा दही में रूई या कपड़ा डालकर उसे अच्छी तरह से सुखा कर रख लो। इसे एक-दो दिन ही रखना चाहिए। ज्यादा दिन तक रूई व कपड़े को भी उपयोग में नहीं लेना चाहिए।

जल में घोलिर जामण देय, दधि ले तौ या विधि करि लेय।
और भांति लेवौ नहिं जोगि, भाखें जिनवर देव अरोगि।।162।।

अर्थ :– अथवा उस कपड़े को जल में घोलकर उस जल का जामन देना चाहिए। दही ग्रहण करें तो इस विधि से जमाया हुआ दही ग्रहण करना चाहिए। अन्य विधि से जमाया हुआ दही उपयोग में नहीं लेना चाहिए। ऐसा जिनवर ने कहा है।

शीतकाल की इह विधि कहीं, उष्णऊ बरषा राखै नहीं।
जो हि सर्वथा छाँड़े दधी, ता सम और न कोई सुधी।।163।।

अर्थ :– यह शीतकाल की विधि है। गर्मी और वर्षा ऋतु में यह ग्रहण नहीं करना चाहिए। जो सर्वथा दही का त्याग कर देते हैं, उनके समान और कोई बुद्धिमान नहीं है।

सूद्रतनें पात्रनि को दुग्ध, दधि-घृत-छाछि भखें ते मुग्ध।
उत्तम कुल हू जे मतिहीन, क्रियाहीन जु कुविसन अधीन।।164।।

तिनके घर को कछहु न जोगि, तिनकी किरिया बहुत अजोगि।
दूध ऊँटणी भेड़िन तनों, निंद्यौ जिनमत माहीं घनों।।165।।

अर्थ :– शूद्रों के पात्रों में रखे दूध, दही, घी, छाछ का जो भक्षण करते हैं, वे मूढ़ हैं। उत्तम कुल में जन्म लेकर भी जो विवेकहीन हैं, क्रियाहीन हैं, खोटे व्यसनों में लगे हुए हैं; उनके घर का कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं है; क्योंकि उनकी क्रियाएँ अयोग्य हैं। जिनेन्द्र भगवान के मत में ऊँटणी और भेड़े के दूध को अभक्ष्य बताया है।

गो महिषी बिन और न भया, कबहु न लेनों नाहीं पया।
महिषी दूध प्रमाद करेय, तातें गायनि की पय लेय।।166।।

अर्थ :– गाय और भैंस के दूध के अलावा और किसी का दूध काम में नहीं लेना चाहिए। भैंस के दूध से प्रमाद आता है; इसलिए गाय का दूध ही पीना चाहिए।

नीरसव्रत घर दूधहिं तजै, तातें सकल दोष ही भजै।
हाटें बिकते चून रु दालि, बुधजन इनको खावौ टालि।।167।।

अर्थ :– जो पुरुष दूध को छोड़कर नीरस व्रत को धारण करते हैं, उनके समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं। बुद्धिमान मनुष्यों को बाजार में बिकने वाले आटा–दाल का भक्षण नहीं करना चाहिए।

बीधौ खोटौ पीसै दलै, जीवदया कैसे करि पलै।
चनो संखतणो कसतूरि, इनकों निंद कहें जिनसूरि।।168।।

अर्थ :– बाजार में दुकानदार लोग बींधे हुए, सड़े हुए अनाज को पिसवाते हैं, उनकी दालें बनवाते हैं; अत: उस आटा–दाल को खाने वाले के जीवदया कैसे पल सकती है? चूना, संख, कस्तूरी – इनको भी जिनवर देव ने निन्दनीय बतलाया है।

।। अथ चर्म–स्पर्शित वस्तु–दोष ।।

दोहा

चरम–सपरसी वस्तु को, खातें दोष जु होय।
ताको संक्षेपहिं कथन, कहों सुनों भवि लोय।।169।।

अर्थ :– चर्म–स्पर्शित वस्तु को खाने से जो दोष लगते हैं, उनको संक्षेप में कहते हैं। हे भव्य जन! उसे सुनो।

मूये पसु के चर्म कों, चीरै जो चंडार।
ता चंडालहिं परसि कै, छोति गिने संसार।।170।।

अर्थ :– जो चाण्डाल मरे हुए पशु के चर्म को चीरते हैं, उस चाण्डाल के स्पर्श को भी संसारी जन बुरा जानते हैं।

तो कैसे पावन भयौ, मिल्यौ चर्म सों जोहि।
आमिष तुल्य प्रभू कहें, याहि तजौ बुध सोहि।।171।।

अर्थ :– तब चमड़े से स्पर्शित वस्तुएँ कैसे पवित्र हो सकती हैं? भगवान ने उनको मांस समान कहा है। इसलिए बुद्धिमानों को इनका त्याग करना चाहिए।

उपजैं जीव अपार सुनि, जिनवानी उर धारि।
जा पसु को है चर्म जो, तैसे ही निरधारि।।172।।

अर्थ :– जिनवाणी को हृदय में धारण कर सुनो। जिस पशु का चर्म है, उसमें उसी जाति के सम्मूर्च्छन जीव नियम से पैदा होते हैं।

सम्मूर्च्छन उपजै जिया, तातें जल घृत तेल।
चर्म सपरसे त्यागिये, भाषें साधु अचेल।।173।।

अर्थ :– चर्म-स्पर्शित जल, घी, तेल आदि का त्याग करना चाहिए; क्योंकि उनमें भी सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा अचेलक (नग्न दिगम्बर) साधुओं ने कहा है।

जैसे सूरज काँच के, रूई बीचि धरेय।
प्रकटै अगनि तहाँ सही, रूई भस्म करेय।।174।।

तैसे रस अर चर्म के, जोगै जिय निपजाहिं।
खावे वारे के सकल, धर्म ब्रत्त लुपि जाहिं।।175।।

अर्थ :– जैसे सूर्य और काँच के बीच में रखी हुई रूई अग्नि प्रकट होने से नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार रस (जल, घी, तेल आदि) और चर्म के योग से जीव की उत्पत्ति होती है और उनका भक्षण करने वालों के समस्त व्रत एवं धर्म आदि नष्ट हो जाते हैं।

जीमत भोजन के समैं, मुवौ जिनावर देखि।
तजै नहीं जे असन को, ते दुरबुद्धि विशेखि।।176।।

अर्थ :– भोजन करते समय मरे हुए पशु को देख कर जो भोजन नहीं छोड़ते हैं, वे दुर्बुद्धि-दुष्ट जीव हैं।

जे गँवार पाठातनी, फली खाय मतिहीन।
तिनके घट नहिं समुझि है, यह भावै परवीन।।177।।

अर्थ :– जो गँवारपाठा की फली खाते हैं, वे मतिहीन हैं। उनके हृदय में दया नहीं है – ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है।

।। अथ रसोई, परंडा, चक्की आदि क्रियाओं का वर्णन ।।

चौपाई

जा घर माहिं रसोई होय, धारे चंदवा उत्तम सोय।
बहुरि परंडा ऊपर ताणि, उखली चाकी आदिक जाणि।।178।।

फटकै नाज बीणिये जहाँ, चून चालिये भैय्या तहाँ।
अर जिंह ठौर जीमिये धीर, पुनि सोवे की ठौहर वीर।।179।।

तथा जहाँ सामायिक करै, अथवा श्री जिनपूजा धरै।
इतने थानक चंदवा होय, दीखै श्रावक को घर सोय।।180।।

अर्थ :– हे भाई! जिस घर में रसोई बनती है, वहाँ पानी के परंडा के ऊपर, उखली और चक्की के ऊपर, जहाँ अनाज फटकते हैं और बीनते हैं, जहाँ आटा चालते हैं, जहाँ भोजन करते हैं, जहाँ शयन करते हैं, जहाँ सामायिक करते हैं और जहाँ जिनेन्द्र भगवान की पूजन करते हैं – इतने स्थानों पर स्वच्छ चँदोवा होना चाहिए। इसी से यह श्रावक का घर है (अर्थात् विवेकी है) – ऐसा मालूम पड़ता है।

चाकी अर उखली परमाण, ढकणा दीजै परम सुजाण।
श्वान विलाव न चाटै ताहि, तब श्रावक को धर्म रहाहि।।181।।

अर्थ :– चक्की और उखली को ढक्कन से ढाँचना चाहिए, जिससे कुत्ता या बिल्ली उनको चाट नहीं सकें; तभी श्रावक धर्म का पालन हो सकता है।

मूसल धोय जतन सों धरै, निशि घोटन पीसन नहिं करै।
छाज तराजू अर चालणी, चर्मतणी भविजन टालणी।।182।।

अर्थ :– हे भव्य जीव! मूसल को भी धोकर यत्नपूर्वक रखो। रात्रि में घोटने और पीसने का कोई भी कार्य मत करो। सूप, तराजू और चलनी चमड़े की नहीं होनी चाहिए अथवा उन वस्तुओं के ऊपर चमड़ा लगा हुआ नहीं होना चाहिए।

निशि कों पीसै घोटै दलै, जीवदया कबहूँ नहिं पलै।
चाकी गालै चून रहाय, चोटी आदि लगै तसु आय।।183।।

अर्थ :– रात्रि में जो घोटते हैं, पीसते हैं और दलते हैं; उनके द्वारा जीवदया का पालन कभी नहीं हो सकता है। चक्की में यदि आटा रह जाता है तो आटा के कारण चींटी आदि जीव हो जाते हैं, जिससे दयाधर्म नहीं पलता है।

निसि को पीसत खबर न परै, तातें निशि पीसन परिहरै।
तथा रीति को भीज्यौ नाज, खावौ महापाप को साज।।184।।

अर्थ :– रात्रि में पीसने से जीवों का ध्यान नहीं रहता है; इसलिए रात्रि में नहीं पीसना चाहिए। जो रात्रि में भीगे हुए अनाजों को खाते हैं, वे महान पाप का बंध करते हैं।

अंकूरे निकसें ता माहिं, जीव अनन्ता संशय नाहिं।
तातैं भीज्यौ नाज अखाज, तजौ मित्र अपने सुखकाज।।185।।

अर्थ :– रात्रि में भीगे हुए अनाजों में अंकुर आ जाते हैं, जिससे उनमें निश्चय से अनन्त जीव होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है; इसलिए हे मित्र! अपने स्वाद के लिए भीगे हुए अनाजों को जो अखाद्य हैं, उनका त्याग करना चाहिए। इसी में सुख है।

सुल्यौ सड़यौ गड़ियौ जो धान, फूलौ आयौ होय न खान।
स्वाद चलित खावौ नहिं वीर, रहिवौ अति विवेकंसूं घीर।।186।।

अर्थ :– हे भाई! बींधे हुए, सड़े हुए, जमीन में रखे हुए और जिनके ऊपर फूलन आ गई हो – ऐसे अनाजों को नहीं खाना चाहिए। जिनका स्वाद चलित हो गया हो – ऐसे अनाजों को भी नहीं खाना चाहिए। अत्यन्त विवेकपूर्ण क्रियाएँ करनी चाहिए।

नहिं छीवै गोवर गोमूत, मल मूत्रादिक महा अपूत।
छाणा ईंधन काज अजोगि, लकड़ी हू वीधी नहिं जोग।।187।।

अर्थ :– गोबर, गोमूत्र, मल, मूत्रादिक महा अपवित्र पदार्थ हैं। इनका स्पर्श नहीं करना चाहिए। ईंधन के लिए दोषपूर्ण बींधी हुई लकड़ियों को उपयोग में नहीं लेना चाहिए।

जेती जाति मुरब्बा होय, लेणा एक दिवस ही सोय।
पीछे लागै मधु को दोष, ता सम और न अध को पोष।।188।।

अर्थ :– जितनी जाति के मुरब्बा आदि होते हैं, उनको एक ही दिन उपयोग में ले सकते हैं। बाद में खाने से मधु खाने के समान दोष लगता है। इसके समान पाप को पुष्ट करने वाला और कोई पाप नहीं है।

आथाणा का नाम अचार, भखें अविवेकी अविचार।
या सम अणाचार नहिं कोय, याको त्याग करें बुध सोय।।189।।

अर्थ :– अथाणा का नाम ही अचार है। अविवेकी जन बिना विचार किये इनका भक्षण करते हैं। इसके भक्षण के समान और कोई अनाचार नहीं है। बुद्धिमान जन को इसका त्याग करना चाहिए।

राह चल्यौ भोजन मति खाहु, उत्तम कुल को धर्म रखाहु।
निकट रसोई भोजन करौ, अणाचार सब ही परिहरौ।।
करौ रसोई भूमि निहारि, जीव–जन्तु की बाधा टारी।।190।।

अर्थ :– उत्तम कुल के धर्म की रक्षा के लिए रास्ता चला भोजन नहीं खाना चाहिए। सब

अनाचारों को टालकर रसोई बनने के स्थान के निकट ही भोजन करना चाहिए। जीव-जन्तु को बचाकर अर्थात् भूमि को देख-शोध करके रसोई बनानी चाहिए।

बेसरी छन्द

दोब खोदि मति करौ रसोई, तहां जीव की हिंसा होई।
मलिन वस्तु अवलोकन होवै, सो थानक तजि औरहिं जोवै।।191।।

अर्थ :- घास (दूब) खोद कर उस स्थान पर रसोई नहीं बनानी चाहिए; क्योंकि उससे जीवों की हिंसा होती है। मलिन-अपवित्र (हाड़, चर्म आदि) वस्तुएँ जहाँ दिखती हों, उस स्थान पर भी रसोई नहीं बनानी चाहिए।

नरम पूजणी सो प्रतिलेखै, करै रसोई चर्म न देखै।
माटी के वासण इक बारा, दूजी विरियां नाहिं अचारा।।192।।

अर्थ :- नरम पूंजणी (बुहारी/झाड़ू) से प्रतिलेखन करके (झाड़ कर), जहाँ चमड़ा आदि अपवित्र वस्तुएँ न दिखाई दें, वहाँ रसोई बनानी चाहिए। हे भाई! मिट्टी के बर्तनों को (जिनमें दाल-शाक आदि बनाते हैं) एक बार ही काम में लेना चाहिए, दूसरी बार काम में नहीं लेना चाहिए।

जो दूजे दिन राखै कोई, सो नर शूद्रनि सदृश होई।
मिटै न सरदी करै न कोई, मिट्टी के वासण की भाई।।193।।

अर्थ :- जो मनुष्य दूसरे दिन भी उन्हीं मिट्टी के बर्तनों को काम में लेते हैं, वे शूद्र-समान हैं; क्योंकि मिट्टी के बर्तनों में दूसरे दिन भी गीलापन रहने से (नमी रहने से) काई आदि लग जाती है।

उपजें जीव असंख्य जु तामें, बासी भोजन दूषण जामें।
दया न किरिया उत्तम ताई, माटी के वासण में भाई।।194।।

अर्थ :- उन मिट्टी के बर्तनों में असंख्यात जीव पैदा हो जाते हैं, बासी भोजन का भी दोष लगता है। ऐसे मिट्टी के बर्तनों को उपयोग में लेने से दया एवं क्रिया का पालन नहीं होता है।

तातैं, भले धातु के बासन, इह आज्ञा गावै जिन शासन।
धातु-पात्र ही नीका मंजै, सोई अशन-अक्रिया भंजै।।195।।

अर्थ :- इसलिए जिनशासन की आज्ञानुसार धातु के बर्तन उत्तम कहे गये हैं। (पाँच प्रकार की) धातु के पात्र अच्छी तरह साफ हो जाने से भोजन-पान संबंधी कोई दोष नहीं लगता।

रहै अशन को लेश जु कोई, सो बासन मांज्यौ नहिं होई।
दया क्रिया को नाश जु तामें, अन्न जोग उपजे जिय जामें।।196।।

अर्थ :– यदि माँजे हुए बर्तनों में भोजन का कुछ भी अंश (जूठन) रह जाये तो उन बर्तनों को साफ नहीं मानना चाहिए; क्योंकि अन्न के योग से उनमें जीवों की उत्पत्ति होने से दया एवं क्रिया का नाश होता है।

मांजि धोय अर पूंछ जु राछा, राखै उज्जल निर्मल आछा।
दया सहित करणी सुखदाई, करुणा बिन करणी दुखदाई।।197।।

अर्थ :– बर्तनों को माँज–धो कर, बाद में पोंछ करके स्वच्छ–साफ रखना चाहिए। दया सहित की हुई क्रिया सुख देने वाली है और करुणा बिना की हुई क्रिया दुख देने वाली है।।20।।

जीवनिकूं सन्ताप न देवै, तब आचार तणी विधि लेवै।
बिन जिनधर्मा उत्तम वंसा, देई न लेय सुराक्ष नृशंसा।।198।।

अर्थ :– किसी भी जीव को पीड़ा (कष्ट) नहीं देनी चाहिए, तभी आचरण विधि का पालन हो सकता है। उत्तम कुल में जन्म लेकर भी यदि जिनधर्म का पालन नहीं होता है तो उत्तम कुल का कोई लाभ नहीं।

श्रावक कुल किरिया करि युक्ता, तिनके कर को भोजन युक्ता।
अथवा अपने कर को कीयौ, आरम्भी श्रावक ने लीयौ।।199।।

अर्थ :– जो उत्तम श्रावक हैं एवं श्रावक की क्रिया का पालन करते हैं, उनके हाथ का भोजन ही उपयुक्त है अथवा अपने ही हाथ से बनाया हुआ भोजन करना चाहिए; क्योंकि श्रावक को आरम्भ का त्याग नहीं है।

अन्यमती अथवा कुलहीना, तिनके कर को कबहुं न लीना।
अन्य जाति जो भींटै कोई, तौ भोजन तजवौ है सोई।।200।।

अर्थ :– अन्य मती अथवा हीन कुल वालों के हाथ का भोजन नहीं करना चाहिए। यदि ये भोजन स्पर्श कर लें तो उस भोजन का भी त्याग कर देना चाहिए।

नीली हरी तजै जो सारी, ता सम और नहीं आचारी।
जो न सर्वथा छांड़ी जाई, तौ प्रत्येक फला अलपाई।।201।।

अर्थ :– लीलोती – हरी सब प्रकार की वनस्पतियों का जो त्याग करते हैं, उनके समान आचारवान कोई नहीं है। यदि समस्त वनस्पतियों का त्याग नहीं कर सकते हैं तो प्रत्येक वनस्पति फलों (केला, सेव, संतरा आदि) का अल्प मात्रा में ग्रहण करना चाहिए।

हरी सुकावौ योग्य न भाई, जामें दोष लगै अधिकाई।
सूके पत्र औषधी लेवा, भाजी सूकी सब तजि देवा।।202।।

अर्थ :– हे भाई! हरी वनस्पतियों को सुखाकर उपयोग में लेने से अधिक दोष लगता है। सूखे पत्ते औषधि में ही ग्रहण करने योग्य हैं, अन्य सभी सूखी भाजियों का त्याग करना चाहिए।

पत्र–फूल–कन्दादि भखें जे, साधारण फल मूढ़ चखें जे।
ते नहिं जानों जैनी भाई, जीभ–लंपटी दुरगति जाई।।203।।

अर्थ :– जो पुरुष साधारण वनस्पति – फल, पत्र, फूल एवं कन्दमूल का भक्षण करते हैं; वे मूढ़ हैं। वे जैन नहीं हैं। वे जिह्वा–लम्पटी दुर्गति को प्राप्त होते हैं।

पत्र–फूल–कन्दादि सबै ही, साधारण फल सर्व तजै ही।
अर तुम सुनहु विवेकी भैय्या, भेले भोजन कबहुं न लैया।।204।।

अर्थ :– जो पुरुष साधारण वनस्पति – फल, पत्र, फूल एवं कंदमूल – इन सबका त्याग करते हैं; वे विवेकी मनुष्य हैं। हे भाई! किसी के साथ भेले (एक ही थाली में) भोजन नहीं करना चाहिए।

मात तात सुत बांधव मित्रा, भेले भोजन अति अपवित्रा।
महा दोष लागै या माहीं, आमिष को सो संशय नाहीं।।205।।

अर्थ :– माता, पिता, पुत्र, भाई, मित्र आदि के साथ (एक ही थाली में) भोजन करना अत्यंत अपवित्र है। इसप्रकार का भोजन महा दोष युक्त है। इसमें मांसाहार के समान दोष लगता है।

अपने भोजन के जे पात्रा, काहू कूं नहिं देय सुपात्रा।
बुधजन भेलें जीमें कैसें, भाषें श्री जिन–नायक ऐसें।।206।।

अर्थ :– उत्तम कुलीन मनुष्य अपने भोजन के बर्तनों को भी किसी अन्य को नहीं देते तो फिर वे दूसरों के भेले (साथ) मिलकर भोजन कैसे करेंगे? ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

माहिं सराय न भोजन भाई, जब श्रावक को व्रत्त रहाई।
अन्तिज नीचनि के घर माहीं, कबहुँ रसोई करणी नाहीं।।207।।

अर्थ :– हे भाई! सराय में भोजन नहीं बनाना चाहिए। तभी श्रावक के व्रतों का पालन हो सकता है। अकुलीन एवं नीच पुरुषों के घरों में भी कभी भोजन नहीं बनाना चाहिए।

मांस त्यागि व्रत जो नित धारै, नीचन को संसर्ग न कारै।
उत्तम कुलहू परमत धारी, तिनहु के भोजन नहिं कारी।।208।।

अर्थ :– जो मांस त्याग कर व्रत में दृढ़ हैं, उन्हें नीच मनुष्यों का सम्पर्क नहीं करना चाहिए। पर-मत धारी उत्तम कुलीन के घर पर भी भोजन नहीं करना चाहिए।

जैन धर्म जिनके घट नाहीं, अन्य देव पूजा घर माहीं।
तिनको छूयौ अथवा कर को, कबहुं न खावै तिनके घर को।।209।।

अर्थ :– जिनके हृदय में जिनधर्म नहीं है और जिनके पूजा-घर में अन्य देव विराजमान हैं अर्थात् जो अन्य देव को मानते हैं, उनसे स्पर्शित या उनके हाथ से बनाया हुआ अथवा उनके घर का भोजन नहीं करना चाहिए।

कुल किरिया करि आप समाना, अथवा आपथकी अधिकाना।
तिनको छूयौ अथवा कर को, भोजन पावन तिनके घर को।।210।।

अर्थ :– जिनका कुल एवं क्रिया अपने समान है अथवा अपने से अधिक है, उनसे स्पर्शित या उनके हाथ का अथवा उनके घर का भोजन पवित्र है।

अर जे छाणि न जाणें पाणी, अन्न वीण की रीति न जाणी।
भक्षाभक्ष भेद नहिं जानें, कुगुरु कुदेव मिथ्यामत मानें।।211।।
तिनतें कैसी पांति जु मित्रा, तिनको छूयौ है अपवित्रा।
चर्म रोग मल हाथीदन्ता, जेहिं कचकड़ा विमल कहन्ता।।212।।
तिनतें नहिं भोजन-सम्बन्धा, यह किरिया को कह्यौ प्रबन्धा।
जंगम जीवनि के जु शरीरा, अस्थि चर्म रोमादिक वीरा।।213।।
सब अपवित्रा जानि मलीना, थावर दल भोजन में लीना।
रोमादिक को सपरस होवै, सो भोजन श्रावक नहिं जोवै।।214।।

अर्थ :– जो जल छानने की सही विधि को नहीं जानते हैं, अन्न का भी अच्छी तरह से शोधन नहीं करते हैं, भक्ष्य एवं अभक्ष्य वस्तुओं का जिनको ज्ञान नहीं है और कुगुरु, कुदेव एवं मिथ्या मत को मानते हैं; उन मनुष्यों के साथ किस प्रकार की मित्रता! उनसे स्पर्शित वस्तुएँ अपवित्र मानी गई हैं। चर्म, रोम (बाल), मल, हाथीदाँत के कचकड़ा आदि को जो विमल-निर्मल कहते हैं, उन जीवों के साथ भी भोजन का संबंध नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया कही गई है।

हे भाई! जंगम (त्रस) जीवों के शरीर, हड्डी, चर्म, रोमादिक सब अपवित्र कहे गये हैं। जल एवं वनस्पति आदि के समूह को भोजन में ले सकते हैं। जो भोजन रोमादिक मलिन पदार्थों से स्पर्शित है, वह भोजन श्रावक के योग्य नहीं है।

नीला वस्त्र न भीटै सोई, नाहिं रेशमी वस्त्र हु कोई।
बिन धोया ह्वै कपरा नाहीं, इह आचार जैनमत माहीं।।215।।

अर्थ :– भोजन बनाते एवं करते समय नीले वस्त्र का स्पर्श नहीं करना चाहिए, रेशमी वस्त्र को नहीं छूना चाहिए एवं बिना धुले कपड़े को भी नहीं छूना चाहिए। जिन–मत की यही आचार विधि है।

दया लिया ह्वै किरिया धारी, भोजन करैं सोधि आचारी।
पाँच ठाँवसूं भोजन नाहीं, धोति दुपट्टा विमल धराहीं।।216।।

अर्थ :– इस प्रकार क्रिया को धारण करने वाले दया का पालन करते हैं। आचारवान मनुष्य शुद्ध भोजन करते हैं। सभी वस्त्र पहन कर भोजन नहीं करना चाहिए। शुद्ध धोती–दुपट्टा पहन कर भोजन करें।

बिन उज्ज्वलता भई रसोई, त्याग करै ताकूं विधि जोई।
पंचेन्द्री पशु हू को छूयौ, भोजन तजै अविधि तें हूयौ।।217।।

अर्थ :– बिना शुद्ध वस्त्र के बनाई गई रसोई को ग्रहण नहीं करना चाहिए। पंचेन्द्रिय पशु से स्पर्शित भोजन एवं अमर्यादित भोजन का भी त्याग करना चाहिए।

सोध तनी सब वस्तु जु लेई, वस्तु असोधी त्यागै तेई।
अन्तराय ओ परे कदापी, तजै रसोइ जीव निष्पापी।।218।।

अर्थ :– शोधन की हुई वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए। बिना शोधन की हुई वस्तुओं को ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि भोजन में अन्तराय आ जावे तो उस भोजन का त्याग करना चाहिए।

दया क्रिया बिन श्रावक कैसे, बुद्धि पराक्रम बिन नृप जैसे।
मांस रुधिर मल अस्थि जु चामा, तथा मृतक प्राणी लखि रामा।।219।।

अर जो वस्तु तजी हैं भाई, सो कबहू जो थाल धराई।
तौ उठि बैठे होउ पवित्रा, यह आज्ञा गावै जगमित्रा।।220।।

अर्थ :– जैसे बुद्धि और पराक्रम के बिना राजा की शोभा नहीं है, वैसे ही दया और क्रिया के बिना श्रावक की शोभा नहीं है। मांस, खून, मल, हड्डी, चर्म, मरा हुआ जीव और जिस वस्तु का त्याग है, वह वस्तु यदि थाली में आ जाती है अर्थात् भोजन में आ जाती है तो उस भोजन का त्याग करना चाहिए। यह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है।

दान बिना जीमौ मति वीरा, इह आज्ञा धारौ उर धीरा।
बिना दान भोजन अपवित्रा, शक्ति प्रमाणें दान दो चित्रा।।221।।

अर्थ :– हे भाई! बिना दान दिये भोजन नहीं करना चाहिए। हे धीर पुरुष! जिनेन्द्र भगवान की इस आज्ञा को हृदय में धारण करना चाहिए। शक्ति के अनुसार दान देकर ही भोजन करना चाहिए। बिना दान दिये किया गया भोजन अपवित्र है।

मुनि अर्जिका श्रावक कोई, कै सुश्राविका उत्तम होई।
अथवा अव्रत सम्यग्दृष्टि, जिंह उर अमृतधारा वृष्टी।।222।।

इनकूं महाभक्ति करि देहो, तिनके गुण हिरदा में लेहो।
अथवा दुखित भुखित नर नारी, पशु पंखी दुखिया संसारी।।223।।

अन्न वस्त्र जल सबको देना, नर भव पाये का फल लेना।
तिर्यंचनि कूं तृण हू देना, दान तणों गुण उर में लेना।।224।।

अर्थ :– मुनि, आर्यिका, उत्तम श्रावक, उत्तम श्राविका एवं जिनके हृदय में जिनवचन पर दृढ़ श्रद्धान है – ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टि – इन पात्रों को श्रद्धा–भक्तिपूर्वक दान देकर, उनके गुणों को हृदय में धारण करना चाहिए। दुखी एवं क्षुधा से पीड़ित पुरुष, स्त्री, पशु, पक्षी आदि को भी अन्न, वस्त्र, पानी आदि देकर अपने मनुष्य भव को सफल बनाना चाहिए। तिर्यंच को भी तृण आदि देना चाहिए। दान गुण सदैव हृदय में धारण करने योग्य है।

भोजन करत ओंठि जिन छोड़ौ, ओंठि खाय देही मति भांडौ।
काहू कूं उच्छिष्ट न देनी, यही बात हिरदै धरि लेनी।।225।।

अर्थ :– भोजन करते समय जूठन नहीं छोड़नी चाहिए। न स्वयं को जूठन खानी चाहिए। जूठन (जूठा भोजन) किसी को देना भी नहीं चाहिए। इस बात को हृदय में धारण कर लेना चाहिए।

अन्तराय जो परैं कदापी, अथवा छीवें खल जल पापी।
तब उच्छिष्ट तजन नहिं दोषा, इह भाषे बुधजन व्रत पोषा।।226।।

अर्थ :– भोजन में यदि अन्तराय आ जावे अथवा दुष्ट एवं पापी मनुष्य भोजन–पान को स्पर्श कर ले तो उस समय उच्छिष्ठ (जूठन) छोड़ने में दोष नहीं लगता है। इस प्रकार व्रत को धारण करने वाले बुद्धिमानों ने कहा है।

घृत दधि दूध मिठाई मेवा, जोहि रसोई माहिं जु लेवा।
सो सब तुल्य रसोई जानों, यह गुरु आज्ञा हिरदै मानो।।227।।

अर्थ :– घृत (घी), दही, दूध, मिठाई, मेवा आदि जो भी वस्तुएँ अपनी रसोई में ली जाती हैं, उन सबको रसोई समान ही समझो। यह गुरु–आज्ञा हृदय में धारण करो।

जहाँ वापरै अन्न रसोई, तातैं न्यारे राखै जोई।
जेतौ चहिये तेतौ ल्यावै, आवै सो वर्तन में आवै।।228।।

अर्थ :– परन्तु जहाँ अनाज की रसोई उपयोग में ली जाती है अर्थात् बनाई जाती है, वहाँ घी, दही, दूध, मेवा, आदि सब पदार्थ अलग ही रखने चाहिए और ये वस्तुएँ जितनी चाहिए, उतनी अलग से बर्तन में लेना चाहिए।

पाका वस्तु रु भोजन भाई, एक भये बाहिर नहिं जाई।
जल अर अन्न तणों पकवाना, वो भोजन ही सादृश जाना।।229।।

अर्थ :– पकी हुई वस्तुएँ और भोजन एक समान हैं, उनको रसोई घर से बाहर नहीं ले जाना चाहिए। जल युक्त अन्न के पकवान को भोजन के समान ही जानना चाहिए।

असन रसोई बाहर जावै, सो बढ़ वोपा नाम कहावै।
मौन बिना भोजन वरज्या है, मौन सात श्रुतमाहिं कह्या है।।230।।

अर्थ :– जो भोजन रसोई घर के बाहर जाता है, वह सकरा (अशुद्ध) कहलाता है। भोजन के समय मौन रखना चाहिए। आगम में सात स्थानों पर मौन रखना कहा गया है।

भोजन भजन स्नान करंता, मैथुन वमन मलादि करंता।
मूत्र करंता मौन जु होई, यह आज्ञा धारै बुध सोई।।231।।

अर्थ :– 1. भोजन करते समय, 2. पूजन–स्तवन आदि करते समय, 3. स्नान करते समय, 4. मैथुन सेवन करते समय, 5. वमन करते समय, 6. मल क्षेपण करते समय एवं 7. मूत्र त्याग करते समय – इन सात स्थानों पर मौन रखना चाहिए। यह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा बुद्धिमान धारण करते हैं।

अन्तराय अर मौन जु सप्ता, पालै श्रावक पाप अलिप्ता।
अब जल की किरिया सुनि धर्मी, जे नहिं धारें तेहि अधर्मी।।232।।

अर्थ :– जो अन्तराय एवं सात स्थानों पर मौन पालन करते हैं, वे श्रावक पाप से रहित हैं। हे धर्मी! अब जल की क्रिया सुनो। जो विधिपूर्वक जल नहीं छानते हैं, वे अधर्मी हैं।

नदी तीर जो होय मसाणा, सो तजि घाट जु निन्द्य वखाणा।
और घाट को पाणी आणों, इह जिन आज्ञा हिरदै जाणो।।233।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को हृदय में धारण कर, नदी के जिस किनारे पर श्मशान भूमि हो, उस घाट का जल उपयोग में नहीं लेना चाहिए। अन्य घाट का पानी लाना चाहिए।

लोक भरत जे निजरमां आवै, तिनके ऊपरलौ जल ल्यावै।
सरवर माहिं गांव को पानी, आवै सो सरवर तजि जानी।।234।।

अर्थ :– अन्य लोग जहाँ से जल भरते दिखाई देते हैं, उससे ऊपर की तरफ का जल लाना चाहिए। यदि तालाब में गाँव का पानी आता है तो उस तालाब का जल काम में नहीं लेना चाहिए।

गाँव थकी जो दूरि तलाबा, ताका जल ल्यावौ सुभ भावा।
तजौ अपावन नदी किनारा, अब वापी की विधि सुनि वीरा।।235।।

अर्थ :– गाँव से जो तालाब दूर हैं, शुभ भावों से उसका जल ला सकते हैं। नदी के अपवित्र किनारे का जल काम में नहीं लेना चाहिए। अब बावड़ी के पानी की विधि सुनो।

जा माहीं न्हावै नर नारी, कपरा धोवहिं दांतुनि कारी।
ता वापी को जल मति आनों, तहां न निर्मलताई जानों।।236।।

अर्थ :– जिस बावड़ी में स्त्री–पुरुष स्नान करते हैं, कपड़े धोते हैं, दातुन करते हैं; उस बावड़ी का पानी उपयोग में नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वह शुद्ध नहीं है।

कूप तणी विधि सुनहु प्रवीना, जहाँ भरैं पानी कुल हीना।
तहाँ जाहि मति भरवा भाई, तबै ऊंच कौ धर्म रहाई।।237।।

अर्थ :– हे प्रवीण पुरुष! अब कुएँ के पानी की विधि सुनो। जहाँ नीच–कुलहीन पुरुष पानी भरते हैं, वहाँ उच्च कुलीन मनुष्य को अपने धर्म की रक्षा के लिए पानी नहीं भरना चाहिए।

उत्तम नीच यहै मरजादा, यामें है कहुँ हू न विवादा।
यवन अन्तिजा सबसे हीना, इनको कूप सदा तजि दीना।।238।।

अर्थ :– ऊँच–नीच की यही मर्यादा कही गई है। इसमें कहीं पर विवाद नहीं है। चांडाल आदि अन्त्यज और यवन सबसे हीन कहे गये हैं; इसलिए इन लोगों का कुआँ अवश्य छोड़ देना चाहिए अर्थात् उस कुएँ से पानी नहीं भरना चाहिए।

अब तुम बात सुनो इक ओरै, शंका छांडि बखानौ चौरै।
धर्म रहित के पानी घर को, त्यागौ वारि अधर्मी नर को।
बिन साधर्मी उत्तम बंसा, पर घर की छांडौ जल अंसा।।239।।

अर्थ :– अब तुम एक बात और सुनो। मैं शंका छोड़कर स्पष्ट कहता हूँ कि धर्म रहित के घर का, अधर्मी का और उत्तम वंश वाले साधर्मी के बिना अन्य किसी का जल भी नहीं लेना चाहिए।

दोहा

जल के भाजन धातु के, जो होवें घर माहिं।
पूंछ मांजि नित धोयवा, यामें संशय नाहिं।।240।।

अर्थ :– जल भरने के जितने भी धातु के बर्तन घर में हैं; उनको प्रतिदिन माँज कर, पोंछ कर एवं धोकर ही काम में लेना चाहिए। इसमें संशय नहीं करना चाहिए।

अर जे वासण गार के, गागर घट मटकादि।
ते हि अल्प दिन राखिवौ, इह आज्ञा जु अनादि।।241।।

अर्थ :– गागर, घड़ा, मटकी आदि जो बर्तन मिट्टी के होते हैं; उनको थोड़े दिन ही काम में लेने चाहिए। ऐसी अनादि की आज्ञा है।

राति सुकाय धराय वा, माटी वासण वीर।
तिनमें प्रातहि छाणिवौ, आछी विधिसों नीर।।242।।

अर्थ :– हे भाई! मिट्टी के बर्तनों को रात्रि में सुखा देने चाहिए; फिर प्रात: उनमें अच्छी विधि से पानी छानना चाहिए।

जौ नहिं राखै गार के, जल भाजन बुधिवान।
राखै बासण धातु ही, सो अति ही शुचिवान।।243।।

अर्थ :– जो ज्ञानवान मनुष्य मिट्टी के बर्तन नहीं रखकर, धातु के बर्तन ही रखते हैं; उनका व्यवहार अत्यन्त शुचितापूर्ण है।

।। अथ जल–गालन विधि ।।

चौपाई

इह तौ जल की क्रिया बताई, अब सुनि जलगालन विधि भाई।
रंगे वस्त्र नहिं छानों नीरा, पहरे वस्त्र न गालौ वीरा।।244।।

अर्थ :– हे भाई! यह तो जल की क्रिया बताई। अब जल छानने की विधि सुनो। हे भाई! रंगीन वस्त्रों से एवं पहने हुए वस्त्रों से जल कभी नहीं छानना चाहिए।

नाहिं पातरे कपड़े गालौ, गाढ़े वस्त्र छांडि अघ टालौ।
रेजा दिढ़ आंगुल छत्तीसा, लंबा अर चौरा चौबीसा।।245।।

ताको दो पुड़ता करि छानों, यही नांतणा की विधि जानों।
जल छाणत इक बूंद हु धरती, मति डारहु भाषें महावरती।।246।।

अर्थ :– पतले कपड़े से भी जल नहीं छानना चाहिए। जल गाढ़े वस्त्र से छानकर पापों से बचना चाहिए। 36 अंगुल लम्बे और 24 अंगुल चौड़े रेजे के मजबूत कपड़े को दोहरा करके जल छानना चाहिए। जल छानने का कपड़ा (नातना) ऐसा ही होना चाहिए। जल छानते समय अनछने पानी की एक बूँद भी जमीन पर नहीं गिरनी चाहिए, ऐसा महाव्रतियों ने कहा है।

एक बूँद में अगणित प्राणी, इह आज्ञा गावै जिनवाणी।
गलना चिऊंटी धरि मति दाबौ, जीव दया को जतन धरावौ।।247।।

अर्थ :– अनछने जल की एक बूँद में असंख्यात जीव होते हैं, ऐसा जिनवाणी में कहा है। यत्नपूर्वक जीव-रक्षा के भाव से छन्ने को चीउँटी (चिमटी) धर कर नहीं दबाना चाहिए।

छाणे पाणी बहुते भाई, जल गलणा धोवै चित लाई।
जीवाणी को जतन करौ तुम, सावधान ह्वै विनवें क्या हम।।248।।

अर्थ :– हे भाई! पानी छानकर, जल के छन्ने को विवेकपूर्वक धोकर, जीवाणी की रक्षा करनी चाहिए अर्थात् सावधानी से यथायोग्य स्थान पर धीरे-धीरे पहुँचानी चाहिए। इससे अधिक हम क्या विनय करें?

राखहु जल की किरिया शुद्धा, तब श्रावक व्रत लधौ प्रबुद्धा।
जा निवांण कौ ल्यावौ वारी, ताही ठौर जीवाणी डारी।।249।।

अर्थ :– जो जल-क्रिया विधि की अच्छी तरह से पालना करते हैं, वे ही प्रबुद्ध जन श्रावक के व्रतों का पालन कर सकते हैं। जिस स्थान का जल लाते हैं, उसी स्थान में जीवानी पहुँचानी चाहिए।

नदी तालाब बावड़ी माहीं, जल में जल डारौ सक नाहीं।
कूप माहिं नाखौ जु जिवाणी, तौ इह बात हिये परवाणी।।250।।

ऊपर सू डारौ मति भाई, दयाधर्म धारौ अधिकाई।
भँवरकली को डाल मँगावौ, ऊपर नीचे डांरि लगावौ।।251।।

अर्थ :– नदी, तालाब या बावड़ी के जल में वहाँ की जीवानी सुविधापूर्वक डाली जा सकती

है; किन्तु यदि कुएँ में जीवानी डालना हो तो इस बात का खास ध्यान रखना चाहिए कि जीवानी ऊपर से नहीं डाली जाए। दया धर्म के अच्छी तरह से पालन के लिए दो कड़े वाला डोल मँगाकर उसके ऊपर नीचे दोनों तरफ डोरी लगानी चाहिए।

द्वै गुण डोल जतन करि वीरा, जीवाणी पधरावौ धीरा।
छाण्यां जल को इह निरधारा, थावरकाय कहें गणधारा।।252।।

अर्थ :– इस प्रकार दो कड़े वाले डोल से सावधानीपूर्वक जीवानी को यथास्थान पहुँचाना चाहिए। छने जल का यही निर्धार है। गणधरों ने जल को स्थावरकाय कहा है।

द्वै घटिका तीतै जो जाकों, अणछाण्यां को दोष जु ताकों।
तिक्त कषाय भेली किय फासू, ताहि अचित्त कहें श्रुत–भासू।।253।।

अर्थ :– दो घड़ी बतीने के बाद छना हुआ जल भी अनछना हो जाता है। तिक्त (चरपरा) और कषायला पदार्थ मिलाने से वह जल अचित्त अर्थात् जीव रहित हो जाता है। ऐसा आगम में कहा है।

पहर दोय बीतै जो भाई, अगणित त्रस जीवा उपजाई।
ड्योढ़ तथा पौणा दो पहरा, आगें मति वरतौ बुधि–गहरा।।254।।

अर्थ :– दो पहर (6 घंटा) बीत जाने के बाद इसी (प्रासुक) जल में अगणित त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं; इसलिए बुद्धिमानों को डेढ़ या पौने दो पहर से आगे इस जल को उपयोग में नहीं लेना चाहिए।

भात उकाल उष्ण जल जो है, सात पहर ही लेणो सो है।
बीतें वसु जामा जल उष्णां, त्रस भरिया इह कहै जु विष्णा।।255।।

अर्थ :– भात के लिए उबलते हुए जल के समान जो जल उष्ण है, उस जल को भी सात पहर तक ही उपयोग में लेना चाहिए। आठ पहर बीत जाने के बाद इस उष्ण जल में त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा विष्णु भगवान कहते हैं।

विष्णु कहावें जिनवर स्वामी, सर्व व्यापको अन्तर–यामी।
या विधि पाणी दिवसें पीवौ, निशिकूं जल छाड़ौ भवि जीवौ।।256।।

अर्थ :– विष्णु जिनेन्द्र भगवान को कहते हैं, जो अंतर्यामी हैं। उन्होंने जल छानने की यह विधि कही है। इसप्रकार जल दिन में पीना चाहिए। हे भव्यजीव! रात्रि में जल भी नहीं पीना चाहिए।

अशन पान अर खादिम स्वादी, निशि त्याग बिन व्रत सब वादी।
दया बिना नहिं व्रत जु कोई, निश भोजन में दया न कोई।।257।।

अर्थ :– भोजन, पान, खाद्य और स्वाद – ये सब प्रकार की वस्तुएँ रात्रि में नहीं ग्रहण करनी चाहिए। रात्रि में इन सबके त्याग बिना सब व्रत निरर्थक हैं; क्योंकि रात्रिभोजन में दया का पालन नहीं हो सकता है और दया के बिना भी किसी व्रत की सार्थकता नहीं है।

छाण्यूं जाय न निशकों नीरा, वीण्यूं जाय न धानहुँ वीरा।
छाण बीण बिन हिंसा होवै, हिंसातैं नारक पद जोवैं।।258।।

अर्थ :– रात्रि में जल नहीं छाना जाता एवं अनाज नहीं बीना जाता। बिना छने जल में एवं बिना शोधन किये हुए अनाज में हिंसा होती है अर्थात् जीवों की रक्षा नहीं होती है। हिंसा से नरक गति की प्राप्ति होती है।

अवर कथन इक सुनने योगा, सुनकर धारहु सुबुधि लोगा।
नारिन कों लागै बड़ रोगा, मास मास प्रति होहि अजोगा।।259।।

अर्थ :– एक और कथन सुनने योग्य है। बुद्धिमानों को सुनकर इस कथन का पालन करना चाहिए। स्त्रियों को एक रोग लगा रहता है। वे प्रत्येक माह में अशौच (रजस्वला) को प्राप्त होती हैं।

ताकी किरिया सुनि गुणवन्ता, जा विधि भाषें श्री भगवन्ता।
दिवस पांच बीतें शुचि होई, पाँच दिना लौं मलिन जु सोई।।260।।

अर्थ :– उसकी विधि जैसी भगवान ने कही है, वैसी क्रिया हे गुणवान मनुष्य! सुनो। पाँच दिन बीतने के बाद वे पवित्र होती हैं। पाँच दिन तक वे अपवित्र मानी गयी हैं।

उक्तं च (श्लोक) –

त्रिपक्षे शुद्ध्यते सूती, रजसा पंचवासरे।
अन्यरक्ता च या नारी, यावज्जीवं न शुद्ध्यते।।1।।

अर्थ :– प्रसूता स्त्री डेढ़ महीने में शुद्ध होती है, रजस्वला स्त्री पाँच दिन के बाद शुद्ध होती है और जो स्त्री पर-पुरुष में रत है, वह जन्मपर्यंत शुद्ध नहीं होती है अर्थात् वह सदा अपवित्र ही है।

बेसरी छन्द

पाँच दिवस लौ सगरे कामा, तजिकर रहिवौ एकै ठामा।
कछु धंधा करवौ नहिं जाकों, भई अजोग अवस्था ताकों।।261।।

अर्थ :– रजस्वला स्त्री को पाँच दिन तक सब काम छोड़कर एक ही स्थान पर रहना चाहिए। कोई भी काम नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस समय उसकी अवस्था अपवित्र है।

निज भर्ता हूँ कों नहिं देखै, नीची दृष्टि धर्म को पेखैं।
दिवस पांचलौं न्हावौ उचिता, नितप्रति कपड़ा धोवो सुचिता।।262।।

अर्थ :– इस अवस्था में स्त्रियों को अपने पति का भी मुख नहीं देखना चाहिए। दृष्टि नीची रखनी चाहिए। मन में धर्म का ध्यान रखना चाहिए (वाचनिक एवं कायिक नहीं)। पाँचों दिन स्नान करना चाहिए एवं प्रतिदिन कपड़े भी साफ-स्वच्छ धोने चाहिए।

काहूँ सों सपरस नहिं करिवौ, न्यारे आसन वासन धरिवौ।
जो कबहूँ ताके वासन सों, छुयौ राछ अथवा हाथन सों।।263।।

तो वह वासन ही तजि देवौ, या विधि शुद्ध जिनाज्ञा लेवौ।
अन्न वस्त्र जल आदि सबैही, ताकौ छुऔ कछू नहिं लेही।।264।।

अर्थ :– ऐसी अवस्था में स्त्रियों को किसी का स्पर्श नहीं करना चाहिए। आसन एवं बर्तन अलग रखने चाहिए। यदि कभी उसके बर्तन से या हाथ से अन्य बर्तन छू जायें तो उन बर्तनों को उपयोग में नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है। रजस्वला स्त्रियों में स्पर्शित अन्न, वस्त्र, जल आदि किसी प्रकार की वस्तुएँ काम में नहीं लेनी चाहिए।

कोरो पीस्यौ कछु नहिं गहिवौ, ताकौ ताके ठामहिं रहिवौ।
ठौर त्याग फिरवौ न कितै ही, इह जिनवर की आज्ञा है ही।।265।।

अर्थ :– रजस्वला स्त्री से स्पर्शित सूखा अन्न एवं पीसा हुआ अन्न नहीं ग्रहण करना चाहिए। उसको उसके स्थान पर ही रहना चाहिए। अपने स्थान को छोड़कर इधर-उधर नहीं जाना चाहिए। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है।

करवौ नाहीं अशन गरिष्ठा, नाहीं जु दिवसें शयन वरिष्ठा।
हास कुतूहल तैल फुलेला, इन दिन माहिं न गीत न हेला।।266।।

अर्थ :– रजस्वला स्त्रियों को इस अवस्था में गरिष्ठ भोजन नहीं करना चाहिए, दिन में शयन नहीं करना चाहिए, हँसी-मजाक नहीं करनी चाहिए। तेल-फुलेल आदि नहीं लगाने चाहिए, गीत आदि नहीं गाने चाहिए एवं किसी को जोर से आवाज देकर नहीं बुलाना चाहिए।

काजल तिलक न जाकों करिवौ, नाहिं महावर मेहंदी धरिवौ।
नख केशादि सुधार न करनों, या विधि भगवत-मारग धरनों।।267।।

अर्थ :– रजस्वला स्त्रियों को इस अवस्था में काजल नहीं लगाना चाहिए, तिलक नहीं करना चाहिए, महावर एवं मेहंदी नहीं लगानी चाहिए, नाखून नहीं काटने चाहिए एवं केशों को नहीं सँवारना चाहिए। ऐसा जिनेन्द्र भगवान का बताया मार्ग धारण करना चाहिए।

और त्रियन में मिलवौ जाकों, पंच दिवस है वर्जित ताकों।
चंडाली छूतें अति निंद्या, भाषें जिनवर मुनिवर वंद्या।।268।।

अर्थ :– रजस्वला स्त्रियों को पाँच दिन तक अन्य स्त्रियों से नहीं मिलना चाहिए अर्थात् उन्हें नहीं छूना चाहिए। पाँच दिन तक उनका स्पर्श चांडाली आदि के सदृश अत्यन्त निंदनीय बताया है। ऐसा मुनिवरों से वंदनीय जिनवर ने कहा है।

पंच दिवस पति ढिग नहिं जावौ, अर नहिं वाके सज्या रचावौ।
भूमि–शयन है योग्य जु ताको, सिंगारादि न करनों जाकों।।269।।

अर्थ :– रजस्वला स्त्रियों को पाँच दिवस तक पति के पास नहीं जाना चाहिए। पाँच दिन तक उनकी शय्या नहीं बिछानी चाहिए। पाँच दिन तक रजस्वला स्त्रियों को भूमि पर शयन करना चाहिए एवं किसी प्रकार का शृंगार नहीं करना चाहिए।

छट्ठे दिवस न्हाय गुणवन्ती, शुभ कपड़ा पहरै बुधिवन्ती।
ह्वै पवित्र पतिजुत जिन अर्चा, कर वातै धारै शुभ चर्चा।।270।।

अर्थ :– इस प्रकार गुणवान एवं पवित्र अवस्था को प्राप्त उस स्त्री को छठे दिन स्नान कर, शुद्ध वस्त्र पहन करके पति के साथ जिनेन्द्र भगवान की अर्चा एवं धर्म–चर्चा आदि शुभ क्रियाएँ करनी चाहिए।

पूजा दान करै विधि सेती, शुभ मारग माहीं चित देती।
निशि को अपने पति ढिग जावै, तौ उत्तम बालक उपजावै।।271।।

अर्थ :– वह स्त्री छठे दिन विधिपूर्वक दान–पूजन कर सकती है। इस प्रकार शुभ कार्यों में अपने मन को लगाना चाहिए। (छठी) रात्रि को अपने पति के पास जाने से उत्तम संतान की प्राप्ति होती है।

सुबुधि विवेकी सुव्रत–धारी, शीलवन्त सुन्दर अविकारी।
दाता सूर तपस्वी श्रुतधर, परम पुनीत पराक्रम भर नर।।272।।

अर्थ :– वह पुत्र अच्छी बुद्धिवाला, विवेकी, अच्छे व्रतों को धारण करने वाला, शीलवान, सुंदर, अविकारी, उत्तम दाता, शूरवीर, तपस्वी, शास्त्र का ज्ञाता, परम पवित्र और पराक्रमी होता है।

जिनवर भरत बाहुबलि सगरा, राम हणू पांडव अर विदरा।
लव अंकुश प्रद्युम्न सरीसा, वृषभसेन गौतम स्वामी सा।।273।।

सेठ सुदर्शन जंबूस्वामी, गजकुमार आदि गुण-धामी।
पुत्र होय तौ या विधि को ह्वै, अर कबहूं पुत्री हो जो ह्वै।।274।।

अर्थ :- वह यदि पुत्र होता है तो जिनेन्द्र भगवान, भरत, बाहुबली, सगर, राम, हनुमान, पांडव, विदुर, लव, अंकुश, प्रद्युम्न, वृषभसेन, गौतमस्वामी, सेठ सुदर्शन, जंबूस्वामी एवं गजकुमार के समान गुणनिधान हो और यदि कभी पुत्री भी होवे.....।

तो सुशील सौभाग्यवती अति, नेम धरम परवीन हंस गति।
बाल सुब्रह्मचारिणी शुद्धा, ब्राह्मी सुन्दरि सी प्रतिबुद्धा।।275।।

चन्दन बाला अनन्तमती सी, तथा भगवती राजमती सी।
अथवा पतिव्रता जु पवित्रा, ह्वै सुशील सीता सी चित्रा।।276।।

कै सुलोचना कौशल्या सी, शिवा रुकमनी वीशल्या सी।
नीली तथा अंजना जैसी, रोहिणी द्रौपद सुभद्रा तैसी।।277।।

अर्थ :- तो वह कन्या शीलवती, सौभाग्यशालिनी, व्रत-नियम में अत्यंत प्रवीण, हंस के समान चाल चलने वाली होती है। वह कन्या बाल ब्रह्मचारिणी, ब्राह्मी और सुन्दरी जैसी बुद्धिमती, चन्दनबाला, अनन्तमती और साध्वी राजमती के समान, पतिव्रता, पवित्र और सुशील सीता के समान सुलोचना कौशल्या, शिवा, रुक्मणि, विशल्या, नीली, अंजना, रोहिणी, द्रौपदी और सुभद्रा जैसी होती है।

अर जो कोऊ पापाचारी, पंच दिवस वीतें बिन नारी।
सेवै विकल अन्ध अविवेकी, ते चंडालनि हूते एकी।।278।।

अर्थ :- यदि कोई पापाचारी पाँच दिवस बीतने के पूर्व स्त्री से मैथुन सेवन करता है तो उससे उत्पन्न होने वाला बालक विकलांग, अन्धा एवं अविवेकी होता है। उस अवस्था वाली स्त्री और चांडालिनी को एक माना गया है।

अति ही घृणा उपजै ता समये, तातैं कबहुं न ऐसे रमिये।
फल लागै तौ निपट हि विकला, उपजै संतति सठ बेअकला।।279।।

सुत जन्में तौ कामी क्रोधी, लापर लंपट धर्म विरोधी।
राजा बक वसु से अति मूढ़ा, ग्रन्थनि माहिं अजस आरूढ़ा।।280।।

सत्यघोष द्विज पर्वत दुष्टा, धवल सेठ से पाप सपुष्टा।
पुत्री जन्में तो हो कुशीली, पर-पुरुषा रति अवहीली।।281।।

अर्थ :- रजस्वला अवस्था अत्यन्त घृणास्पद मानी गई है; इसलिए उस समय कभी भी स्त्री का सेवन नहीं करना चाहिए। यदि उस समय बच्चा गर्भ में आ गया हो तो वह अत्यन्त विकलांग, मूर्ख, अज्ञानी, कामी, क्रोधी, परस्त्री लपटी, धर्म-विरोधी पैदा होता है। वह बच्चा राजा बक और आगमविरोधी, पुराने धान्य की जगह बकरे की बलि के पक्ष का समर्थन करने वाले राजा वसु से भी अत्यन्त मूर्ख, सत्यघोष ब्राह्मण एवं पर्वत के समान दुष्ट एवं पाप को पुष्ट करने वाले धवल सेठ के समान होता है। पुत्री जन्मे तो कुशीली एवं पर-पुरुष लंपटी होती है।

राव जसोधर की पटरानी, नाम अमृतादेवि कहानी।
गई नरक छट्ठे पति मारे, किये कुबज सों कर्म असारे।।282।।

अर्थ :- यशोधर राजा की पटरानी अमृतादेवी हाथी के कुबड़े महावत के साथ विषय-भोग करती थी। उसने अपने पति को मार डाला, जिसके फलस्वरूप वह मरकर छठे नरक में गई।

रात्रि विषैं कपरा ह्वै नारी, तौ इह बात हिये में धारी।
पंच दिवस में सो निसि नाहीं, ता बिन पंच दिवस श्रुत माहीं।।283।।

अर्थ :- यदि स्त्री रात्रि में रजस्वला होती है तो यह बात हृदय में धारण करनी चाहिए कि पाँच दिनों में वह रात्रि सम्मिलित नहीं है। उसके अलावा पाँच दिवस का पालन करना चाहिए। ऐसा आगम में कहा है।

इह आज्ञा धारौ तजि पापा, तब पावौ आचार निपापा।
अब सुनि गृहपति के षट् कर्मा, जो भाषैं जिनवर को धर्मा।।284।।

अर्थ :- इस प्रकार पाप को छोड़कर जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को हृदय में धारण करना चाहिए, जिससे शुद्ध आचरण का पालन हो सकता है। अब गृहस्थ के षट्कर्म, जो जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं, उसे सुनो।

निज पूजा अर गुरु की सेवा, पुनि स्वाध्याय महासुख देवा।
संजम तप अर दान करौ नित, ए षट् कर्म धरौ अपने चित।।285।।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान की पूजा-देव पूजा, गुरूपास्ति अर्थात् गुरु की उपासना वैयावृत्ति, महासुखदायी स्वाध्याय, संयम, तप और दान - प्रतिदिन इन षट्कर्मों का मन लगाकर पालन करो।

इन कर्मनि करि पाप जु कर्मा, नासें भविजन सुनि निजधर्मा।
चाकी उखरी और बुहारी, चूला बहुरि परंडा धारी।।286।।

हिंसा पाँच तथा घर धन्धा, इन पापनि करि पाप हि बंधा।
तिनके नासन कों षट् कर्मा, शुभ भावैं जिनवर को धर्मा।।287।।

अर्थ :– हे भव्य जन! गृहस्थी संबंधी पापों का नाश करने के लिए आचार्यों ने षट्कर्म का उपदेश दिया है। 1. अनाज वगैरह पीसना, 2. उखली में अनाज आदि कूटना, 3. झाड़ू-बुहारी करना, 4. चूल्हा जलाकर भोजन आदि बनाना, 5. पानी वगैरह छानना (त्रस जीवों की हिंसा होती है) इन पंच सूना से और 6. घर का धन्धा (व्यापार, खेती आदि आरंभ करना)। इन क्रियाओं से पाप का बंध होता है। इन छह प्रकार के पापों का नाश करने के लिए जिनवर ने षट्कर्मों का, शुभ भावों से पालन करने को कहा है।

ए सब रीति मूलगुण माहीं, भाषें श्री गुरु संसै नाहीं।
आठ मूलगुण अंगीकारा, करौ भव्य तुम पाप निवारा।।288।।

अर्थ :– यह षट्कर्म की रीति मूलगुण के अन्तर्गत है, ऐसा श्रीगुरु ने कहा है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। हे भव्य! आठ मूलगुणों को धारण करके तुम पाप से निवृत्त होओ अर्थात् मुक्त होओ।

अर तजि सात विसन दुखकारी, पाप मूल दुरगति दातारी।
जूवा आमिष मदिरा दारी, आखेटक चोरी पर नारी।।289।।

अर्थ :– पाप के मूल, दुर्गति को देने वाले और दुख को करने वाले सप्त व्यसनों का त्याग करना चाहिए। 1. जुआ खेलना, 2. मांस खाना, 3. मदिरापान करना, 4. चोरी करना, 5. शिकार करना, 6. वेश्यासेवन करना एवं 7. परस्त्री सेवन करना – ये सात व्यसन कहे गए हैं।

जूवा सम नहिं पाप जु कोई, सब पापनि कौ यह गुरु होई।
जूवारी कौ संग जु त्यागौ, द्यूत कर्म के रंग न लागौ।।290।।

अर्थ :– सब पापों का गुरु अर्थात् सब पापों का मुख्य जुआ के समान और कोई पाप नहीं है। जुआरी की संगति का त्याग करना चाहिए। जुआ कभी नहीं खेलना चाहिए।

पासा सारि आदि बहु खेला, सब खेलनि में पाप हि भेला।
सकल खेल तजि जिन भजि प्रानी, जाकर होय निजातम ज्ञानी।।291।।

अर्थ :– पासा, ताश आदि अनेक प्रकार के खेल जो शर्त लगाकर खेले जाते हैं, उन सब खेलों में जुए के समान ही पाप लगता है। हे भव्य! ऐसे सब खेलों को छोड़कर जिनेन्द्र भगवान को हृदय में धारण करना चाहिए, जिससे आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

ठौर ठौर मद मांस जु निंदै, तातैं तजिये प्रभु कों बंदै।
तज वेश्या जो रजकशिला सम, गनिका को घर देखहु मति तुम।।292।।

अर्थ :– जगह-जगह शास्त्रों में मद्य और मांस की निंदा की गई है। इसलिए मद्य और मांस का त्याग करना चाहिए। वेश्या सेवन नहीं करना चाहिए। वेश्या को धोबी की शिला के समान कहा है। उन वेश्याओं के घर की तरफ भी नहीं देखना चाहिए।

त्यागि अहेरा दुष्ट जु कर्मा, ह्वै दयाल सेवौ जिन धर्मा।
करै अहेरा तें जु अहेरी, लहै नर्क में आपद ढेरी।।293।।

अर्थ :– शिकार करना बहुत बड़ा पाप है। हे भाई! शिकार करना छोड़कर दया भाव धारण करके, जिनधर्म का सेवन करना चाहिए। जो दिन-रात शिकार करते हैं, वे नरक की बहुत आपदाओं को अर्थात् बहुत दुखों को प्राप्त होते हैं।

क्षत्री को इह होय न कर्मा, क्षत्री को है उत्तम धर्मा।
क्षत् कहिये पीरा को नामा, पर-पीरा-हर जिनको कामा।।294।।

अर्थ :– ये सब निंद्य कर्म करना क्षत्रिय का धर्म नहीं है। क्षत्रिय का धर्म तो उत्तम धर्म है। क्षत् पीड़ा को कहते हैं। दूसरों की पीड़ा का हरण करना ही क्षत्रिय का काम है।

क्षत्री दुर्बल को किम मारै, क्षत्री तो पर-पीरा टारै।
मांस खाय सो क्षत्री कैसो, वह तौ दुष्ट अहेरी जैसो।।295।।

अर्थ :– क्षत्रिय दुर्बल को कैसे मार सकते हैं? क्षत्रिय तो दूसरों की पीड़ा का हरण करने वाले होते हैं। मांस खाने वाले क्षत्रिय कैसे हो सकते हैं? वे पापी तो शिकारी के सदृश ही हैं।

अर जु अहेरी तजै अहेरा, दयापाल ह्वै जिनमत हेरा।
तौ वह पावै उत्तम लोका, सबकों जीव-दया सुख थोका।।296।।

अर्थ :– यदि कोई शिकारी शिकार करना छोड़ देता है तो जिनमत में उसको दया पालक कहा गया है। शिकार त्याग के फलस्वरूप वह उत्तम गति को प्राप्त होता है। समस्त प्राणियों के प्रति दया भाव प्राणियों को बहुत सुख देने वाला है।

त्यागौ चोरी जो सुख चाहौ, ठग विद्या तजि लोभ विलाहौ।
पर धन भूले विसरें आयौ, राखौ मति यह जिन श्रुत गायौ।।297।।

अर्थ :– जिनको सुख की इच्छा है, उनको चोरी का त्याग करना चाहिए। मायाचारी, छल-कपट आदि ठग विद्याओं को छोड़कर लोभ का त्याग करना चाहिए। किसी अन्य का धन भूल से

रह गया है तो उस धन को अपने पास कभी नहीं रखना चाहिए। ऐसा श्रुत में कहा गया है।

लूटि लेहु मति काहू को धन, पर धन हरवें कों न धरौ मन।
चुगली कर न, लुटावौ काकों, छाड़ों भाई अन्य रमा कों।।298।।

अर्थ :– पर के धन को लूटना नहीं चाहिए। अरे! दूसरे के धन को हड़पने का भाव भी मन में नहीं आना चाहिए। किसी की चुगली नहीं करनी चाहिए। किसी को लुटवाना नहीं चाहिए। हे भाई! दूसरे की स्त्री को दूर से ही छोड़ देना चाहिए।

काहू की न, धरोहरि दावौ, सूधौ राखौ मित्र हिसावौ।
तौल माहिं घटि–बधि मति कारौ, इह जिन आज्ञा हिरदै धारो।।299।।

अर्थ :– किसी की धरोहर को नहीं हड़पना चाहिए। हे मित्र! अपना लेन–देन प्रामाणिकता से होना चाहिए। नाप–तौल में हीनाधिक नहीं करना चाहिए। इस प्रकार की जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को हृदय में धारण करना चाहिए।

दोहा

तजौ चोर की संगती, तासू नहिं व्यवहार।
चोरस्यौ माल ग्रहौ मती, जो चाहौ सुख सार।।300।।

अर्थ :– उत्तम सुख को प्राप्त करना हो तो चोरों की संगति कभी नहीं करनी चाहिए, उनके साथ व्यवहार (लेन–देन आदि का) नहीं रखना चाहिए एवं चोरी का माल भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

परदारा सेवन तजौ, या सम दोष न और।
याकों निंदे जिनवरा, जो त्रिभुवन के मौर।।301।।

अर्थ :– परस्त्री का सेवन नहीं करना चाहिए। इसके समान और कोई दोष नहीं है। जिनेन्द्र भगवंतों ने इस पाप की निंदा की है। वे जिनेन्द्र भगवान तीन भुवन के शिरमौर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं।

पापी सेवें पर तिया, परें नरक में जायँ।
तेतीसा–सागर तहाँ, दुख देखें अधिकाय।।302।।

अर्थ :– पापी जीव ही परस्त्री का सेवन करते हैं, जिसके फलस्वरूप सातवें नरक में जाकर तैंतीस सागर तक बहुत अधिक पाप को भोगते हैं।

तातें माता बहन अर, पुत्री सम पर–नारि।
गिनों भव्य तुम भाव सों, शील वृत्त उर धारि।।303।।

अर्थ :– इसलिए हे भव्य! शीलव्रत को हृदय में धारण कर परस्त्री को माता, बहन और पुत्री के समान समझना चाहिए।

जे जेठी ते मात सम, समवय बहन समान।
आप थकी छोटी उमरि, सो जिन सुता प्रमान।।304।।

अर्थ :– जो स्त्री उम्र में अपने से अधिक है; उसको माता के समान, अपने समान उम्र वाली स्त्री को बहन के समान और अपने से कम उम्र वाली स्त्री को पुत्री के समान मानना चाहिए।

निन्दे बिसन जु सात ए, सात नरक दुखदाय।
मन बच तिन ए परिहरौ, भजौ जिनेसुर पाय।।305।।

अर्थ :– इन सात व्यसनों की निंदा की गई है, जो सातों नरकों के दुखों को प्राप्त कराने वाले हैं। मन, वचन एवं काय से इन सातों व्यसनों का त्याग करना चाहिए।

इन बिसननि करि बहु दुखी, भये अनन्ते जीव।
तिनको को वर्णन करै, ए निंदें जग–पीव।।306।।

अर्थ :– इन व्यसनों का सेवन करने वाले अनन्त जीवों ने बहुत दुख उठाये हैं। इन दुखों का वर्णन कौन कर सकता है। जिनेन्द्र भगवान ने इनकी बहुत निंदा की है।

कैयक के भाखें भया, नाम सूत्र–अनुसार।
राव जुधिष्ठर सारिखे, धर्मोत्तम अविकार।।307।।

अर्थ :– आगम के अनुसार कुछ के नामों का वर्णन करते हैं। राजा युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा पुरुष ने इन व्यसनों के कारण दुख उठाया था।

दुर्योधन के हठ थकी, एक बार ही द्यूत।
रमिकर अति आपद लहो, जात्यौ कौरव धूत।।308।।

अर्थ :– दुर्योधन के हठ के कारण युधिष्ठिर ने एक ही बार जुआ खेला था। धूर्त कौरवों के कारण उन्होंने जुआ खेलकर बहुत कष्ट उठाये थे।

हारि गये पांडव प्रकट, राज सम्पदा मान।
दुखी भये जो दीन जन, ग्रन्थनि माहिं बखान।।309।।

अर्थ :– जुए में युधिष्ठिर अपनी राज–सम्पदा और सती द्रौपदी तक को हार गए। धर्मात्मा पांडवों ने बहुत कष्ट उठाए। इनका आगम में वर्णन किया है।

पीछे तजि सब जगत कों, जगदीश्वर उर ध्याय।
श्री जिनवर के लोक को, गये जुधिष्ठर राय।।310।।

अर्थ :– फिर युधिष्ठिर महाराज ने समस्त संसार का त्याग कर मुनिव्रत को धारण किया एवं घोर तपस्या करके वे मोक्ष–धाम को प्राप्त हुए।

मांस भखनतें बक नृपति, गये सातवें नर्क।
तीस तीन सागर महा, पायौ दुख संपर्क।।311।।

अर्थ :– मांस–भक्षण करने से बक राजा सातवें नरक को प्राप्त हुआ। उसने वहाँ तेतीस सागर तक नरक के दुख भोगे।

अमल थकी जदुनन्दना, रिषि कों रिस उपजाय।
भये भस्मभावा सबै, पाप करम फल पाय।।312।।

अर्थ :– शराब के कारण यदुवंशी राजकुमारों ने द्वीपायन मुनि को कष्ट देकर क्रोध उपजाया। तीव्र क्रोध के कारण उनके बाँयें कन्धे से अशुभ तैजस पुतला निकला। उस पुतले ने सारी द्वारिका नगरी को भस्म कर दिया। इस प्रकार यदुवंशी राजकुमारों ने पाप का फल प्राप्त किया।

कैयक उबरे जिन जपी, भये मुनीसुर जेह।
येह कथा जिनसूत्र में, तुम परगट सुन लेह।।313।।

अर्थ :– कुछ जीवों ने उस समय जिनेन्द्र भगवान का ध्यान किया एवं कुछ जीवों ने नेमिनाथ भगवान की परोक्ष साक्षीपूर्वक मुनिव्रत को धारण किया। ऐसे सब जीवों को वहाँ से उठाकर देवों ने दूसरी जगह रख दिया। आगम में यह कथा कही गई है। तुम उसको ध्यान से सुनो।

चारुदत्त इक सेठ हौ, करि गनिका सों प्रीति।
लही आपदा जिह घनी, गई संपदा बीति।।314।।

अर्थ :– चारुदत्त नामक एक सेठ ने वेश्या सेवन के फलस्वरूप बहुत कष्ट उठाया एवं उसकी सारी सम्पत्ति का नाश हुआ।

ब्रह्मदत्त पापी महा, राजा हौ मृग–मार।
आखेटक अपराध तें, बूड्यो नरक मँझार।।315।।

अर्थ :– ब्रह्मदत्त नामक महान पापी राजा ने हिरण को मारा। शिकार व्यसन के कारण वह नरक के दुखों को प्राप्त हुआ।

चोरी करि शिवभूति शठ, लहे बहुत दुख दोष।
ताकी कथा प्रसिद्ध है, कहिवे को सतघोष।।316।।

अर्थ :– शिवभूति नामक सेठ ने चोरी के फलस्वरूप बहुत दुख उठाया। उसकी कथा आगम प्रसिद्ध है। नाम से सत्यघोष ने भी नरकों में अनेक यातनाओं को भोगा।

परदारा पर चित धरी, रावण से बलवन्त।
अपजस लहि दुरगति गये, जे प्रतिहरि गुणवन्त।।317।।

अर्थ :– रावण जैसे बली ने परस्त्री को मन में बसाया। उसके फलस्वरूप उन गुणवान प्रतिनारायण ने अपयश को प्राप्त कर दुर्गति के फल को भोगा।

बिसन बुर बिसनी बुरे, तजौ इनों तैं प्रीति।
व्रत्त क्रिया के शत्रु ये, इनमें एक न नीति।।318।।

अर्थ :– व्यसन बुरे हैं और व्यसन सेवन करने वाले व्यसनी भी बुरे हैं, इसलिए इनसे प्रीति नहीं करनी चाहिए। ये व्यसन व्रत और क्रिया के महान शत्रु हैं। इनमें किसी प्रकार का सुख नहीं है।

अब सुनि भैया बात इक, गुण इकबीसौ जेह।
इनहीं मूल गुणानि को, परिवारों गनि लेह।।319।।

अर्थ :– हे भैया! अब मैं 21 गुणों को बताता हूँ, जो मूलगुणों के परिवार स्थानीय हैं। उनको भी धारण करना चाहिए।

लज्जा दया प्रशांतता, जिन मारग परतीति।
पर औगुन को ढांकिवो, पर उपगार सुप्रीति।।320।।

सोमदृष्टि गुण–ग्रहणता, अर गरिष्ठता जानि।
सबसों मित्राई सदा, वैर भाव नहिं मानि।।321।।

पक्ष पुनीत पुमान की, दीरघ दरसी सोय।
मिष्ट वचन बोले सदा, अर बहु ज्ञाता होय।।322।।

अति रसज्ञ धर्मज्ञ जो, है कृतज्ञ पुनि तज्ञ।
कहै तज्ञ जाकूं बुधा, जौ होवै तत्त्वज्ञ।।323।।

नहीं दीनता भाव कछु, नहिं अभिमान धरेय।
सबसों समताभाव है, गुण को विनय करेय।।324।।

पापक्रिया सब परिहरौ, ए गुण होंय एकीस।
इनकों धारै सो सुधी, लहै धर्म जगदीश।।325।।

अर्थ :– अब 21 गुणों को कहते हैं – 1. लज्जावान होना, 2. दयावान होना, 3. शांत परिणामी होना, 4. जिनमार्ग का श्रद्धानी होना, 5. दूसरों के अवगुणों को ढकने वाला होना, 6. प्रीतिपूर्वक दूसरों का उपकार करने वाला होना, 7. सौम्य दृष्टि सहित पर के गुण–ग्रहण करने वाला होना, 8. गंभीर होना, 9. वैर–भाव छोड़कर सबसे मैत्री–भाव रखने वाला होना, 10. पवित्र पुरुषों का पक्षधर अर्थात् उनकी बात मानने वाला होना, 11. दीर्घ दृष्टि होना, 12. निरन्तर प्रिय वचन बोलने वाला होना, 13. विद्वान होना, 14. धर्म का जानकार होना, 15. कृतज्ञ होना तथा 16. तज्ञ होना – बुद्धिमान लोगों ने, जो तत्त्व को जानते हैं, उनको तज्ञ कहा है, 17. किसी प्रकार के दीनता के भाव वाला नहीं होना, 18. अभिमानी नहीं होना, 19. समता भावी होना, 20. गुणों की विनय करने वाला होना एवं 21. सब प्रकार की पाप क्रिया को छोड़ने वाला होना। ये इक्कीस गुण होते हैं। जो बुद्धिमान इन गुणों को धारण करते हैं, वे ही धर्म को प्राप्त करते हैं।

इन गुण बाहिर जीव जो, श्रावक नाहिं गनेय।
श्रावक व्रत के मूल ए, श्री जिनराज कहेय।।326।।

अर्थ :– इन गुणों को धारण नहीं करने वाला श्रावक नहीं कहा गया है। श्रावक के व्रतों के ये मुख्य गुण हैं। ऐसा जिनदेव ने कहा है।

श्रावक व्रत सब जाति को, जति–व्रत तीन गहेय।
द्विज क्षत्री वाणिज बिना, जति व्रत नाहिं जु लेय।।327।।

अर्थ :– सब वर्ण – जाति वाले (क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण, शूद्र) श्रावक के व्रतों को ग्रहण कर सकते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य – इन तीन वर्ण वाले ही मुनिव्रत धारण कर सकते हैं।

अर एते विणज न करै, श्रावक प्रतिमा धार।
धान पान मिष्टान अर, मोम हींग हरतार।।328।।

अर्थ :– श्रावक की प्रतिमा धारण करने वाले जीवों को निम्नलिखित व्यापार नहीं करने चाहिए – 1. अनाज का व्यापार नहीं करना, 2. पानक वस्तुओं का व्यापार नहीं करना, 3. हलवाई का काम नहीं करना, 4. मोम, हींग और हरताल का व्यापार नहीं करना।

मादक लवण जु तेल घृत, लोह लाख लकड़ादि।
दल फल कन्दादिक सबै, फूल फूस सीसादि।।329।।

अर्थ :– 5. मादक वस्तुएँ अफीम, गाँजा, चरस, भाँग आदि नहीं बेचना, 6. तेल, लवण, घी, लोहा, लाख, लकड़ी आदि नहीं बेचना, 7. फल, सब प्रकार के कन्दमूल, सब प्रकार के पुष्प (फूल), घास (फूस), सीसा आदि नहीं बेचना।

चीट चाबका जेबड़ा, मूंज डाभ सण आदि।
पसु पंखी नहिं विणजवो, साबुन मधु नीलादि।।330।।

अर्थ :– 8. डंडा, चाबुक, रस्सी, जेवड़ा, मूँज, डाभ, सण तथा पशु–पक्षियों का व्यापार एवं साबुन, शहद, नील आदि वस्तुओं का व्यापार नहीं करना चाहिए।

अस्थि चर्म रोमादि मल, मिनखा बेचवौ नाहिं।
बन्दि पकड़नी नाहिं कछु, इह आज्ञा श्रुत माहिं।।331।।

अर्थ :– हड्डी, चमड़ा, रोम आदि मल का तथा मनुष्यों को बेचने का व्यापार नहीं करना चाहिए। बन्दियों के पकड़ने आदि का खोटा व्यापार नहीं करना चाहिए। यह जिनदेव की आज्ञा है।

पशू–भाड़े मति द्यौ भया, त्यागि शस्त्र व्यौपार।
वध बंधन व्यवहार तजि, जो चाहौ भव–पार।।332।।

अर्थ :– हे भाई! पशुओं को किराये पर नहीं देना चाहिए। यदि संसार से पार उतरना चाहते हो तो सब प्रकार के शस्त्र (चाकू, तलवार, बन्दूक आदि) बेचने का व्यापार नहीं करना चाहिए। जानवरों को बाँधना, नाक, कान आदि छेदना, बधिया कराना – ये सब कर्म नहीं करने चाहिए।

जहाँ निरन्तर अगिनि को, उपजै पापारंभ।
सौ व्यौहार तजौ सुधी, तजौ लोभ छल दंभ।।333।।

अर्थ :– हे बुद्धिमान! लोभ, माया, दंभ (दिखावा) आदि दुर्व्यवहार छोड़ दो। जिन कार्यों में निरन्तर अग्नि संबंधी पापारंभ होता हो, ऐसे कार्य भी मत करो।

कन्दोई लोहार अर, सुवर्णकार शिल्पादि।
सिकलीगर बाटी प्रमुख, अबर लखेरा आदि।।334।।

छीपा रंगरेजादि का, अथवा कुम्भ जु कार।
व्रत धारी ए नहिं करै, उद्यम हिंसाकार।।335।।

अर्थ :– हलवाई, लौहार, सुवर्णकार, शिल्पकार, सिकलीगर, रसोईदारी, लखारा, छीपा, रंगरेज (कपड़ा रँगने वाला), कुम्भकार आदि के हिंसाकारी कार्य व्रती श्रावकों को नहीं करने चाहिए।

रंग्यो नील थकी जिको, सो कपरा तजि वीर।
अति हिंसाकर नीपनों, है अजोगि वह चीर।।336।।

अर्थ :– हे भाई! नील में रँगा हुआ कपड़ा कभी काम में नहीं लेना चाहिए। नीले रंग के बनाने में बहुत हिंसा होती है, इसलिए उससे रँगा वस्त्र अयोग्य है।

कूप तडाग न सोखियो, करिये नहीं अनर्थ।
हिंसक जीव न पालिये, यह श्रुत धारौ अर्थ।।337।।

अर्थ :– कुआँ–तालाब आदि को शुष्क नहीं करना चाहिए। इनमें बहुत हिंसा होती है। हिंसक जीव (बिल्ली–कुत्ता आदि) नहीं पालने चाहिए। आगम की इस आज्ञा को धारण करना चाहिए।

विषनि विणजवौ है भला, इसा विणजवौ नाहिं।
नहीं सीदरी सूतली, होय विणज के माहिं।।338।।

अर्थ :– विष एवं विष जैसी प्राण–नाशक वस्तुओं का व्यापार नहीं करना चाहिए। सींदरी एवं सूतली का व्यापार भी नहीं करना चाहिए।

बिणज करौ तो रतन को, कै कंचन रूपादि।
कै रुई कपड़ा तनों, मति खोवौ भव बादि।।339।।

अर्थ :– रत्न, सुवर्ण, चाँदी एवं सूती कपड़ों का व्यापार करना चाहिए। हिंसा–जन्य व्यापार करके अपने भव को नहीं बिगाड़ना चाहिए।

जिनमें हिंसा अल्प ह्वै, ते व्यापार करैय।
अति हिंसा के विणज जे, ते सब ही तज देय।।340।।

अर्थ :– जिस व्यापार में अल्प हिंसा होती हो, ऐसा व्यापार करना चाहिए। जिन व्यापारों में अधिक हिंसा होती हो, ऐसे व्यापारों को छोड़ देने चाहिए।

ए सब रीति कही बुधा, मूल गुणनि में ठीक।
ते धारौ सरधा करी, त्यागौ बात अलीक।।341।।

अर्थ :– यह सब विधि बुद्धिमानों ने कही है। खोटे व्यापारों का त्याग करके मूलगुणों को श्रद्धापूर्वक धारण करना चाहिए।

जैसें तरु के जड़ गिनी, अह मंदिर के नींव।
तैसें ए वसु मूलगुण, तप जप व्रत की सींव।।342।।

अर्थ :– वृक्ष की जड़ और मंदिर की नींव के समान ये आठ मूलगुण तप, जप, व्रत की जड़ अर्थात् मूल हैं।

बेसरी छन्द

ए दुरगति दाता न कदेही, शिव कारण ह्वै कहइ विदेही।
सम्यक् सहित महाफल दाता, सब व्रत्तनि को सम्यक् त्राता।।343।।

अर्थ :– ये आठ मूलगुण कभी दुर्गतियों में ले जाने वाले नहीं हैं। मोक्ष के कारण हैं। ऐसा देह रहित (सिद्धों) ने कहा है। सम्यक्त्व सहित ये आठ मूलगुण महान फल देने वाले हैं तथा सब व्रतों की समीचीन भाव से रक्षा करने वाले हैं।

समकित सों नहिं और जु धर्मा, सकल क्रिया में सम्यक् पर्मा।
जाके भेद सुनो मन लाए, जाकरि आतम तत्त्व लखाए।।344।।

अर्थ :– सम्यक्त्व के समान और कोई धर्म नहीं है। समस्त क्रियाएँ सम्यक्त्व पूर्वक होनी चाहिए। सम्यक्त्व के भेदों को मन लगाकर सुनो, जिनके निमित्त से आत्मतत्त्व का दर्शन (प्राप्ति) होता है।

भेद बहुत पर द्वे बड़ भेदा, निश्चय अर व्यवहार अछेदा।
निश्चय सरधा निज आतम की, रुचि परतीति जु अध्यातम की।।345।।

अर्थ :– सम्यक्त्व के अनेक भेद हैं, परन्तु प्रमुख रूप से यहाँ दो भेद कहे हैं – 1. निश्चय सम्यक्त्व और 2. व्यवहार सम्यक्त्व। अपने आत्मतत्त्व की श्रद्धा, रुचि, प्रतीति करना; उसी का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है।

सिद्ध समान लखै निज रूपा, अतुल अनन्त अखंड अनूपा।
अनुभव रस में भोग्यौ भाई, धोई मिथ्या मारग काई।।346।।

अर्थ :– अतुल एवं अनन्त गुणों के धारी, अखंड और अनुपमेय सिद्ध भगवान के समान अपने आत्मतत्त्व का श्रद्धान करना चाहिए। हे भाई! उस आत्मतत्त्व के अनुभव-रस में लीन होकर मिथ्यात्व का नाश करना चाहिए।

अपनों भाव अपुन में देखौ, परमानन्द परम रस पेखौ।
तीन मिथ्यात्व चौकड़ी पहली, तिन करि जीवनि की मति गहली।।347।।

अर्थ :– अपने परिणामों को अपने में देखकर, अपने में उत्कृष्ट आनन्द का रसास्वाद लेना

चाहिए। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति एवं अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ – इन सात के द्वारा जीवों की बुद्धि भ्रमित हो रही है।

मोह–प्रकृति है अट्ठाबीसा, सात प्रबल भाषें जगदीसा।
सात गये सब ही नसि जावें, सर्व गये केवल पद पावें।।348।।

अर्थ :– मोहनीय कर्म के 28 भेद हैं। इनमें उपर्युक्त सात प्रकृतियों को जिनवर देव ने प्रबल प्रकृतियाँ कहा है। इन सात प्रकृतियों का नाश हो जाने से सब कर्मों का नाश हो जाता है एवं कर्मों के नाश हो जाने से कैवल्य पद की प्राप्ति होती है।

उपशम क्षय–उपशम अथवा क्षय, सात तनों कीयौ तजि सब भय।
ये निश्चय समकित को रूपा, उपजैं उपशम प्रथम अनूपा।।349।।

अर्थ :– सब प्रकार के भयों का त्याग कर, इन सात प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम और क्षय करना चाहिए। इससे निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इनमें से सबसे पहले अनुपम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

सुनि सम्यक् व्यवहार प्रतीता, देव अठारा दोष वितीता।
गुरु निरग्रन्थ दिगम्बर साधु, धर्म दयामय तत्त्व अराधू।।350।।

अर्थ :– अब व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप सुनो – अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ दिगम्बर गुरु और दयामय धर्म एवं (सात) तत्त्व का समीचीन प्रकार से श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

तिनकी सरधा दिढ़ करि धारै, कुगुरु कुदेव कुधर्म निवारै।
सप्त तत्त्व को निश्चय करिवौ, यह व्यवहार सु सम्यक् धरिवौ।।351।।

अर्थ :– वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय धर्म का दृढ़ श्रद्धान करना चाहिए। कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का श्रद्धान नहीं करना चाहिए। सात तत्त्वों के सच्चे श्रद्धान को भी व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

जीव अजीवा आस्रव बंधा, संवर निर्जर मोक्ष प्रबन्धा।
पुण्य पाप मिलि नव ए होई, लखै जथारथ सम्यक् सोई।।352।।

अर्थ :– जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष – इन सात तत्त्वों में पुण्य और पाप मिलाने से नव पदार्थ होते हैं। इन नव पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानना भी सम्यग्दर्शन है।

ये ही पदारथ नाम कहावै, एई तत्त्व जिनागम गावै।
नव पदार्थ में जीव अनन्ता, जीवनि माहीं आप गुणवंता।।353।।

अर्थ :– ये नव पदार्थ एवं सात तत्त्व जिनागम में कहे गये हैं। नव पदार्थ में अनन्तानन्त जीव हैं। उनमें हमारी गुणवान आत्मा भी 4गर्भित है।

लखै आपको आपहि माहीं, सो सम्यक्दृष्टि शक नाहीं।
ए दोय भेद कहै समकित के, ते धारौ कारण निज हित के।।354।।

अर्थ :– इस प्रकार अपने में, अपने आत्मतत्त्व को देखने वाला सम्यग्दृष्टि है। इसमें कोई शंका नहीं है। सम्यग्दर्शन के ये दो भेद कहे हैं। आत्मकल्याण के लिए इन्हें अवश्य धारण करो।

सम्यकदृष्टि जे गुण धारै, ते सुनि जे भव–भाव विडारै।
अठ मद त्यागै निर्मद होई, मार्दव धर्म धरै गुन सोई।।355।।

अर्थ :– भव–भ्रमण का नाश करने वाले जो गुण सम्यग्दृष्टि धारण करते हैं, वे सुनो। आठ मदों का त्याग कर, मद रहित होते हुए मार्दव धर्म को धारण करो।

राजगर्व अरु कुल को गर्वा, जाति मान बल मान जु सर्वा।
रूप तनूं मद तप को माना, संपति अर विद्या अभिमाना।।356।।

अर्थ :– 1. राज्य का गर्व करना, 2. कुल का (पितृपक्ष संबंधी) गर्व करना, 3. जाति का (मातृपक्ष संबंधी) गर्व करना, 4. बल (शारीरिक) शक्ति का गर्व करना, 5. रूप–सौंदर्य का गर्व करना, 6. तपश्चरण का गर्व करना, 7. संपत्ति–वैभव का मद करना एवं 8. ज्ञान–विद्या का अभिमान करना।

ए आठों मद कबहु न धारै, जगमाया तृण–तुल्य निहारै।
अपनी निधि लखि अतुल अनंती, जो परपंचनि में न वसंती।।357।।

अर्थ :– इन आठ मदों को भी धारण नहीं करना चाहिए। सम्यग्दृष्टि जीव संसार की माया को तृण–समान गिनते हैं। अपनी आत्मा की सम्पत्ति–निधि अतुल, अनन्त है। यह आत्म–वैभव संसार के प्रपंच – माया में नहीं पाया जाता है।

अविनश्वर सत्ता विकसंती, ज्ञान–दृगोत्तम द्युति अलसंती।
तामें मगन रहै अति रंगा, भव माया जानें क्षण भंगा।।358।।

अर्थ :– अपनी आत्म–निधि अविनश्वर–अविनाशी सत्ता को देने वाली है, ज्ञान–दर्शनरूपी उत्तम कांति–ज्योति को प्रकट करने वाली है। आत्म–वैभव में मगन–लवलीन रहने वाला संसार की माया को क्षणभंगुर समझता है।

तीन मूढ़ता दूरी नाखै, देव धर्म गुरु निश्चय राखै।
कुगुरु कुदेव कुधर्म न पूजा, जैन बिना मत गहै न दूजा।।359।।

अर्थ :– देव मूढ़ता, गुरु मूढ़ता एवं धर्म मूढ़ता को दूर से छोड़ देना चाहिए। कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की पूजा नहीं करनी चाहिए एवं जिनेन्द्र भगवान के मत के सिवाय अन्य मत नहीं ग्रहण करना चाहिए।

छह जु अनायतनी बुधि त्यागै, त्याग मिथ्यामत जिनमत लागै।
कुगुरु कुदेव कुधर्म बड़ाई, अर उनके दासनि की भाई।।360।।

कबहुँ करै नहिं सम्यकदृष्टि, जे करिहैं ते मिथ्यादृष्टि।
शंका आदि आठ मल छांडै, करि परपंच न आपौ भाडै।।361।।

अर्थ :– छह अनायतनों का बुद्धिमानों को त्याग करना चाहिए। मिथ्या धर्म को छोड़कर जिन–धर्म को धारण करना चाहिए। छह अनायतनों की – कुगुरु, कुदेव, कुधर्म – ये तीन और तीन इनके सेवक – इनकी सम्यग्दृष्टि जीव प्रशंसा नहीं करते हैं। छह अनायतनों की जो प्रशंसा करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं। आत्मवैभव को छोड़कर शंका आदि आठ मल दोषों से लिप्त नहीं होना चाहिए।

जिनवच में शंका नहिं ल्यावै, जिनवाणी उर धरि दिढ़ भावै।
जग की वांछा सब छिटकावै, निःस्पृह भाव अचल ठहरावैं।।362।।

अर्थ :– 1. जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शंका नहीं करनी चाहिए। जिनेन्द्र भगवान की वाणी को हृदय में धारण करना चाहिए। यह निःशंकित अंग कहलाता है। 2. संसार संबंधी सब प्रकार की वांछाओं को छोड़कर निःस्पृह भाव से स्थित रहना चाहिए। यह नि:कांक्षित अंग कहलाता है।

जिनके अशुभ उदै दुख पीरा, तिनकी पीर हरै वर वीरा।
नाहिं गिलानि धरै मन माहीं, साँची दृष्टि धरै शक नाहीं।।363।।

अर्थ :– 3. किसी जीव के अशुभ कर्म के उदय से दुख–पीड़ा उत्पन्न हुई हो तो मनमें भी किसी प्रकार की ग्लानि के भाव नहीं रखकर उसके दुख–पीड़ा को दूर करना चाहिए। 4. जिनधर्म में समीचीन दृष्टि रखना अर्थात् अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है।

कबहुँ पर को दोष न भाखै, पर उपगार दृष्टि नित राखै।
अपनो अथवा पर को चित्ता, चल्यौ देखि थांभै गुणरत्ता।।364।।

थिरीकरण समकित कौ अंगा, धारै समकित धार अभंगा।
जिनधर्मी सूं अति हित राखै, सो जिनमारग अमृत चाखै।।365।।

अर्थ :– 5. कभी भी दूसरों के दोषों को प्रकट नहीं करना चाहिए। निरंतर दूसरों के ऊपर उपकार की दृष्टि रखनी चाहिए। यह उपगूहन अंग का द्योतक है। 6. गुणों में अनुरक्त जीव अपने और पर के चित्त को धर्म से विचलित होता देखकर, स्व और पर को धर्म में स्थिर करते हैं। यह स्थितिकरण अंग का स्वरूप है। स्थितिकरण सम्यक्त्व का एक अंग है, जिसको धारण करने से सम्यग्दर्शन भी स्थिर रहता है। 7. जिनधर्मियों में जो अत्यन्त वात्सल्य भाव रखते हैं, वे जिनमार्ग के अमृत का स्वाद लेते हैं।

तुरत जात बछरा परि जैसें, गाय जीव देय है तैसें।
साधर्मी परि तन धन बारै, गुण वत्सल्य धरै अघ ढारै।।366।।

अर्थ :– तुरन्त उत्पन्न हुए बछड़े के प्रति जैसे गाय अपनी जान लगा देती है; उसी प्रकार साधर्मी जीवों के प्रति जो तन, मन, धन आदि सब कुछ लगाते हैं; वे वात्सल्य गुण को धारण करके पापों का नाश करते हैं।

मन वच काय करै वह ज्ञानी, जिनदासनि को दासा जानी।
जिनमारग की करै प्रभावन, भावै ज्ञानी चउ विधि भावन।।367।।

अर्थ :– 8. ज्ञानी मनुष्य जिन-भक्तों का दास बन जाता है। मन, वचन, काय से जिनमार्ग की प्रभावना करनी चाहिए। ज्ञानी चार प्रकार की भावनाएँ भाता है।

सब जीवनि में मैत्रीभावा, गुणवंतनिकूं लखि हरसावा।
दुखी देखि करुणा उर आनें, लखि विपरीत राग न ठानें।।368।।

अर्थ :– 1. समस्त जीवों के साथ मैत्री भाव रखना चाहिए, 2. गुणवानों को देखकर प्रसन्नता होनी चाहिए, 3. दुखी जनों को देखकर हृदय में करुणा भाव उमड़ना चाहिए एवं 4. दुर्जन, दुष्ट मनुष्यों को देखकर राग-द्वेष भाव उत्पन्न नहीं होने चाहिए एवं विपरीत परिस्थिति में भी राग-द्वेष भाव नहीं होने चाहिए।

दोषहु माहीं है मध्यस्था, ए चउ भावन भावै स्वस्था।
जिन चैत्याले चैत्य करावै, पूजा अर परतिष्ठा भावै।।369।।

तीरथ जात्रा सूत्र सु भक्ति, चउविधि संघ सेव है युक्ति।
ए है सप्त क्षेत्र परिसिद्धा, इनमें खरचै धन प्रतिबुद्धा।।370।।

अर्थ :– अर्थात् शत्रुओं के प्रति माध्यस्थ भाव रखना चाहिए। इन चार भावनाओं को अवश्य भाना चाहिए।

प्रतिबुद्ध – ज्ञानी जीवों को, 1. जिन चैत्यालय बनवाना चाहिए, 2. उनमें जिनप्रतिमा विराजमान करनी चाहिए। 3–4. उन प्रतिमाओं की पूजा एवं प्रतिष्ठा करवानी चाहिए, 5. तीर्थयात्रा करनी चाहिए, 6. जिन आगम में (फटे हुए शास्त्रों को व्यवस्थित करवाना एवं नये छपवाना आदि) भक्ति रखनी चाहिए और 7. चतुर्विध (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) संघ की वैयावृत्ति करनी चाहिए। इन प्रसिद्ध सात प्रकार के क्षेत्रों में अपने धन का उपयोग करना चाहिए।

जीरण चैत्यालय की मरमति, करवावै अर पुस्तक की प्रति।
साधर्मी कूँ बहु धन देवे, या विधि परभावन गुन लेवे।।371।।

अर्थ :– पुराने मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाना चाहिए। पुराने शास्त्रों को लिखवाना चाहिए या छपवाना चाहिए। गरीब साधर्मी जनों की धनादि से सहायता करनी चाहिए। इस प्रकार प्रभावना अंग का पालन करना चाहिए।

कहे अंग ए अष्ट प्रतक्षा, नाहिं धरवौ सोई मल लक्षा।
इन अंगनि करि सीझै प्रानी, तिनको सुजस करै जिनवानी।।372।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन के उपर्युक्त आठ अंगों को धारण करना चाहिए। इन अंगों का पालन भलीभाँति नहीं करने वालों के सम्यग्दर्शन में दोष लगते हैं अर्थात् उनका सम्यग्दर्शन मलिनता को प्राप्त होता है। इन अंगों को पालन करने वालों का जिनवाणी में यश गाया गया है।

जीव अनन्त भये भवपारा, कौ लग कहिये नाम अपारा।
कैयक के शुभ नाम बखानों, श्रुत–अनुसार हिए में आनो।।373।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन को अंग सहित धारण करने से अनन्त जीव संसार–समुद्र से पार हुए हैं। कहाँ तक उन अनन्त जीवों का स्मरण करें। फिर भी आगम के अनुसार कुछ जीवों के शुभ नाम कहता हूँ, उनको हृदय में धारण करो।

अंजन और अनन्तमति जो, राव उदायन कर्म हतीजो।
रेवति राणी धर्म–गढासा, सेठ जिनेन्द्र भक्त अघ नासा।।374।।

अर्थ :– प्रथम नि:शंकित अंग में अंजन चोर, दूसरे नि:कांक्षित अंग में अनन्तमती, तीसरे निर्विचिकित्सा अंग में कर्मनाशक उद्दायन राजा, चौथे अमूढ़दृष्टि अंग में रेवती रानी और पाँचवें उपगूहन अंग में पापनाशक जिनेन्द्र भक्त सेठ प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

पर औगुन ढाँके जिह भाई, जिनवर की आज्ञा उर लाई।
वारिषेण ओ विष्णुकुमारा, वज्रकुमार भवोदधि तारा।।375।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भक्त सेठ ने दूसरों के अवगुणों को आच्छादित कर जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को हृदय में धारण किया था। छठे स्थितिकरण अंग में वारिषेणकुमार, सातवें वात्सल्य अंग में विष्णुकुमार महामुनि एवं आठवें प्रभावना अंग में संसार-समुद्र से पार उतरने वाले वज्रकुमार राजा प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं।

अष्ट अंग करि अष्ट प्रसिद्धा, और बहुत हुए नर सिद्धा।
अठ मद त्यागि अष्ट मल त्यागा, तीन मूढ़ता त्यागि सभागा।।376।।
षट् जु अनायतना को तजिवौ, ए पच्चीस महागुण भजिवौ।
अर तजिवौ तिनकूँ भय सप्ता, निर्भय रहिवौ दोष अलिप्ता।।377।।

अर्थ :– इन आठों अंगों में आठ महापुरुष सिद्ध हुए हैं। अन्य भी बहुत मनुष्य प्रसिद्ध हुए हैं। आठ मदों का त्याग करके शंकादिक आठ दोषों का त्याग करना चाहिए। तीन मूढ़ता एवं छह अनायतनों का त्याग करके सम्यग्दर्शन के 25 गुण धारण करने चाहिए। सात भयों का त्याग करके निर्भयता से दोष रहित सम्यक्त्व का पालन करना चाहिए।

इह भव पर भव को भय नाहीं, मरण वेदना भय न धराहीं।
हमरौ रक्षक कौम नाहीं, इह संशय नाहीं घट माहीं।।378।।

अर्थ :– 1. इस लोक का भय, 2. परलोक संबंधी भय, 3. मरण भय, 4. वेदना भय, 5. हमारा रक्षक कोई नहीं है - इस प्रकार की शंका हृदय में नहीं होनी चाहिए अर्थात् अत्राण भय।

सबको रक्षक आयु जु कर्मा, कै जिनवर जिनवर को धर्मा।
और न रक्षक कोई काकों, इह गुरु गायौ गाढ़ जु ताकों।।379।।

अर्थ :– सबका रक्षक आयु कर्म है अर्थात् आयु कर्म विद्यमान - सत्ता में है तो कोई मारने वाले नहीं हैं। अथवा जिनेन्द्र भगवान या जिनधर्म के अतिरिक्त कोई किसी का रक्षक नहीं है - ऐसा गुरुओं ने कहा है।

अर नहिं चोर तनों भय जाकों, अपनो निज धन पायौ ताकों।
चिद् धन चोर्‌यौ नाहीं जावै, तातें चित्त अडोल रहावै।।380।।

अर्थ :– 6. चोर भय - जिन्होंने अपनी आत्मा का वैभव प्राप्त कर लिया है, उनको चोर का भय नहीं रहता है; क्योंकि चैतन्य-धन को कोई नहीं चुरा सकता है; इसलिए उन महापुरुषों का चित्त निश्चल रहता है।

अर नहिं अकस्मात भय कोई, जिन-सम लखियौ निज तन जोई।
चेतन रूप लख्यौ अविनासी, तातें ज्ञानी है सुख रासी।।381।।

अर्थ :- 7. अकस्मात् भय - जिन्होंने जिनेन्द्र भगवान के समान अपने को देखा है अर्थात् चैतन्य रूप अविनाशी देखा है, ऐसे जीव ज्ञान एवं सुख के भंडार को अर्थात् अनंत ज्ञान, अनंत सुख को प्राप्त होते हैं।

काहू को भय तिनकों नाहीं, भय-रहिता निरबैर रहाहीं।
सप्त भया त्यागे गुण होई, सप्त बिसन तजियो शुभ जोई।।382।।

अर्थ :- ऐसे जीवों को किसी का भय नहीं रहता है। जो भय रहित होते हैं, उनको किसी से वैर-विरोध नहीं रहता है। हे भाई! सप्त भयों का त्याग करने से सप्त गुण प्रकट होते हैं। शुभ में लगकर सप्त व्यसनों का भी त्याग करना चाहिए।

सप्त सप्त मिलि चौदा गुन ए, मिलि पचीसा गुणताल जु ए।
पंच अतीचार कों टारौ, शंका कांक्षा कबहू न धारौ।।383।।

नहिं दुरगंध भाव कबै ही, नहिं मिथ्यात सराह करै ही।
नहिं स्तवन मिथ्यादृष्टि को, यह लक्षण सम्यकदृष्टि को।।384।।

अर्थ :- ये सात-सात मिलकर 14 गुण, 25 गुणों में मिलाने से 39 गुण हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि 5 अतीचारों को टालते हैं। शंका - संदेह और कांक्षा - भोगों की इच्छा नहीं करते हैं। जुगुप्सा (ग्लानि) युक्त भावों को नहीं करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व की मन से सराहना - प्रशंसा नहीं करते हैं एवं वचन से उनका संस्तव - स्तवन नहीं करते हैं। ये सम्यग्दृष्टि जीव के लक्षण हैं।

पंच अतीचारनि कूँ त्यागा, सो ह्वै पंच गुणा बड़ भागा।
मिलि गुणताली चौवालीसा, गुणा होंहिं भाषें जगदीसा।।385।।

अर्थ :- पाँच अतीचारों को छोड़कर पाँच गुणों को धारण करने वाले बड़े भाग्यशाली होते हैं। 39 गुणों में इन पाँच को मिलाने से 44 गुण जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं।

इनकूँ धारै सम्यकती सो, भव भ्रम तजि पावे मुक्ति सो।
ए गुन मिथ्याती के नाहीं, आतमज्ञान न मिथ्या माहीं।।386।।

अर्थ :- जो सम्यग्दृष्टि जीव इन 44 गुणों को धारण करते हैं, वे भव-भ्रमण का नाश कर मुक्ति को प्राप्त होते हैं। मिथ्यादृष्टि के ये गुण नहीं होते हैं; क्योंकि मिथ्यात्वी के आत्मज्ञान नहीं होता है।

उक्तं च (गाथा) –

मयमूढमणायदणं संकाइवसण्णभयमईयारं।
एहिं चउदालेदै ण संति ते हुंति सद्दिट्ठी।।1।।

वचनिका – जिनके अष्ट मद नाहीं, तीन मूढ़ता नाहीं, षट् आयतन नाहीं, शंकादि अष्ट मल नाहीं, सप्त व्यसन नाहीं, सप्त भय नाहीं, पंच अतीचार नाहीं, ए चवालीस नाहीं; ते सम्यग्दृष्टि कहे।

अर्थ :– जिनके आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन, शंकादि आठ मल, सप्त व्यसन, सप्त भय और पाँच अतीचार नहीं होते हैं; वे सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं।

दोहा

व्रत के मूल जु मूलगुण, सम्यक सबको मूल।
कह्यौ मूलगुण को सुजस, सुनि व्रतविधि अनुकूल।।387।।

अर्थ :– व्रत की जड़ मूलगुण है। उनमें सम्यग्दर्शन मुख्य है। इस प्रकार व्रतविधि के अनुसार यहाँ मूलगुणों का कथन किया गया है।

।। इति क्रियाकोषे मूलगुणनिरूपणम् ।।

(क्रियाकोष में मूलगुणों का निरूपण पूर्ण हुआ।)

।। अथ बारह व्रत वर्णन ।।

दोहा

द्वादस व्रत्तनि की सुविधि, जा विधि भाषी वीर।
सो भाषों जिन गुण जपी, जे धारें ते धीर।।388।।

अर्थ :– बारह व्रतों की सम्यक् विधि जैसी वीर भगवान ने कही है, जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करके मैं वही विधि कहता हूँ। जो इन बारह व्रतों को धारण करते हैं, वे धीर पुरुष हैं।

द्वादस व्रत माहें प्रथम, पंच अणुव्रत सार।
तीन गुणव्रत चारि पुनि, शिक्षा व्रत आचार।।389।।

अर्थ :– बारह व्रतों में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहे हैं।

हिंसा मृषा अदत्तधन, मैथुन परिग्रह साज।
एकदेश त्यागी गृही, सर्व त्यागि रिषिराज।।390।।

अर्थ :– हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह – इन पाँच पापों का एकदेश त्याग गृहस्थ करते हैं और सर्वदेश त्याग मुनिराज करते हैं।

।। अथ अहिंसा व्रत का वर्णन ।।

सब व्रत्तनि के आदि ही, जीवदया – व्रतसार।
दया सारि सौं लोक में, नहिं दूजौ उपगार।।391।।

अर्थ :– सब व्रतों में प्रथम 'जीवदया' ही सारभूत है। इस जगत में दया के समान और कोई दूसरा उपकारी नहीं है।

सिद्ध समान लख्यौं जिनें, निश्चय आतम राम।
सकल आतमा आपसे, लखै चेतना–धाम।।392।।

अर्थ :– निश्चयनय की दृष्टि से सब जीवों की आत्मा सिद्ध–समान है। समस्त जीवों की आत्मा अपने में चैतन्य स्वरूप है।

ते सब जीवनि की दया, करें विवेकी जीव।
मन वच तन करि सर्व को, शुभ वांछे जु सदीव।।393।।

अर्थ :– इसलिए वे विवेकी जीव समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव रखते हैं और मन, वचन, काय से समस्त प्राणियों के प्रति शुभ की इच्छा रखते हैं।

सुख सों जीवौ जीव सहु, क्लेश कष्ट मति होह।
तजौ पाप को सर्व ही, तजौ परस्पर द्रोह।।394।।

अर्थ :– सर्व जीव सुख–शांति से जीवन–यापन करें, किसी को भी कष्ट नहीं हो। सभी जीव परस्पर द्रोह (वैर) भाव छोड़कर पाप का त्याग करें।

काहू को हु पराभवा, कबहु करौ मति कोइ।
इह हमरी बांछा फलौ, सुख पावौ सहु लोई।।395।।

अर्थ :– कभी किसी जीव का तिरस्कार मत करो। इस जगत के समस्त प्राणी सुख की प्राप्ति करें, इस प्रकार की हमारी वांछा फलीभूत होवे।

सबके हित की भावना, राखै परम दयाल।
दयाधर्म उर में धरी, पावै पद जु विशाल।।396।।

अर्थ :– परम दयालु भव्य समस्त प्राणियों के कल्याण की भावना रखते हैं। दयाधर्म को हृदय में धारण कर उच्च पद की प्राप्ति करते हैं।

थावर पंच प्रकार के, चउविधि त्रस परवानि।
सबसों मैत्री भावना, सो करुणा उर आनि।।397।।

अर्थ :– वे हृदय में करुणा भाव धारण करके पाँच प्रकार के स्थावर जीवों एवं चार प्रकार के त्रस जीवों के प्रति मैत्री–भाव धारण करते हैं।

पृथ्वीकाय जलकाय का, अग्निकाय अर वाय।
काय बहुरि है वनस्पती, ए थावर अधिकाय।।398।।

अर्थ :– पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक – ये पाँच प्रकार के स्थावर जीव हैं।

बे इन्द्री ते इन्द्रिया, चउ इन्द्रिय पंचेन्द्रि।
ए त्रस जीवा जानिये, भावें साधु जितेन्द्रि।।399।।

अर्थ :– इन्द्रियों को जीतने वाले साधुजनों ने द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय जीवों को त्रस जीव कहा है।

कृत–कारित–अनुमोद करि, धरै अहिंसा जेह।
ते निर्वाण पुरी लहै, चउ गति पाणी देह।।400।।

अर्थ :– कृत–कारित–अनुमोदना पूर्वक जो अहिंसा कार्य को धारण करते हैं, वे चारों गतियों से छूटकर निर्वाण – लक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।

निरारंभि मुनि की दशा, तहां न हिंसा लेस।
छहूँ काय पीरा हरा, मुनिवर रहित कलेश।।401।।

अर्थ :– आरंभ और परिग्रह से रहित दिगम्बर साधुओं के लेशमात्र भी हिंसा नहीं होती। मुनिराज क्लेश रहित होकर छहों काय के जीवों की रक्षा करते हैं।

गृहपति के गृह जोगतें, कछु आरंभ जु होइ।
तातें थावरकाय को, दोष लगै अघ सोई।।402।।

अर्थ :– गृह–स्वामियों को गृहस्थ संबंधी कुछ आरम्भ करना पड़ता है, इसलिए स्थावरकायिक जीवों के घात संबंधी पाप लगता है।

पै न करे त्रस घात वह, मन वच तन करि धीर।
त्रस कायनि को पीहरा, जाने पर की पीर।।403।।

अर्थ :– परन्तु वे धैर्यवान मन, वचन, काय से त्रस जीवों की हिंसा नहीं करते। दूसरों की पीड़ा को अपनी पीड़ा मानकर, त्रस जीवों की पीड़ा का हरण करते हैं।

बिना प्रयोजन वह सुधी, थावर हू पीरै न।
जो निशंक थावर हनें, जिनके जिननी रैन।।404।।

अर्थ :– बुद्धिमान मनुष्य बिना प्रयोजन स्थावर जीवों को भी पीड़ा नहीं देते हैं। जो नि:शंक होकर स्थावर जीवों का घात करते हैं, उन्हें जैनधर्म रात्रि समान है अर्थात् वे जैन धर्म से बहिर्भूत हैं।

हिंसा को फल दुरगती, दया स्वर्ग–सुख देह।
पहुँचावै पुनि शिवपुरे, अविनाशी जु करेई।।405।।

अर्थ :– हिंसा का फल दुर्गति ही है। दया से स्वर्ग–सुख की प्राप्ति होती है एवं वही दया परम्परा से अविनाशी मोक्ष–सुख का कारण है।

दया मूल जिन धर्म को, दया समान न और।
एक अहिंसा व्रत्त ही, सब व्रत्तनि को मौर।।406।।

अर्थ :– जिनधर्म का मूल दया है। दया–समान और कोई बड़ा धर्म नहीं है। एक अहिंसाव्रत ही सब व्रतों में मुख्य है।

यम नियमादिक बहुत जे, भावें श्री जिनराय।
ते सहु करुणा कारणें, और न कोई उपाय।।407।।

अर्थ :– नाना प्रकार के यम–नियम आदि का जो पालन करते हैं, उनमें मूल कारण दयाभाव–करुणाभाव ही है। दया के बिना यम–नियम आदि कोई फल नहीं देते हैं।

बिना जैन मत यह दया, दूजै मत दीखै न।
दयामई जिनदास है, हिंसा विधि सीखै न।।408।।

अर्थ :– जिनमत के अतिरिक्त अन्य मतों में दया प्राय: दिखाई नहीं देती। दयावान ही जिनधर्म के पालक हैं। जैनधर्म में हिंसा को कोई स्थान नहीं है।

दया दया सब कोउ कहै, मर्म न जाने मूर।
अणछान्यूं पाणी पिवै, ते हि दया तें दूर।।409।।

अर्थ :– दया दया तो सब कहते हैं, परन्तु दया के मर्म को कोई नहीं जानते। जो बिना छना जल पीते हैं, वे दया धर्म से बहुत दूर हैं।

दया भली सबही रटै, भेद न पावै कोय।
वरतै अणगाल्यौ उदक, दया कहाँ ते होय।।410।।

अर्थ :– दया धर्म उत्तम है – यह रटन तो बहुत लोग लगाते हैं, परन्तु उसके मर्म को नहीं जानते। जो अनछने जल का उपयोग करते हैं, उनके द्वारा दया का पालन कैसे हो सकता है।

दया बिना करणी वृथा, यह भावे सब लोक।
न्हावै अणगाले जलहि, बाँधै अघ के धोक।।411।।

अर्थ :– इस जगत में दया धर्म के बिना सब प्रकार के क्रिया धर्म व्यर्थ हैं। जो स्नान करने, कपड़े धोने और बर्तन धोने आदि के काम में भी अनछना जल लेते हैं, वे बहुत पाप का बंध करते हैं।

छाण्यूं जल घटिका जुगल, पाछैं अगाल्यौ होय।
विना जैन यह बारता, और न जाने कोय।।412।।

अर्थ :– दो घड़ी (48 मिनिट) के बाद छना हुआ पानी अनछना हो जाता है। जैनमत के अतिरिक्त और कोई छने हुए पानी की यह मर्यादा नहीं जानते हैं।

दया समान न धर्म कोऊ, इह गावें नर–नारि।
निशा माहिं भोजन करें, जाहिं जमारो हारि।।413।।

अर्थ :– संसार में सब नर–नारी यही कहते हैं कि दया के समान और कोई धर्म नहीं है। रात्रि में जो भोजन करते हैं, उनका यह मनुष्य जन्म वृथा है।

दया जहां ही धर्म है, इह जाने संसार।
पै नहिं पावै भेद कों, भखै अभक्ष आहार।।414।।

अर्थ :– यह सारा संसार जानता है कि जहाँ दया है, वहीं धर्म है; फिर भी दया के मर्म को नहीं समझता हुआ प्राणी अभक्ष्य वस्तुओं का सेवन करता है।

दया बड़ी सब जगत में, धरै न मूढ़ तथापि।
पर–दारा पर–धन हरै, परै नरक में पापि।।415।।

अर्थ :– इस जगत में दया सबसे महान है। तो भी जो पापी, मूर्ख दया रहित होकर पर–स्त्री एवं पर–धन का हरण करते हैं, वे उनके फलस्वरूप नरक के दुखों को प्राप्त होते हैं।

दया होय तौ धर्म ह्वै, प्रकट बात है एह।
तजै न तोहू द्रोह पर, धरै न धर्म सनेह।।416।।

अर्थ :– जहाँ दया है, वहीं धर्म है। यह बात तो स्पष्ट है। तो भी जीव राग–द्वेष आदि को नहीं छोड़ते हुए धर्म में प्रेम नहीं करते।

व्रत्त करै पुनि मूढ़धी, अन्न त्यागि फल खाय।
कंदमूल भक्षण करै, सो व्रत निष्फल जाय।।417।।

अर्थ :– जो मूढ़ पुरुष व्रत धारण हेतु अन्न का त्याग करके कंदमूल फल का भक्षण करते हैं, उन जीवों के व्रत निष्फल हैं।

दया धर्म कीजे सदा, इह जंपै जग सर्व।
नहिं तथापि सब सम गिने, हनै न आठूं कर्म।।418।।

अर्थ :– दया धर्म निरन्तर पालो, ऐसा सब कहते हैं; फिर भी जो समस्त प्राणियों को अपने समान नहीं मानते, वे आठों कर्मों का नाश नहीं करते।

परम धर्म है यह दया, कहै सकल जन एह।
चुगली–चांटी नहिं तजै, दया कहाँ ते लेह।।419।।

अर्थ :– समस्त जन दया को परम धर्म कहते हैं; परन्तु यदि वे चुगली, निंदा आदि को नहीं छोड़ते हैं तो उनके दया धर्म का पालन नहीं होता है।

दया व्रत्त के कारणें, जे न तजें आरम्भ।
तिनके करुणा होय नहिं, इह भाषें परब्रह्म।।420।।

अर्थ :– परब्रह्म अर्थात् जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि दया व्रत के पालन करने के लिए जो हिंसा–जन्य आरंभ का त्याग नहीं करते, उनके हृदय में करुणाभाव भी नहीं रह सकता।

दया धर्म को छांड़िकै, जे पशु घात करेय।
ते भव भव पीड़ा लहै, मिथ्या मारग सेय।।421।।

अर्थ :– दयाधर्म को छोड़कर जो पशुओं का घात करते हैं, वे मिथ्या मार्ग का सेवन करते हुए भव–भव में दुख उठाते हैं।

दया बतावें सब मता, समझ न काहू माहिं।
धर्म गिने हिंसा विषैं, जतन जीव को नाहीं।।422।।

अर्थ :– अन्य मतों में भी दया का कथन है, परन्तु दया का यथार्थ अर्थ उन्होंने नहीं समझा है। अन्य मत वाले हिंसा में धर्म मानते हैं; अत: जीवों को बचाने का प्रयत्न नहीं करते हैं।

दया नहीं परमत विषें, दया जैनमत माहिं।
बिना फैन यह जैन है, यामें संशय नाहिं।।423।।

अर्थ :– अन्य मतों में दया है ही नहीं। जिनमत में ही दयाधर्म है। इसमें कोई संशय नहीं है। जिसमें दया है, वह बिना कहे है, बिना बताये ही जैन है।

दया न मिथ्या मत विषें, कहै कहाँ लौं वीर।
करुणा सम्यक भाव है, यह निश्चय धरि धीर।।424।।

अर्थ :– हे वीर! मिथ्या मत में दया नहीं है। यह बात हम कहाँ तक कहें? करुणाभाव ही समीचीन भाव है। यह निश्चय कर हृदय में धारण करो।

काहे के वे देवता, करें जु मांस अहार।
ते चंडाल बखानिये, तथा श्वान मार्जार।।425।।

अर्थ :– वे कैसे देवता हैं, जो मांसाहार करते हैं? वे तो चांडाल, कुत्ता और बिलाव के समान ही हैं।

देवनि को आहार ह्वै, अमृत और न कोय।
मांसाशी देवानिकूं, कहै सु मूरखि होय।।426।।

अर्थ :– देवता तो अमृतमयी रस (जो उनके गले में स्वत: झर जाता है) का आहार करते है। उनका और कोई दूसरा आहार नहीं है। जो देवों को मांसाहारी कहते हैं, वे महामूर्ख हैं।

मंगल कारण जे जणा, जीवनि को जु निपात।
करें अमंगल ते लहें, होय महा उतपात।।427।।

अर्थ :– मंगल-शुभ कार्य के लिए जो जीवों का घात (बलि आदि देना) कहते हैं, वे निरन्तर अमंगल रूप महान उत्पातों (उपद्रवों) को भोगते हैं।

जे अपने जीवे निमित, करे और को नास।
ते लहि कुमरण वेग ही, गहें नरक को वास।।428।।

अर्थ :– मंगल-शुभ कार्य के लिए जो जीवों का घात (बलि आदि देना) कहते हैं, वे निरन्तर अमंगल रूप महान उत्पातों (उपद्रवों) को भोगते हैं।

मद्य मांस मधु खाय करि, जे बाँधे अघ कर्म।
ते काहे के मिनख हैं, इह भाखै जिनधर्म।।429।।

अर्थ :– मद्य, मांस और मधु का सेवन करके जो महान पाप कर्म बाँधते हैं, उनको जिनधर्म में मनुष्य नहीं कहा है।

कन्दमूल फल खाय करि, करै जु वन को वास।
तिनको वनवासा वृथा, होय दया को नास।।430।।

अर्थ :– कन्दमूल फल भक्षण करके जो वन में निवास करते हैं, उन जीवों का दया धर्म से रहित होने से वन में निवास करना व्यर्थ है।

बिना दया तप है कुतप, जाकरि कर्म न जाय।
हिंसक मिथ्यामत धरा, नरक निगोद लहाय।।431।।

अर्थ :– दया धर्म बिना तप कुतप है। उस तप से कर्म का नाश नहीं होता। मिथ्या मत धारण करने वाले हिंसक जीव नरक–निगोद आदि दुर्गतियों को प्राप्त होते हैं।

जैसो अपनो आतमा, तैसे सब ही जीव।
यह लखि करुणा आदरौ, भाखें त्रिभुवन–पीव।।432।।

अर्थ :– तीन भुवन के रक्षक जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जैसी अपनी आत्मा है, उसके समान समस्त जीवों की आत्मा है। ऐसा समझ कर करुणा भाव धारण करो।

छन्द जोगीरासा

काहे के ते तापस दुष्टा, करुणा नाहिं धरावें।
कर अपनी आरम्भ सपष्टा, जीव अनेक जरावें।।
जे तजि कपड़ा तप के कारण धारें शठमति चर्मा।
ते न तपस्वी भवदधि कारण, बांधे अशुभ जु कर्मा।।433।।

अर्थ :– जिनमें दया भाव नहीं हैं, वे तपस्वी कैसे हो सकते हैं? जो अनेक आरम्भों को करते हुए अनेक जीवों को जलाते हैं, जो शठ तपश्चरण के बहाने वस्त्र का त्याग कर, चर्म को धारण करते हैं; वे मूढ़ बुद्धि तपस्वी संसार के कारणभूत अशुभ कर्मों को बाँधते हैं।

रिषि तौ ते जे जिनवर–भक्ता, नगन दिगम्बर साधा।
भव तनु भोग थकी जु विरक्ता, करै न थिर चर बाधा।।

मैत्री मुदिता करुणा भावा, मध्यस्था जु धारै।
राग दोष मोहादि अभावा, ते भवसागर तारै।।434।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान के भक्त अर्थात् उनके बताये हुए मार्ग पर चलने वाले नग्न दिगम्बर साधु ही सच्चे तपस्वी हैं। जो संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हैं तथा जो त्रस-स्थावर जीवों को कष्ट नहीं देते; वे साधु मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावों को धारण करते हैं एवं जो राग-द्वेष मोह आदि भावों से रहित हैं, वे संसार-समुद्र से पार उतारने वाले हैं।

बिना दया नहिं मुनिव्रत होई, दया बिना न गृही ह्वै।
उभय धर्म को सरवस करुणा, जा बिन धर्म नहीं ह्वै।।
दया करौ मुखतैं सब भाखें भेद, न पावे पूरा।
बासी भोजन भखि करि भोंदू, रहे रे धर्म तें दूरा।।435।।

अर्थ :– दया बिना मुनिधर्म नहीं है और दया बिना गृहस्थ धर्म का भी पालन नहीं होता। दोनों ही धर्मों में दया धर्म ही मूल है। दया के बिना धर्म नहीं रह सकते। 'दया करो', 'दया करो' – ऐसा मुख से तो सब जन कहते हैं, परन्तु अभ्यन्तर मर्म को नहीं जानते। वे अज्ञानी बासी भोजन करने के कारण दया धर्म से बहुत दूर हैं।

बासी भोजन माहिं जीव बहु, भखें दया नहिं होई।
दया बिना नहिं धर्म न व्रत्ता, पावै दुरगति सोई।।
अत्थाणा संधाण मथाणा, कांजी आदि अ हारा।
करें विवेक बाहिरा कुबुधी, तिनके दया न धारा।।436।।

अर्थ :– बासी भोजन में बहुत जीव होते हैं। जो बासी भोजन करते हैं, उनके दया धर्म का पालन नहीं हो सकता। दया बिना धर्म और व्रत कुछ भी नहीं होते, अपितु जीव दुर्गति को ही पाते हैं। जो मनुष्य अत्थाण, संधाण, मत्थाणा एवं काँजी आहार को करते हैं; वे अज्ञानी एवं अविवेकी हैं। उनके भी दया धर्म का पालन नहीं होता।

मांसाशी के घर का भोजन, करें कुमति के धारी।
तिनके घट करुणा कहु कैसे, कहां शोध आचारी।।
तातौ पाणी आठ हि पहरा, आगें त्रस उपजाहिं।
ताकी तिनका सुधि बुधि नाहीं, दया कहां तिन माहिं।।437।।

अर्थ :– खोटी बुद्धिवाले जीव मांसभक्षी के यहाँ भोजन करते हैं। मांसभक्षियों के हृदय में करुणा भाव नहीं होता एवं किसी प्रकार का आचार-विचार नहीं होता।

गरम पानी की मर्यादा 24 घंटे की है। 24 घंटे के बाद उस पानी में त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। इस मर्यादा का मांसभक्षियों को ज्ञान नहीं होता है तो फिर उनमें दया धर्म कहाँ हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता।

निशि को पीस्यौ निसि को रांध्यौ, थींधौ सीधौ खावै।
हरितकाय रांधी सब स्वादै, दया कहां तें पावै।।
चर्म–पतित घृत तेल जलादिक, तिसमें दोष न मानें।
गिनें न दोष हींग में मूढा दया कहां ते आने।।438।।

अर्थ :– जो रात में पीसा हुआ, रात में बनाया (राँधा) हुआ एवं बींधा हुआ अनाज खाते हैं और अपने स्वाद के लिए हरितकाय को राँधते हैं, उनमें दया कहाँ हो सकती है? चमड़े में रखे हुए घी, तेल, जल आदि में जो दोष नहीं मानते एवं जो मूर्ख हींग में (चमड़े में रखी हुई) दोष नहीं मानते, उनमें दया कैसे मानी जावे?

हाटें बिकते चून मिठाई, कहे तिनें निरदोषा।
भखें अजोगि अहार सबै ही, दया कहां तें पोषा।।
दूध दही अरु छाछि नीर को, जिनके कछु न विचारा।
दया कहां है तिनके भाई, नहीं शुद्ध आचारा।।439।।

अर्थ :– जो बाजार का आटा एवं मिठाई को शुद्ध मानते हैं और सब प्रकार के अयोग्य आहार का भक्षण करते हैं, उनके दया धर्म का पालन कहाँ है? दूध, दही, छाछ एवं पानी की मर्यादा का जिनको किसी प्रकार का विचार नहीं है। हे भाई! उनके दया नहीं है एवं उनका आचार–विचार शुद्ध नहीं है।

सूडा नहीं मल मूत्रादिक की, ढोर समाना तेई।
तिनकूं जो नर जैनी जाने, ते नहिं शुभ मति लेई।।
बाधक जिन शासन सरधा के, साधकता कछु नाहीं।
साधु गिनें तिनकूं जे कोई, ते मूरख जग माहीं।।440।।

अर्थ :– जिनको मल–मूत्रादिक से घृणा नहीं है, वे पशु समान हैं। ऐसे मनुष्य को जो जैन मानते हैं, वे शुभ मति को धारण करने वाले नहीं हैं। जो जिनशास्त्र की श्रद्धा में बाधक हैं, साधक नहीं हैं; ऐसे मनुष्यों को जो साधु पुरुष मानते हैं, वे इस जगत में मूढ़ हैं, मूर्ख हैं।

एक बार को नियम न कोई, बार बार जल पाना।
बार बार भोजन को करिवौ, तिनके व्रत न जाना।।

त्रस काया को दूषण जामें, सो नहिं प्रासुक कोई।
भखै असूत्री शठमति जोई, नाहीं व्रत धर होई।।441।।

अर्थ :– जो बार-बार जलपान करते हैं एवं बार-बार भोजन करते हैं अर्थात् जिनको एक बार का नियम नहीं है, उनके व्रत नहीं जानना चाहिए। जिनमें त्रसकायिक जीवों का सद्भाव है, ऐसी वस्तुएँ प्रासुक नहीं होतीं। जिनागम के विपरीत जो मूर्ख उन वस्तुओं का भक्षण करते हैं, उनके कोई व्रत का पालन नहीं होता है।

दयाधर्म को परकाशक है, जिन मंदिर जगमाहीं।
ताहि न पूजें पापी जीवा, तिनके समकित नाहीं।।
कारण आतम-ध्यान तणीं है, श्री जिन प्रतिमा शुद्धा।
नाहिं न बन्दें निन्द जु तेई, जानहु महा अबुद्धा।।442।।

अर्थ :– इस जगत में दया धर्म का प्रकाशक जिनमन्दिर है। जो पापी जीव जिनमन्दिर की पूजा नहीं करते हैं, उनके सम्यक्त्व नहीं होता।

जिनप्रतिमा आत्मध्यान का एवं आत्मशुद्धि का प्रमुख कारण है। उनकी जो वंदना नहीं करते, परन्तु निंदा करते हैं; वे बड़े अज्ञानी हैं।

बूढ़ें नरक मझार महा शठ, जे जिन प्रतिमा निन्दे।
जाहिं निगोद विवेक-वितीता, जे जिनगृह नहिं वन्दें।।
अज्ञानी मिथ्याती मूढ़ा, नहीं दया को लेशा।
दयावन्त तिनकूं जे भाणें, ते न लहें निज देशा।।443।।

अर्थ :– जो जिनप्रतिमा की निंदा करते हैं, वे महा मूर्ख नरक गति को प्राप्त होते हैं और जो जिनमन्दिर की वंदना नहीं करते; वे विवेक रहित, निगोद के दुखों को प्राप्त होते हैं।

अज्ञानी, मिथ्यात्वी और मूर्ख जीवों के लेशमात्र भी दया भाव नहीं होता। उनको जो दयावान कहते हैं, वे कभी भी अपने निजी स्थान को अर्थात् शाश्वत सुख को प्राप्त नहीं होते हैं।

दोहा

सुर नर नारक पशुगति, ए चारों परदेश।
पंचमगति निज देश है, यामें भ्रांति न लेश।।444।।

अर्थ :– देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंच – ये चारों गति परदेश स्थानीय अर्थात् दूसरे का देश मानी गई हैं और पंचम गति अपना स्वदेश अर्थात् निजी स्थान है। इनमें लेशमात्र भी भ्रांति नहीं है।

पंचम गति की कारणा, जीवदया जग माहिं।
दया सारिखौ लोक में, और दूसरौ नाहिं।।445।।

अर्थ :– इस जगत में पंचम गति की कारणभूत जीवदया है। दया के समान इस जगत में और कोई महान नहीं है।

दया दोय विधि है भया, स्व–पर दया श्रुत माहिं।
सो धारौ दृढ़ चित्त में, जाकरि भव–भ्रम जाहिं।।446।।

अर्थ :– हे भाई! आगम में दया दो प्रकार की कही गई है – 1. स्वदया और 2. परदया। अपने चित्त में दृढ़तापूर्वक दया धारण करने से भव–भ्रमण छूट जाता है।

स्वदया कहिये सो सुधी, रागादिक अरि जेह।
हनें जीव की शुद्धता, टारि तिन्हें शिव लेह।।447।।

प्रकट करै निज शुद्धता, रागादिक मन मोरि।
निज आतम रक्षा करै, डारै कर्म जु तोरि।।448।।

सो स्वदया भाषें गुरु, हरे कर्म–विस्तार।
निजहि बचावै काल तें, करै जीव निस्तार।।449।।

अर्थ :– हे बुद्धिमान! अब स्व–दया को कहते हैं। जो राग–द्वेष रूप शत्रुओं का नाश करके, जीव की शुद्धता को प्रकट करते हैं; उन्हें ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। जो रागादिक की ओर से मन को मोड़कर, आत्मा की शुद्धता प्रकट करते हैं और कर्मों का नाश करके अपनी आत्मा की रक्षा करते हैं, उन्हें गुरुओं ने स्व–दया पालक कहा है। स्व–दया कर्म–विस्तार हरने वाली है एवं मरण से बचाकर जीव को संसार–समुद्र से पार करने वाली है।

षट् काया के जीव सहु, तिनतें हेत रहाय।
वैरभाव नहिं कोइ सूं, सो पर–दया कहाय।।450।।

अर्थ :– सर्व छह काय के जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना, किसी भी जीव के प्रति वैरभाव नहीं रखना, उसी को पर–दया कहते हैं।

दया मात सब जगत की, दया धर्म को मूल।
दया उधारै जगत तें, हरै जीव की भूल।।451।।

अर्थ :– दया सब जगत की माता है, दया धर्म का मूल है, दया जीव की भूल को नाश करके संसार से पार उतारने वाली है।

दया सुगुन की बेलरी, दया सुखन की खान।
जीव अनन्ता सीजिया, दयाभाव उर आन।।452।।

अर्थ :– दया सुगुण की बेल है, दया सुख की खान है। दया भाव को हृदय में धारण करके अनन्त जीव पार हुए हैं।

स्व–पर दया दो विधि कही, जिनवाणी में सार।
दयावन्त जे जीव हैं, ते भावें भव–पार।।453।।

अर्थ :– स्व–दया और पर–दया के भेद से दया दो प्रकार की है। जिनवाणी में दया ही सारभूत है। दयावान जीव ही भव से पार होते हैं।

सवैया इकतीसा

सुकृत की खानि इन्द्रपुरी की निसेंनी जानि,
पाप–रज खंडन कों पौनराशि पेखिये।
भवदुख–पावक बुझायवे कूं मेघमाला,
कमला मिलायवे को दूती ज्यूं विसेखिये।।
मुकति–बधूसों प्रीति पालिवे कों आलो सम,
कुगति के द्वार दिढ़ आगल–सी देखिये।
एसी दया कीजै चित्त तिहूँ लोक प्राणी हित,
और करतूति काहू लेखे में न लेखिये।।454।।

अर्थ :– दया सुकृत की खान है, स्वर्ग की नसैनी है, पाप–रज का नाश करके पुण्य–राशि को दिखाने वाली है, संसार की दुखरूपी अग्नि को बुझाने के लिए मेघ–माला है, मोक्ष–लक्ष्मी को मिलाने के लिए दूती है, मुक्ति–वधू से प्रीति रखने के लिए सखी है, कुगति के द्वार के लिए दृढ़ अर्गला है। ऐसी दया को चित्त में धारण करो, जो तीन लोक के प्राणियों का कल्याण करने वाली है। दया के अतिरिक्त और कोई कार्य इतनी महत्ता धारण करने वाला नहीं है अर्थात् उसकी कहीं कोई गिनती नहीं है।

दोहा

जो कहुं पाषाण जल, माहिं तिरै अर भान।
ऊगै पश्चिम की तरफ, दैवयोग परवान।।455।।

शीतल गुन ह्वै अगनि में, धरा पीठ उलटेय।
तौ हू हिंसा–कर्मतें, नाहीं शुभ गति लेय।।456।।

अर्थ :– यदि कभी पत्थर पानी में तैरने लग जावे, दैवयोग से सूर्य पश्चिम दिशा में ऊगने लग जावे, अग्नि में शीतलता आ जावे और पृथ्वी पूरी उल्टी हो जावे तो भी हिंसा कर्म से कभी शुभ गति की प्राप्ति नहीं होती है।

जो चाहै हिंसा करी, धर्म मुकति को मूल।
सो अगनी सूं कमल–वन, अभिलाषै मति भूल।।457।।

अर्थ :– जो हिंसा कर्म करके मुक्ति के मूलभूत धर्म की वांछा करते हैं, वे मति–भ्रष्ट अग्नि से कमल–वन की उत्पत्ति की अभिलाषा करने वाले हैं।

प्राणि–घात करि जा कुधी, बांछै अपनी वृद्धि।
सो सूरज के अस्त में, चाहे वासर शुद्धि।।458।।

अर्थ :– जो कुबुद्धि प्राणि–घात करके अपनी वृद्धि चाहते हैं, वे सूर्य अस्त होने के बाद दिन की शुद्धि चाहते हैं।

जो चाहै व्रत धर्म को, करै जीव को नास।
सो शठ अहिके वदन ते, करै सुधा की आस।।459।।

अर्थ :– जो जीवों का घात करके व्रत और धर्म की इच्छा करते हैं, वे मूर्ख सर्प के मुख से अमृत की आशा करते हैं।

धर्म बुद्धि करि जो अबुध, हनै आपसे जीव।
सो विवाद करि जस चहै, जल–मंथन में घीव।।460।।

अर्थ :– जो अज्ञानी जीव धर्मबुद्धि से दूसरे जीवों का घात करते हैं, वे वाद–विवाद (लड़ाई–झगड़ा, करके) यश चाहते हैं और जल का मंथन करके घी के अभिलाषी हैं।

जैसें कुमति नर महा, काल कूट कूं पीय।
जीवौ चाहै जीव हति, तैसें श्रेय स्वकीय।।461।।

अर्थ :– जैसे कुबुद्धि मनुष्य कालकूट विष पीकर जीवित रहना चाहते हैं, वैसे ही दूसरे जीवों का घात कर अपना हित–कल्याण चाहते हैं। यह असंभव है।

करि अजीर्ण दुर्बुद्धि जो, इच्छै रोग–निवृत्ति।
तैसें शठ पर–घात करि, चाहै धर्म–प्रवृत्ति।।462।।

अर्थ :– जैसे कोई दुर्बुद्धि अजीर्ण करके रोग से निवृत्ति चाहता है, वैसे मूर्ख प्राणी दूसरे जीवों का घात करके धर्म धारण करना चाहता है।

दया थकी इह भव सुखी, पर-भव सब सुख होय।
सुरग मुकति दायक दया, धारै उधरै सोय।।463।।

अर्थ :- दया से इस भव में सुख की प्राप्ति होती है, परभव में भी सब प्रकार का सुख प्राप्त होता है। दया स्वर्ग और मोक्ष देने वाली है। दया धारण करने से जीव का उद्धार होता है।

इन्द नरिन्द फणिन्द अर, चंद सूर अहमिन्द।
दया थकी इह पद लहै, होवै देव जिणंद।।464।।

अर्थ :- दया का पालन करने वाले जीव इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र, चन्द्र (ज्योतिषी इन्द्र), सूर्य (ज्योतिषी प्रतीन्द्र), अहमिन्द्र आदि पदों को धारण करते हैं एवं परम्परा से जिनेन्द्र देव की पदवी को भी धारण करते हैं।

भव-सागर के पार ह्वै, पहुंचै पुन निर्वान।
दया तणों फल मुख्य सों, भाषें श्री भगवान।।465।।

अर्थ :- संसार-समुद्र से पार होकर, निर्वाण पद को प्राप्त करना ही दया का प्रधान फल है। ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

हिंसा करिकै राज-सुत, सुबल नाम मति-हीन।
इह भव पर भव दुख लह्यौ, हिंसा तजौ प्रवीन।।466।।

अर्थ :- मतिहीन सुबल नामक राजपुत्र हिंसा करके इस भव एवं परभव में दुख को प्राप्त हुआ, इसलिए हे प्रवीण पुरुष! हिंसा का त्याग करो।

चौदसि के इक दिवस की, दया धारि चंडाल।
इह भव नृप पूजित भयौ, लह्यौ स्वर्ग-सुख सार।।467।।

अर्थ :- चांडाल ने केवल चौदस के दिन दया धर्म का पालन किया। इसके फलस्वरूप वह इस भव में राजा के द्वारा सम्मान को प्राप्त हुआ एवं पर-भव में भी स्वर्ग के उत्तम सुखों को प्राप्त किया।

जे सीझे जे सीझि हैं, ते सब करुणा धार।
जे बूढ़े जे बूढ़ि हैं, ते सब हिंसा कार।।468।।

अर्थ :- जिन जीवों का कल्याण हुआ है, जिन जीवों का कल्याण हो रहा है। यह सब करुणा भाव का ही फल है। जो संसार-समुद्र में डूबे हैं और डूब रहे हैं, यह सब हिंसा पाप का फल है।

अतीचार भजि व्रत तजि, करुणा तिनतें जाय।
बध बंधन छेदन बहुरि, बोझ धरन अधिकाय।।469।।

अन्न-पान को रोकिबौ, अतिचार ए पंच।
त्यागौ करुणा धारिकै, इन में दया न रंच।।470।।

अर्थ :- जो व्रत को छोड़कर अतीचार का सेवन करते हैं, उनमें करुणा भाव नहीं रहता है। वध, बंधन, छेदन, अतिभारारोपण और अन्नपाननिरोध - ये पाँच अहिंसाव्रत के अतीचार हैं। करुणाभाव धारण करके इन अतीचारों को छोड़ना चाहिए, क्योंकि इनमें रंच मात्र भी दया नहीं है।

हिंसा तुल्य न पाप है, दया समान न धर्म।
हिंसक बूड़ै नरक में, बांधै अशुभ जु कर्म।।471।।

अर्थ :- हिंसा के समान और कोई बड़ा पाप नहीं है और दया-समान कोई धर्म नहीं है। हिंसा करने वाले जीव अशुभ कर्मों का बंध करके नरक को प्राप्त करते हैं।

हुती धनश्री पापिनी, वणिक-नारि व्यभिचारि।
गई नरक में पुत्र हति, मानुष जन्म बिगारि।।472।।

अर्थ :- व्यभिचारिणी एवं पापिनी धनश्री नामक वणिक स्त्री, पुत्र को मार कर नरक में पहुँची। उस स्त्री ने अपने मनुष्य भव को व्यर्थ गँवाया।

हिंसा के अपराधतें, पापी जीव अनंत।
गये नरक पाये दुखा, कहत न आवै अंत।।473।।

अर्थ :- हिंसा दोष से अनन्त पापी जीव नरक के बहुत दुखों को प्राप्त हुए। उन दुखों का वर्णन करें तो अंत नहीं आता है।

जे निकसे भव-कूपतें, ते करुणा उर धारि।
जे बूड़े भव कूपतें, ते सब हिंसा कारि।।474।।

अर्थ :- हृदय में करुणाभाव को धारण करने वाले भव-कूप से बाहर निकल जाते हैं। हिंसा कर्म करने वाले भव-कूप में डूबते हैं।

महिमा जीव दया तनी, जानें श्री जगदीश।
गणधर हू कहि ना सकें, जे चउ ज्ञान अधीश।।475।।

अर्थ :- जीवदया की महिमा तो जगदीश - भगवान ही जान सकते हैं। चार ज्ञान के स्वामी गणधर देव भी उनकी महिमा को नहीं कह सकते हैं।

कहि न सकें इन्द्रादि का, कहि न सकें अहमिंद्र।
कहि न सकें लोकान्तिका, कहि न सकें जोगीन्द्र।।476।।

कहि न सकें पाताल-पति, अगणित जीभ बनाय।
सो महिमा करुणा तणी, हम पै बरणि न जाय।।477।।

अर्थ :- इन्द्र, अहमिन्द्र, लौकान्तिक, यति-पति, धरणेन्द्र आदि भी अगणित जिह्वाओं के द्वारा दया की महिमा का वर्णन नहीं कर सकते हैं। करुणा की बड़ी महिमा है, जिनका वर्णन हमारे द्वारा नहीं हो सकता है।

दया मात को आसरो, और सहाय न कोय।
करि प्रणाम करुणा व्रतें, भाषौं सत्य जु सोय।।478।।

अर्थ :- हे दया-माता! तेरा ही सहारा है और किसी का सहारा नहीं है। करुणाव्रत को प्रमाण करके अब सत्यव्रत को कहता हूँ।

हिंसा ह्वै परमाद तें, अर परमाद तें झूठ।
तातें तजौ प्रमाद कूं, देय पाप सों पूठ।।479।।

अर्थ :- प्रमाद से हिंसा होती है और प्रमाद से झूठ बोली जाती है, इसलिए पाप को पीठ देकर प्रमाद छोड़ो।

चौपाई

श्री पुरुषारथ सिद्धि उपाय, ग्रन्थ सुन्यां सब पाप लुभाय।
जहँ द्वादश व्रत कहे अनूप, सम दम यम नियमादि स्वरूप।।480।।

अर्थ :- श्री पुरुषार्थ सिद्धि-उपाय ग्रन्थ में सब पापों के नाश करने वाले अनुपम बारह व्रतों का कथन किया है। ये व्रत सम (समता), दम (इन्द्रियों का दमन), यम और नियम स्वरूप हैं।

सम जु कहावै समताभाव, सम्यकरूप भवादधि नाव।
दम कहिये मन इन्द्रिय-रोध, जाकर लहिये केवल बोध।।481।।

अर्थ :- 'सम' शब्द 'समताभाव' का द्योतक है। जो संसाररूपी समुद्र से पर होने के लिए सम्यक् रूप से नाव है। 'दम' शब्द पाँच इन्द्रिय और मन के निरोध का द्योतक है, जिससे केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

जीवो जाव वरत यम कह्यौ, अवधिरूप सो नियम जु लह्यौ।
ऐसे भेद जिनागम कहै, निकट भव्य ह्वै सो हि गहै।।482।।

अर्थ :– जीवनपर्यंत के लिए जो व्रत धारण करते हैं, उनको **यमरूप** कहते हैं। कुछ अवधि–सीमा को लेकर व्रत धारण करते हैं, वह **नियमरूप** है। ऐसा कथन जिनागम में बताया है। निकट भव्य जीव ही इनको धारण करते हैं।

।। अथ सत्य व्रत वर्णन ।।

तामैं सत्य कह्यौ चउ भेद, सो मुनि करि तुम धरहु अछेद।
चउविधि झूंठ तनों परिहार, सो है सत्य महागुण सार।।483।।

अर्थ :– अब इनमें सत्य के चार भेद कहते हैं। उनको सुनो! संसार को छेदनेवाले सत्य को धारण करो। चारों प्रकार के झूठ का सर्वथा त्याग करना, इसे सारभूत सत्य महाव्रत जानो।

प्रथम असत्य तजौ बुध वहै, वस्तु छती कूं अछती कहै।
दूजे अलती को जो छती, भाषै अविवेकी हतमती।।484।।

अर्थ :– बुद्धिमान विद्यमान वस्तु अविद्यमान अर्थात् नहीं है – ऐसे कथनरूप प्रथम झूठ का त्याग करते हैं।

जिनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, जो अविवेकी हैं – ऐसे जीव अविद्यमान वस्तु को विद्यमान अर्थात् है – ऐसा कहते हैं, जो दूसरे प्रकार का झूठ है।

तीजे कहै और सों और, विरथा मूढ़ करै झकझोर।
चौथे झूठ तनें त्रय–भेद, गर्हित सावद प्रति उच्छैद।।485।।

अर्थ :– वस्तु के स्वरूप का अन्यथा कथन करना, यह तीसरे प्रकार का झूठ है। मूर्ख मनुष्य व्यर्थ ही ऐसे वचनों का प्रयोग करते हैं। चतुर्थ प्रकार का झूठ तीन प्रकार का है – 1. गर्हित – निंदित वचन 2. सावद्य – पापयुक्त वचन और 3. कर्कश वचन।

ए सब कृत कारित अनुमंत, मन वच तन करि तज गुनवंत।
चुगली–चारी पर की हासि, कर्कश वचन महा दुख राशि।।486।।

अर्थ :– गुणवान मनुष्य मन, वचन, काय एवं कृत–कारित–अनुमोदना से अर्थात् नव कोटि से इन वचनों का त्याग करते हैं। दूसरों की चुगली, दूसरों की चाड़ी, दूसरों की हँसी–मजाक एवं कर्कश वचन आदि महान दुखों की राशि स्वरूप हैं।

विपरीत न भाषौ बुधिवान, सबद तजौ अन्याय सुजान।
वचन प्रलाप विलाप न बोलि, भजि जिननायक तजि सहु भोलि।।487।।

अर्थ :– हे बुद्धिमान! विपरीत अर्थात् मिथ्या वचन मत बोलो, अन्याय मूलक शब्दों का

उच्चारण मत करो, प्रलाप और विलाप के वचन मत बोलो तथा सब प्रकार का भ्रम छोड़कर जिनेन्द्र की उपासना करो।

भाषौ मत उतसूत्र कदेह, मिथ्यामत सों तजौ सनेह।
ए सब गर्हित बैन तजेह, जिनशासन की सरधा लेह।।488।।

अर्थ :– आगम के विरुद्ध कथन कभी मत करो। मिथ्या मत से स्नेह छोड़ो। जिनशासन की श्रद्धा करके सब प्रकार के गर्हित वचनों को छोड़ो।

बहुरि सबै सावद्य अजोग, वचन न बोलौ सुबुधि लोग।
छेदन भेदन मारण आदि, त्यागौ अशुभ वचन इत्यादि।।489।।

अर्थ – हे बुद्धिमान! सब प्रकार के सावद्य अर्थात् पापयुक्त वचन अयोग्य हैं, इसलिए उनको नहीं बोलना। छेदन, भेदन और मारण के निमित्तभूत अशुभ वचनों का त्याग करो।

चोरी जोरी डाका दौर, ए उपदेश पाप सिरमौर।
हिंसा मृषा कुशील विकार, पाप वचन त्यागौ व्रत धार।।490।।

अर्थ :– चोरी संबंधी, लूट करने संबंधी, डाका डालने संबंधी उपदेश – सब पापों में प्रधानभूत है। हिंसा, झूठ, कुशील आदि विकारी पापयुक्त वचनों का त्याग करके व्रत धारण करो।

खेती विणज विवाह जु आदि, वचन न बौले व्रती अनादि।
तजहुं दोष जुत वानी भया, बोलहु जामें उपजै दया।।491।।

अर्थ :– व्रती जन खेती, व्यापार, विवाह आदि संबंधी किसी प्रकार के वचनों को नहीं बोलते। हे भाई! दोष युक्त वचनों को छोड़ो और दयासहित वचन बोलो।

ए सावद्य वचन तजि धीर, तजि अप्रीति वचन वर वीर।
अरतिकरन भयकरन न बोल, शोककरन त्यागौ तजि भोल।।492।।

अर्थ :– धीर पुरुष सावद्य वचन और अप्रीतिकर वचन नहीं बोलते हैं। अरति (द्वेष भाव) कराने वाले, भय पैदा कराने वाले एवं शोक कराने वाले वचन भी नहीं बोलते हैं।

कलह–करन अध–करन तजेहु, बैर–करन वाणी न भजेहु।
ताप–करन अर पाप–प्रधान, त्यागहु बचन जु दोष–निधान।।493।।

अर्थ :– दोष के भंडाररूप कलहकारी, पापकारी, वैरकारी, तापकारी (दुखकारी) और पाप प्रधान वचनों का प्रयोग मत करो।

मर्म–छेद को वचन न कहौ, जो अपने जिय को शुभ चहौ।
इत्यादिक जे अप्रिय बैन, त्यागहु, सुनि करि मारग जैन।।494।।

अर्थ :– यदि अपने जीव का शुभ चाहते हो तो मर्मभेदी वचनों का प्रयोग मत करो। जैनमार्ग–जैनधर्म को सुन कर इस प्रकार के समस्त अप्रिय वचनों का त्याग करो।

बोलौ हित मित वानी सदा, संशय वानी बोलि न कदा।
सत्य प्रशस्त दया रस भरी, पर उपगार करन शुभ करी।।495।।

अर्थ :– निरन्तर हित–मित (कल्याणकारी – अल्प) वाणी बोलो। कभी भी संशय – शंकायुक्त वचन मत बोलो। दयारस से परिपूर्ण, पर–उपकारी, शुभकारी, सत्य और प्रशस्त (शुभ) वचन बोलो।

अविरुध अव्याकुलता लिये, बोलहु करुणा धरिकै हिये।
कबहुं ग्रामणी वचन न लपौ, सदा सर्वदा श्री जिन जपौ।।496।।

अर्थ :– करुणाभाव को हृदय में धारण कर, आगम के अविरुद्ध एवं व्याकुलता रहित वचन बोलो। असभ्य वचनों (ग्रामीण भाषा) का प्रयोग मत करो। सदा – निरंतर जिनभाषित वचन बोलो।

अपनी महिमा कबहुँ न करौ, महिमा जिनवर की उर धरौ।
जो शठ अपनी कीरति करै, ते मिथ्यात सरूप जु धरै।।497।।

अर्थ :– अपनी प्रशंसा (महिमा) कभी मत करो। जिनेन्द्र भगवान की महिमा को हृदय में धारण करो। जो मूर्ख अपनी बढ़ाई – कीर्ति करता है, वह मिथ्यात्व भाव को धारण करता है।

निन्दा पर की त्यागहु भया, जो चाहौ जिनमारग लया।
अपनी निन्दा गरहा करौ, श्री गुरु पै तप व्रत आदरौ।।498।।

अर्थ :– हे भाई! जिनमार्ग को धारण करना हो तो पर–निंदा का त्याग करो। अपनी निंदा और गर्हा (गुरु के समक्ष दोषों का कथन) करके गुरु के समीप तप एवं व्रत को धारण करो।

पापनि को प्रायश्चित लेह, माया मच्छर मान तजेह।
होवै जहां धर्म को लोप, शुभ किरिया होवै पुनि गोप।।499।।

अर्थ :– पापक्रिया का प्रायश्चित्त लेकर मायाचारी, मत्सर भाव एवं अहंकार को छोड़ो। जहाँ धर्म का लोप होता हो, ऐसी शुभ क्रिया को भी रोक दो।

अर्थ शास्त्र के ह्वै विपरीत, मिथ्यामत की ह्वै परतीत।
तहां छांडि शंका प्रतिबुद्ध, भावै सत्य वचन अविरुद्ध।।500।।

अर्थ :– प्रतिबुद्ध ज्ञानी जीव शास्त्र के विपरीत अर्थरूप, मिथ्या मत की प्रतीतिरूप एवं शंकायुक्त वचनों का त्याग करते हैं। वे आगम के अविरुद्ध सत्य वचनों का ही प्रयोग करते हैं।

इनमें शंका कबहु न करहु, यही बुद्धि निश्चय उर धरहु।
सत्य मूल यह आगम जैन, जैन, जैनी बोलै अमृत बैन।।501।।

अर्थ :– सत्य जैनागम का मूल प्राण है। इसमें कभी भी शंका मत करो। हृदय में इस दृढ़ निश्चय को धारण करो। जैन हमेशा अमृतवाणी ही बोलते हैं।

चार्वाक बौद्ध विपरीत, तिनके नाहीं सत्य परतीति।
कौलिक कालिक जे जानि, इनमें सत्य लेश मति मानि।।502।।

अर्थ :– चार्वाक और बौद्ध मत वाले विपरीत कथन करते हैं। इनके वचनों से सत्य की प्रतीति नहीं होती है। कौलिक और कापालिक मत में भी सत्य का लेशमात्र भी कथन नहीं है।

सत्य समान न धर्म जु कोय, बड़ो धर्म इह सत्य जु होय।
सत्य थकी पावै भव पार, सत्यरूप जिनमारग सार।।503।।

अर्थ :– सत्य के समान कोई धर्म और धर्म नहीं है। सत्य सबसे महान धर्म है। सत्य से ही संसार पार हो सकता है। सत्य ही जिनमार्ग में सारभूत उत्तम है।

सत्य प्रभाव शत्रु ह्वै मित्र, सत्य समान न और पवित्र।
सत्य प्रसाद अगनि ह्वै शीत, सत्य प्रसाद होय जग–जीत।।504।।

अर्थ :– सत्य के प्रभाव से शत्रु भी मित्र बना जाता है। सत्य के समान और कोई पवित्र नहीं है। सत्य के प्रसाद से अग्नि भी शीतल हो जाती है और सत्य के प्रसाद से व्यक्ति संसार को जीत लेता है।

सत्य प्रभाव भृत्य ह्वै राव, जल ह्वै थल धरिया सत भाव।
सुर ह्वै किंकर वन पुर होय, गिरि ह्वै घर सम सतकरि जोय।।505।।

अर्थ :– सत्य के प्रभाव से नौकर राजा बन जाता है। सत्य की महिमा से जल थल रूप हो जाता है, देव किंकर (दास) बन जाता है, वन नगर बन जाता है, पर्वत घर बन जाता है। यह सब सत्य की महिमा है।

सर्प माल ह्वै हरि मृगरूप, बिल सम ह्वै पाताल विरूप।
कोऊ करै शस्त्र की घात, शस्त्र होय सो अंबुज–पात।।506।।

अर्थ :– सत्य के प्रभाव से सर्प माला रूप, सिंह हिरण रूप, भयंकर पाताल बिल रूप और कोई शस्त्र-घात करे तो वह शस्त्र कमल के प्रहारवत् हो जाता है।

हाथी दुष्ट होय सम श्याल, विष ह्वै अमृतरूप रसाल।
कठिन सुगत ह्वै सत्य प्रभाव, दानव दीन होय निरदाव।।507।।

अर्थ :– सत्य के प्रभाव से दुष्ट हाथी श्याल-समान, विष अमृत-समान और कठिनता सरलतम हो जाती है तथा दानव – राक्षस भी निर्दाव होकर अर्थात् निरुपाय होकर दीन हो जाता है।

सत्य प्रभाव लहैं निज ज्ञान, सत्य धरे पावै वर ध्यान।
सत्य प्रभाव होय निरवाण, सत्य बिना ना पुरुष बखाण।।508।।

अर्थ :– सत्य के प्रभाव से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। सत्य को धारण करने से श्रेष्ठ ध्यान की प्राप्ति होती है। सत्य के प्रभाव से निर्वाण की प्राप्ति होती है। सत्य के बिना पुरुष पुरुष नहीं कहा जा सकता है।

सत्य-प्रसाद वणिक धनदेव, राजा करि पाई बहु सेव।
इह भव परभव सुखमय भयौ, जाकौ पाप करम सब गयौ।।509।।

अर्थ :– सत्य के प्रसाद से धनदेव नामक वणिक राजा के द्वारा सम्मान को प्राप्त हुआ। इस भव और पर-भव में सुख को प्राप्त हुआ और उसके पाप कर्मों का नाश हुआ।

झूठ थकी वसु राजा आदि, पर्वत विप्र सत्यघोषादि।
जगदेवादिक वाणिज घनें, गये दुरगती जाय न गिनें।।510।।

अर्थ :– झूठ के कारण वसु राजा, पर्वत, सत्यघोष आदि ब्राह्मण और जगदेव आदि वैश्य दुर्गति को प्राप्त हुए, जिनकी कोई गिनती नहीं है।

सत्य दया को रूप न दोय, दया बिना नहिं सत्य जु होय।
सत्य तनें द्वय भेद अछेद, व्यवहारो निश्चय निरखेद।।511।।

अर्थ :– सत्य और दया ये दो भिन्न-भिन्न नहीं हैं। दया के बिना सत्य नहीं होता है। सत्य के दो भेद कहे हैं – 1. व्यवहार 2. निश्चय।

निश्चय सत्य निजातम बोध, व्यवहारों जिन वचन प्रबोध।
सत्य बिना सब व्रत तप बादि, सत्य सकल सूत्रनि में आदि।।512।।

अर्थ :– अपने आत्मतत्त्व का बोध ज्ञान अर्थात् जानना, उसे निश्चय सत्य कहते हैं। जिनेन्द्र

भगवान के वचनों से प्राप्त ज्ञान को व्यवहार सत्य कहते हैं। सत्य के बिना सारे व्रत-तप आदि व्यर्थ हैं। समस्त आगत में सत्य सबसे प्रथम है।

सत्य प्रतिज्ञा बिन यह जीव, दुरगति लहैं कहैं जग-पीव।
सूकर कूकर वृक चंडार, घूघू श्याल काग मंजार।।513।।
नाग आदि जे जीव विरूप, लापर सबतें निंद्य प्ररूप।
सबतें बुरों महा असपर्श, लापर का लखिये नहिं दर्श।।514।।

अर्थ :- सत्य की प्रतिज्ञा के बिना जीव दुर्गति को प्राप्त होते हैं। ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। सूकर, कूकर, भेड़िया, चंडाल, उल्लू, सियार, कौआ, बिलाव और नाग आदि जो भयंकर जीव हैं, उन सबसे भी अधिक निर्दय झूठ बोलने वाला है। मिथ्याभाषी का तो स्पर्श भी बुरा है, उसका तो दर्शन भी नहीं करना चाहिए।

चुगली-साँचहु झूठ हि जानि, चुगल महा चंडाल समान।
चुगली उगली मुखतें जबै, इह भव पर भव खोये तबै।।515।।

अर्थ :- दूसरों की सच्ची चुगली (बुराई) करना भी झूठ में गर्भित है। चुगली करने वाले महान चांडाल के समान हैं। जिस समय मुँह से दूसरों की बुराई निकली, उसी समय उस जीव के इह भव और पर-भव दोनों भव बिगड़ जाते हैं।

सत्य-हेतु धारौ भवि मौन, सत्य बिना सब संजम गौन।
थोरो बोलहु कारण सत्य, मन वच तन करि तजौ असत्य।।516।।

अर्थ :- हे भव्य! सत्य की रक्षार्थ मौन धारण करो। (अर्थात् जिस सत्य से नुकसान होवे, उस समय) सत्य के बिना समस्त संयम गौण है। सत्य के कारण अल्प - थोड़ा बोलो। मन, वचन, और काय सब प्रकार से असत्य का त्याग करो।

मुनि के सत्य महाव्रत होय, गृहि के सत्य अणुव्रत होय।
मुनि तौ मौन गहें के जैन, वचन निरूपें अमृत बैन।।517।।

अर्थ :- मुनिराज सत्य महाव्रत का पालन करते हैं। गृहस्थ सत्य अणुव्रत का पालन करते हैं। मुनिराज तो प्राय: मौन ग्रहण करते हैं। यदि बोलने का अवसर आवे तो अमृतमयी जिनवचनों का ही निरूपण करते हैं।

लौकिक वचन कहें नहिं साध, सब जीवन के मित्र अगाध।
मृषावाद नहीं बोले रती, सो जिनमारग साँचे जती।।518।।

अर्थ :– साधु जन लौकिक वचनों का प्रयोग नहीं करते। समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव बना रहे, ऐसे वचनों का प्रयोग करते हैं। जो कभी झूठ वचनों को बोलते नहीं हैं, वही जिनधर्म के सच्चे यति हैं।

श्रावक को किंचित् आरम्भ, त्यागै कुविणज पापारम्भ।
लौकिक वचन कहन जो परै, तौ पनि पाप वचन परिहरै।।519।।

अर्थ :– श्रावकों को थोड़ा आरंभ करना पड़ता है तो भी वे खोटा व्यापार और पापारम्भ का कथन नहीं करते। लोक व्यवहार संबंधी वचन बोलते हैं तो भी पाँच पापों का त्याग करके कथन करते हैं।

पर उपगार दया के हेत, कबहुक किंचित् झूठहु लेत।
जेतौ आटै माहें लोन, ते तौ बोलै अथवा मौन।।520।।

अर्थ :– पर उपकार या दया के कारण कभी किंचित् झूठ बोलते हैं। आटा में जितना नमक डालते हैं, उतना ही बोलते हैं; अन्यथा मौन ग्रहण करते हैं।

झूठ थकी उचरै पर–प्रान, तौ वह झूठ सत्य परमान।
अपने मतलब कारिज झूठ, कबहुं न बोलै अमृत बूठ।।521।।

अर्थ :– झूठ के द्वारा यदि दूसरे जीव के प्राणों की रक्षा होती हो तो उस झूठ को सत्य के समान माना जाता है। अपने मतलब, स्वार्थ के कारण कभी झूठ नहीं बोलो।

प्राण तजै पर सत्य न तजै, यद्वा तद्वा वचन व भजै।
यहै देह अर भोगुपभोग, सब ही झूँठ गिनें जग रोग।।522।।

अर्थ :– प्राणों का परित्याग कर दो, परन्तु सत्य का त्याग मत करो। यद्वा–तद्वा (जो मन में आया, वह) वचन मत बोलो। यह शरीर एवं संसार के भोग–उपभोग सब झूठ बताये गए हैं।

परिग्रह की तृष्णा नहिं करै, करि प्रमाण लालच परिहरै।
पाप झूठ को है यह लोभ, याहि तजै पावै व्रत शोभ।।523।।

अर्थ :– परिग्रह की तृष्णा मत करो। परिग्रह परिमाण करके लालच का त्याग करो। लोभ के कारण झूठ बोलना पाप होता है, इसलिए लोभ का त्याग करो। लोभ का त्याग करने से व्रत शोभायमान होता है।

सत्य प्रताप सुजस अति बधै, सत्य धरै जिन आज्ञा सधै।
राजद्वार पंचायति माहिं, सत्यवन्त पूजित सक नाहिं।।524।।

अर्थ :– सत्य के प्रभाव से सुयश की वृद्धि होती है। सत्य धारण करने से जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन होता है। राजदरबार और पंचायत में सत्यवन्त की पूजा होती है अथवा उनको सम्मान मिलता है। इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है।

इन्द्र चन्द्र रवि सुर धरणेंद, सत्य बचे अहमिन्द मुणिन्द।
करें प्रशंसा उत्तम जानि, इहे सत्य शिव–दायक मानि।।525।।

अर्थ :– इन्द्र, चन्द्र (ज्योतिषी देवों के इन्द्र), सूर्य (ज्योतिषी देवों के प्रतीन्द्र), देव, धरणेन्द्र, अहमिन्द्र, मुनीन्द्र आदि सत्य बोलने वालों की बहुत प्रशंसा करते हैं; क्योंकि ये सब सत्य को मोक्ष देने वाला मानते हैं।

दया सत्य में रंच न भेद, ए दोऊ इक रूप अभेद।
विपति हरन सुख करन अपार, याहि धरें तें ह्वै भव–पार।।526।।

अर्थ :– दया और सत्य में रंच मात्र भी भेद नहीं है। ये दोनों अभेद रूप एक ही हैं। ये विपत्ति को हरने वाले एवं अनन्त सुख देने वाले हैं। इनको धारण करने से संसार से पार हो जाते हैं।

याहि प्रसंसें श्री जिनराय, सत्य समान न और कहाय।
भुक्ति–मुक्ति दाता यह धर्म, सत्य बिना सब गनिये भर्म।।527।।

अर्थ :– श्री जिनराज ने भी सत्य की प्रशंसा की है। सत्य के समान और कोई महान धर्म नहीं है। यह धर्म भुक्ति और मुक्ति को देनेवाला है। सत्य बिना शेष सब धर्म कार्यकारी नहीं हैं।

अतीचार पाँचों तजि सखा, जो तें जिन वच अमृत चखा।
तजि मिथ्योपदेश मतिमान, भजि तन मन करि श्री भगवान।।528।।

अर्थ :– हे मित्र! जो पाँच अतीचारों का भी त्याग करते हैं, वे ही जिन–वचनामृत को पीते हैं। बुद्धिमान मिथ्या उपदेश का त्याग करके मन, वचन, काया से भगवान की भक्ति करते हैं।

देहि मूढ़ मिथ्या उपदेश, तिनमें नाहिं सुमति को लेश।
बहुरि तजौ जु रहोभ्याख्यान, ताको व्यक्त सुनो व्याख्यान।।529।।

अर्थ :– जिसमें लेशमात्र भी सुमति नहीं है – ऐसा मिथ्या उपदेश जो मूर्ख देते हैं, उस मिथ्या उपदेश को छोड़ो। अब दूसरे रहोभ्याख्यान नामक अतीचार का कथन करते हैं।

गुप्त बारता पर की कोइ, मति परकासौ मरमी होइ।
कूटलेख क्रिया तजि वीर, कपट कालिमा त्यागहु धीर।।530।।

अर्थ :– धर्मी जन दूसरों की गुप्त बातों को प्रकाशित न करें। हे भाई! कपट–कालिमा से दूर

रहकर खोटे लेख लिखने रूप कूटलेख क्रिया छोड़ो।

करि न्यासापहार परिहार, ताको भेद सुनहु व्रत धार।
पेलो आय धरौहरि धरै, अर कबहूं वसिरन वह करै।।531।।

तौ वाकों चित एम जु भया, देहु परायो माल जु लया।
भूलिर थोरो माँगे वहै, तौ वाकों समझा कर कहै।।532।।

तुमरो दैनों इतनों ठीक, अलप बतावन बात अलीक।
ले जावौ तुमरौ यह माल, लेखा में चूकौ मति लाल।।533।।

अर्थ :– हे व्रतधारी! न्यासापहार का त्याग करो। उनके भेद कहता हूँ। पहले आकर जो धरोहर रख जाते हैं और कालान्तर में उसको भूल जाते हैं; तब मन में सोचना चाहिए कि जो दूसरों का माल मेरे पास रखा है, उसको पूरा वापस देना चाहिए। यदि माल (धरोहर) रखने वाला भूलकर थोड़ा माँगे तो उसको समझाना चाहिए कि तुम्हारा और भी माल है, सब देना ठीक है। अल्प बताने से झूठ का भी दोष लगता है। हे भाई! लिखे हुए में कभी भूल मत करो।

घटि देवे को जो परिणाम, सो न्यासापहार दुख धाम।
अथवा धरी पराई बस्त, जाकी बुद्धि भई विध्वस्त।।534।।

अर्थ :– कमती दने का जो परिणाम बनता है तो वह न्यासापहार, नामक अतीचार दुख का स्थान है। जो दूसरों की वस्तु को हड़पते हैं, उनकी बुद्धि विनाश को प्राप्त हुई है, ऐसा जानो।

और ठौर की और जु ठौर, करै सोई पापनि सिरमौर।
पुनि साकारमन्त्र है भेद, तजौ सुबुद्धि सुनि जिन वेद।।535।

अर्थ :– कोई व्यक्ति किसी वस्तु को एक स्थान पर रख गया है, उसको वहाँ से उठाकर दूसरे स्थान पर रखने वाले लोग पापियों में सिरमौर हैं। यह साकारमन्त्र नाम का एक भेद है। हे बुद्धिमान! जैन वचन सुनकर इस अतीचार को छोड़ो।

दुष्ट जीव पर को आकार, लखतो रहै दुष्टता कार।
लखि करि पर को भेद, सो पावै भव–वन में खेद।।536।।

अर्थ :– दुष्ट व्यक्ति हाथ चलाने आदि के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानकर दूसरों का भेद प्रकाशित कर देते हैं। ऐसा करने वाला संसार रूपी वन में दुख प्राप्त करता है।

पर मंत्रित को करइ विकास, सो खल लहै नरक को वास।
जो पर द्रोह धरै चितमाहिं इह भव दुख लहि नरकहिं जाहिं।।537।।

अर्थ :– जो दूसरों के अभिप्राय को प्रकट हैं, वे दुष्ट नरक–वास को प्राप्त करते हैं, जो मन में भी दूसरों के प्रति तिरस्कार–अनादर–द्रोह का भाव करते हैं, वे इस भव में दुखों को प्राप्त करके नरक गति को प्राप्त होते हैं।

अतीचार ए पांचों त्यागि, सत्य धरम के मारग लागि।
परदारा परद्रव्य समान, और न दोष कहें भगवान।।538।।

अर्थ :– पाँचों अतीचारों का त्याग कर सत्य धर्म के मार्ग में स्थित होओ। पर–स्त्री सेवन और परद्रव्य–हरण के समान और बड़ा दोष नहीं है – ऐसा भगवान ने कहा है।

पर द्रोह सो पाप ने और, निंद्यो श्रुत में ठौर जु ठौर।
जिन जान्यूं निज आतमराम, तिनके परधन सों नहिं काम।।539।।

अर्थ :– पर–द्रोह के समान और पाप नहीं है। आगम में जगह–जगह इसकी बड़ी निंदा की गई है। जिन्होंने अपने स्वयं के आतमराम को जाना है, उनको पर–धन से कोई मतलब (काम नहीं है)।

सत्य कहें चोरी पर–नारि, त्यागी जाइ यहे उर धारि।
झूठ बकें तें जैनी नाहिं, परधन हरन न इह मत माहिं।।540।।

अर्थ :– चोरी और पर–स्त्री सेवन का त्याग करके सत्य बोलना चाहिए। जो झूठ बोलते हैं, वे जैन नहीं हैं। जैन मत में पर–द्रव्य हरण का निषेध है।

दोहा

सत्य–प्रभावै धर्म–सुत, गये मोक्ष गुण कोष।
लहे झूठ अर कपट तें, दुर्योधन दुख दोष।।541।।

अर्थ :– सत्य के प्रभाव से धर्मपुत्र युधिष्ठिर गुण के भंडाररूप मोक्ष को प्राप्त हुआ। झूठ और कपट के फलस्वरूप दुर्योधन दुखरूपी दोष को प्राप्त हुआ।

जे सुरझे ते सत्य करि, और न मारग कोय।
जे उरझे ते झूठ करि, यह निश्चय अवलोय।।542।।

अर्थ :– जितने जीव सुलझे हैं अर्थात् सही मार्ग पर लगे हैं, यह सत्य का ही प्रभाव है और कोई मार्ग नहीं है। जितने जीव उलझे हैं अर्थात् गलत मार्ग पर लगे हैं, यह झूठ का ही प्रभाव है। यह निश्चय जानना चाहिए।

सत्यरूप जिनदेव हैं, सत्यरूप जिन धर्म।
सत्यरूप निर्ग्रन्थ गुरु, सत्य समान न पर्म।।543।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान सत्यरूप हैं, जिनधर्म सत्य रूप है, निर्ग्रन्थ गुरु सत्यरूप हैं। सत्य समान और कोई उत्कृष्ट वस्तु नहीं है।

सत्यारथ आतम–धरम, सत्यरूप निर्वाण।
सत्यरूप तप संयमा, सत्य सदा परवाण।।544।।

अर्थ :– आत्मधर्म सत्यरूप है, निर्वाण सत्यरूप है, तप और संयम सत्यरूप हैं और सत्य ही प्रमाण है।

महिमा सत्य सुव्रत्त की, कहि न सकें मुनिराय।
सत्य वचन परभाव तें, सेवें सुर नर पाय।।545।।

अर्थ :– सत्यरूप सुव्रत की महिमा का वर्णन मुनिराज भी नहीं कर सकते। सत्य वचनों के प्रभाव से देव भी सत्यवादी मनुष्य के चरणों की सेवा करते हैं।

जैसो जस है सत्य को, तैसौ श्री जिनराय।
जाने केवलज्ञान में, परम रूप सुखदाय।।546।।

अर्थ :– सत्य का प्रभाव जिनेन्द्र भगवान के समान है। जिनेन्द्र भगवान के केवलज्ञान में सत्य को परम सुख देने वाला बतलाया है।

और न पूरण लखि सके, कीरति सुर नर नाग।
या व्रत कूं धारें सदा, तेहि पुरुष बड़भाग।।547।।

अर्थ :– सत्य व्रत की महिमा को देव, मनुष्य और नागेन्द्र कहने में समर्थ नहीं हैं। जो सत्य व्रत को निरन्तर धारण करते हैं, वे पुरुष बड़भागी – भाग्यशाली हैं।

नमस्कार या व्रत्त कों, जो व्रत शिव–सुख देय।
अर याके धारीनि कों, जे जिन–शरण गहेय।।548।।

अर्थ :– शिव–सुखदायक इस महान व्रत को नमस्कार। इस व्रत के धारण करने वाले और जिनेन्द्र भगवान की शरण को ग्रहण करने वालों को भी नमस्कार।

दया सत्य को कर प्रणति, भाषों तीजों व्रत्त।
जो इन द्वय विन ना हुबै, चोरी त्याग प्रवृत्त।।549।।

अर्थ :– दया और सत्य को नमस्कार करके तीसरे अचौर्य व्रत का कथन करता हूँ। अचौर्य व्रत दया और सत्य के बिना नहीं होता। चोरी के त्यागरूप व्रत में प्रवृत्त होओ।

।। अथ अचौर्य व्रत वर्णन ।।

चाल छन्द

चोरी छांड़ौ बड़ भाई, चोरी है अति दुखदाई।
चोरी अपजस उपजावै, चोरी तें जस नहिं पावै।।550।।

अर्थ :– हे भाई! चोरी का त्याग करो, चोरी अत्यंत दुख देने वाली है। चोरी से अपयश की प्राप्ति होती है। चोरी से यश की प्राप्ति नहीं होती है।

चोरी तें गुणगण नाशा, चोरी दुर्बुद्धि प्रकाशा।
चोरी तें धर्म नशावै, इह आज्ञा श्रीगुरु गावै।।551।।

अर्थ :– चोरी से गुणों का नाश होता है। चोरी से खोटी बुद्धि का प्रकाशन होता है। चोरी से धर्म का नाश होता है। इस प्रकार श्रीगुरु ने कहा है।

चोरी सों माता ताता, त्यागे लखि अपनों घाता।
चोरी सों भाई–बंधा, कबहुँ न राखै संबंधा।।552।।

अर्थ :– चोरी से माता–पिता अपने पुत्र को घातक समझ कर छोड़ देते हैं। चोरी से भाई–बंधु भी कभी संबंध नहीं रखते हैं।

चोरी तें नारि न नीरै, चोरी तें पुत्र न तीरै।
चोरी सों मित्र बिडारै, चोरी सों स्वामी न धारै।।553।।

अर्थ :– चोरी करने वालों का नारी भी अनादर करती है, पुत्र भी तिरस्कार करते हैं, मित्र भी संबंध भी नहीं रखते हैं एवं स्वामी भी उसे तुच्छ गिनते हैं।

चोरी सों न्याति न पांती, चोरी सों कबहुँ न सांती।
चोरी तें राजा दंडै, चोरी तैं सीस बिहंडै।।554।।

अर्थ :– चोर का कोई परिवार और सगा–संबंधी नहीं है, चोर का कोई साथी नहीं है, चोर को राजा दंडित करते हैं और चोर का कभी मस्तक कटता है। (अर्थात् उसे फाँसी की सजा आदि भी मिलती है)।

चोरी तें कुमरण होई, चोरी में सिद्धि न कोई।
चोरी तें नरक निवासा, चोरी तें कष्ट प्रकाशा।।555।।

अर्थ :– चोरी करने से कुमरण होता है, चोरी से किसी प्रकार की सिद्धि नहीं होती हैं, चोरी

करने से नरकों में निवास करना पड़ता है। इस प्रकार चोरों को कष्ट - दुख प्रत्यक्ष रूप हैं।

चोरी तें लहै निगोदी, चोरी तें जोनि जु बोदी।
चोरी में सुमति न आवै, चोरी तें सुमति न पावै।।556।।

अर्थ :- चोरी से निगोद के दुखों की प्राप्ति होती है, चोरी से खोटी योनि अर्थात् खोटी गति की प्राप्ति होती है। चोरी करने वाले में सुमति नहीं आती है और अच्छी बुद्धि की प्राप्ति भी नहीं होती है।

चोरी तें नासै करुणा, चोरी में सत्य न धरणा।
चोरी तें शील पलाई, चोरी में लोभ धराई।।557।।

अर्थ :- चोरी से करुणा-दया का नाश होता है, चोरी करने वाला सत्य को धारण नहीं कर सकता। चोरी से शील का नाश होता है एवं चोरी करने वालों का लोभ और तृष्णा बढ़ जाती है।

चोरी तें पाप न छूटै, चोरी तें तलवर कूटै।
चोरी तें इज्जति भंगा, त्यागौं चोरनि को संगा।।558।।

अर्थ :- चोरी से पाप नहीं छूटता, चोरी से कोतवाल दंड देते हैं, चोरी से इज्जत नष्ट हो जाती है। इसलिए हे भाई! चोरों की संगति का त्याग करो।

चोरी करि दोष उपावै, चोरी करि मोक्ष न पावै।
चोरी के भेद अनेका, त्यागौ सब धारि विवेका।।559।।

अर्थ :- चोरी से दोषों की उत्पत्ति होती है, चोरी से कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। चोरी के अनेक भेद हैं। विवेक धारण करके चोरी का त्याग करो।

पर को धन भूले-विसरे, राखौ मति ल्यों गुण पसरै।
पर को धन गिरियो परियो, दाबौ मति कबहु न धरियौ।।560।।

अर्थ :- दूसरे का भूला हुआ, बिसरा हुआ धन कभी अपने पास नहीं रखना। दूसरे का गिरा हुआ, पड़ा हुआ धन कभी छिपा कर नहीं रखना एवं उसको धारण भी नहीं करना।

तोला घटि बधि जिन राखै, बोलौ मति कूड़ी साखै।
कबहूं औंटा जिन देहो, डाका दे धन मति लेहो।।561।।

अर्थ :- तोलने-नापने के बाँट आदि कमती-बढ़ती मत रखो। झूठी साक्षी मत बोलो। कभी सैंध मत लगाओ। डाका डालकर कभी किसी का धन मत लूटो।

मति दगड़ा लूटौ भाई, दौड़ाई है दुखदाई।
ठग विद्या त्यागौ मित्रा, परधन है अति अपवित्रा।।562।।

अर्थ :– हे भाई! दगा देकर कभी किसी का धन मत लूटो; क्योंकि यह धन बहुत दुख देने वाला है। हे मित्र! ठग विद्या का त्याग करो। दूसरों का धन अत्यन्त अपवित्र माना गया है।

काहूं कूं द्यो मति तापा, छांडो तन मन के पापा।
पासीगर सम नहिं पापी, पर प्राण हरै संतापी।।563।।

अर्थ :– किसी को ताप-संताप मत पहुँचाओ। मन, वचन, काय से चोरी पाप का त्याग करो। दूसरे का धन लूटने के समान और कोई पाप नहीं है। दूसरे का धन लेना, प्राण-हरण के समान पाप है, जो अत्यंत संतापकारी है।

सो महानरक में जावै, भव-भव में अति दुख पावै।
हाकिम ह्वै धन मति चोरौ, ले घूंस न्याय मति बारौ।।564।।

अर्थ :– चोरी करने वाले वे पापी महा नरक में जाते हैं, भव-भव में अत्यन्त दुख को प्राप्त होते हैं। हाकिम (अफसर) होकर दूसरे के धन की चोरी मत करो। रिश्वत लेकर न्याय का गला मत घोंटो।

लेखा में चूक न कारै, इहि नरभव मूढ़! न हारै।
जे हरियो पर को वित्ता, ते पापी दुष्ट जु चित्ता।।565।।

अर्थ :– हिसाब-किताब अर्थात् लेन-देन में भूल मत करो। हे मूढ़! मनुष्य जन्म को पाकर उसको मत बिगाड़ो। जो पर का धन हरण करते हैं, वे पापी दुष्ट चित्त वाले हैं।

रुलिहें भव माहिं अनंता, जे परधन प्राण हरंता।
चुगली करि मतिहि लुटावौ, काहू कूँ नाहिं कुटावौ।।566।।

अर्थ :– जो दूसरे का धन हरण करते हैं, वे अनंत भवों तक संसार में परिभ्रमण करते हैं। पर-धन हरण, प्राण-हरण के समान है। दूसरों की चाड़ी-चुगली करके दूसरे का धन नहीं लूटना और परस्पर नहीं लड़ाना।

पर को इज्जति मति हरिहो, पर को उपगार जु करिहो।
धन धान नारि पसु बाला, हरिये कुछेक नहिं लाला।।567।।

अर्थ :– दूसरों की इज्जत नहीं लूटना, पर का उपकार करना। हे भाई! दूसरे का धन, धान्य, स्त्री, पशु, कन्या आदि कुछ भी हरण नहीं करना।

काहू को मन नहिं हरिये, हिरदा में श्री जिन धरिये।
तिर नर जीवन की जीवी, मेटो मति करुणा कीवी।।568।।

अर्थ :– किसी के मन को पीड़ा नहीं देना। हृदय में जिनेन्द्र भगवान को धारण करना। हृदय में करुणा भाव धारण करना और तिर्यंच- मनुष्य आदि के जीवन को कभी समाप्त नहीं करना।

तुम शल्य न राखौ वीरा, कर शुद्ध चित्त गुण धीरा।
रोका बांधी मति करि हो, काहू की सोपिं न हरि हो।।569।।

अर्थ :– हे भाई! किसी प्रकार की शल्य मन में नहीं रखना। हे धैर्यवान पुरुष! अपने चित्त को शुद्ध - निर्मल बनाओ। हे भाई! किसी के धन को जबरन मत रोको, उसकी प्राप्ति में उसे बाधा मत पहुँचाओ। किसी की सौंपी हुई (धरोहर रखी हुई) वस्तु का हरण मत करो।

बोलो मति दुष्ट जु बांके, तुम दोष गहौ मति काके।
काहू को मर्म न छेदौ, काहू को क्षेत्र न भेदौ।।570।।

अर्थ :– हे भाई! किसी को पीड़ा-कारक व्रक कुटिल वचन मत बोलो। किसी के दोष (अवगुण) को ग्रहण मत करो। किसी के मर्म - हृदय का छेदन मत करो। किसी के क्षेत्र आदि (परिग्रह) का हरण मत करो।

काहू की कछु नहिं बस्ता, मति हरहु होय शुभ अस्ता।
इह व्रत धारौ वर वीरा, पावौ भवसागर तीरा।।571।।

अर्थ :– किसी की कैसी भी वस्तु का हरण मत करो। इससे शुभ परिणामों/चेष्टाओं का ह्रास होता है। हे वीर! इस अचौर्य व्रत को धारण करने से भव-सागर से पार हो जाते हैं।

जाकरि ह्वै कर्म विध्वस्ता, सो भाव धरौ परशस्ता।
तृण आदि रत्न परजंता, पर धन त्यागौ बुधिवंता।।572।।

अर्थ :– जिन परिणामों से कर्मों का नाश होता है, ऐसे प्रशस्त परिणामों को धारण करो। हे बुद्धिमान! तृण आदि को लेकर रत्न पर्यन्त दूसरे के धन का त्याग करो।

हरिवौ रागदिक दोषा, करवौ कर्मन को सोषा।
हरि मर्म धर्म धरि भाई, हूजे त्रिभुवन के राई।।573।।

अर्थ :– राग-द्वेष आदि का नाश करके कर्मों का नाश करो। हे भाई! धर्म के मर्म को धारण करके त्रिभुवन के स्वामी बनो।

अपनो अर पर को पापा, हरिये जिन वचन प्रतापा।
छांडे जु अदत्तादाना, करि अनुभव अमृत पाना।।574।।

अर्थ :– जिनेन्द्र वचनों के प्रताप से स्व और पर के पाप का नाश करो। जो बिना दी हुई वस्तु ग्रहण नहीं करते, वे अनुभवरूपी अमृत का पान करते हैं।

चोरी त्यागें शिव होई, चोरी लागे शठ सोई।
चोरी के दोय प्रकारा, निश्चै ब्यौहार विचारा।।575।।

अर्थ :– चोरी का त्याग करने से शिव–मोक्ष की प्राप्ति होती है, चोरी करने वाला मूर्ख कहलाता है। चोरी के दो भेद होते हैं – 1. निश्चय चोरी और 2. व्यवहार।

निश्चै चोरी इह भाई, तजि आतम जड़ लव लाई।
पर परिणति प्रणमन चोरी, छांडें ते जिनमत धोरी।।576।।

अर्थ :– हे भाई! आत्मा को छोड़कर जड़ पदार्थों से जो प्रीति करते हैं, उसे निश्चय चोरी कहते हैं। पर–परिणति में अर्थात् आत्मेतर पदार्थों में जीव का परिणमन चोरी है। जो इसको – पर–परिणति को त्याग देते हैं, वे जिनमत की धुरा को धारण करने वाले श्रेष्ठ पुरुष हैं।

तजिकै पर परिणति जीवा, त्यागौ सब भाव अजीवा।
यह देह आदि पर वस्ता, तिनसों नहिं प्रीति प्रशस्ता।।577।।

अर्थ :– हे भाई! पर–परिणति को छोड़कर सब जड़ पदार्थों से ममत्व भाव छोड़ो। यह शरीर आदि भी पर–वस्तु है। इनसे भी प्रीति – राग नहीं करना, वही प्रशस्त भाव है।

बिन चेतन जे परपंचा, तिनमें सुख ज्ञान न रंचा।
इनमें नहिं अपनों कोई, अपनों निज चेतन होई।।578।।

अर्थ :– बिना चेतन के जितना भी पर–वस्तुओं का प्रपंच – विस्तार है, उनमें रंचमात्र भी सुख और ज्ञान नहीं है। इस संसार में निज चेतन को छोड़कर अपना कोई भी नहीं है।

तातें सुनि के अध्यातम, छांडौ ममता सब आतम।
अपनो चेतन धन लेहो, पर की आसा तजि देहो।।579।।

अर्थ :– हे भाई! इस अध्यात्म को सुनकर सब प्रकार के ममत्व भावों का त्याग करो। पर पदार्थों की आशा छोड़कर अपने चेतन–धन को प्राप्त करो।

जे ममता पंथ न लागे, निश्चै चोरी ते त्यागे।
जब निश्चै चोरी छूटै, तब काल भूपाल न कूटै।।580।।

अर्थ :– जो ममता के मार्ग से प्रीति नहीं रखते, उनके ही निश्चय चोरी का त्याग कहा गया है। जब निश्चय चोरी का त्याग हो जाता है, तभी कालरूपी राजा के दण्ड का भय नहीं रहता।

इह निश्चै व्रत्त बखाना, या सम कोइ और न जाना।
शिव पद दायक यह वृत्ता, करिये भवि जीव प्रवृत्ता।।581।।

अर्थ :- इस प्रकार निश्चय चोरी के त्याग का कथन किया। इस व्रत के समान और कोई व्रत नहीं है। यह व्रत मोक्ष-सुख को देने वाला है। इसलिए हे भव्य जीव! इस व्रत में प्रवृत्ति करो।

जिन त्यागी पर की ममता, तिन पाई आतम-समता।
अब सुनि व्यवहार सरूपा, जा विधि जिनराज प्ररूप

मता को प्राप्त किया है। अब जिनराज ने जिसका प्ररूपण किया है, ऐसी व्यवहार चोरी का स्वरूप सुनो।

इक देव जिनेसुर पूजौ, सेवो मति जिन बिन दूजौ।
बिन गुरु निरग्रन्थ दयाला, सेवौ मति औरहि लाला।।583।।

अर्थ :- हे भाई! एक जिनेन्द्र भगवान को ही पूजो, उनके अतिरिक्त अन्य किसी देव को मत पूजो। करुणावान दयावान निर्ग्रन्थ गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी को गुरु मत मानना।

सुनि श्री जिनजू के ग्रंथा, मति सुनहु और अघ-पंथा।
मिथ्यात समान न चोरी, धारें तिनकी मति भोरी।।584।।

अर्थ :- जिनेन्द्र कथित शास्त्रों का श्रवण करो। पाप पंथरूप अन्य ग्रंथों को मत सुनो; क्योंकि मिथ्यात्व के समान और कोई चोरी नहीं है। मिथ्यात्व को धारण करने वाले अज्ञानी हैं।

इह अंतर बाहिज त्यागें, तब वृत्त विधान हि लागें।
सम्यक् ह्वै आतम भावा, मिथ्यात अशुद्ध विभावा।।585।।

अर्थ :- मिथ्यात्व का अंतरंग और बहिरंग से त्याग करो, तभी इन व्रतों की महिमा है अर्थात् सफलता है। सम्यक्त्व आत्मा का स्वभाव है और मिथ्यात्व आत्मा का विभाव है।

सम्यक् निश्चय व्यवहारा, सो धारौ तजि उरझारा।
वर व्रत्त अचौरज धारें, ते सर्व दोष को टारें।।586।।

अर्थ :- अंतरंग के विकल्पों को छोड़कर, व्यवहार-निश्चय रूप सम्यक्त्व को धारण करो। जो श्रेष्ठ अचौर्य व्रत को धारण करते हैं, वे सर्व दोषों का नाश करते हैं।

या बिन नहिं साधु गनिया, या बिन नहिं श्रावक भनिया।
श्रावक मुनि द्वय विध धर्मा, यह व्रत्त दुहुनि को मर्मा।।587।

अर्थ :- इस अचौर्य व्रत के बिना साधु साधु नहीं गिने जाते और श्रावक श्रावक नहीं कहे जाते हैं। श्रावक और मुनि दो प्रकार के धर्मों में अचौर्य व्रत प्रधान माना गया है।

मुनि के सब ममता छूटी, समता तें दुरमति टूटी।
मुनि उपधि न एक धराहीं, कछु छाने नाहिं कराहीं।।588।।

अर्थ :- मुनिराज के सब प्रकार के ममत्व परिणाम छूट जाने से, समता भाव से दुर्बुद्धि का नाश होता है। मुनिराज एक भी (उपाधि) परिग्रह को धारण नहीं करते। वे कोई भी कार्य छिपाकर नहीं करते। (छिपाकर की हुई क्रिया में चोरी का दोष लगता है।)।

देहादिक सों नहिं नेहा, बरसै घट आनंद मेहा।
मुनि के सब दोष जु नासें, तातें सु महाव्रत भाषे।।589।।

अर्थ :- मुनिराज को शरीर आदि से स्नेह राग नहीं होता है। उनके हृदय में आनंदरूपी मेघ बरसता है। उनके सब दोषों का नाश हो जाने से, उनके महाव्रतों का कथन किया है।

मुनि के कछु हरनों नाहीं, चित लागै चेतन माहीं।
श्रावक के भोजन लेई, नहिं स्वाद विषें चित देई।।590।।

अर्थ :- मुनिराज किसी का कुछ भी हरते। उनका चित्त तो आत्मा में लगा रहता है। श्रावक के घर वे भोजन ग्रहण करते हैं। भोजन के स्वाद के विषय में वे कभी चित्त नहीं लगाते।

काम न क्रोध न छल माना, नहिं लोभ महा बलवाना।
जे दोष छियालिस टालें, जिनवर की आज्ञा पालें।।591।।

अर्थ :- मुनि महाराज के महा बलवान कषाय, काम, क्रोध, छल, मान, लोभ आदि नहीं होते। वे आहार के 46 दोषों को टालते हुए जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का पालन करते हैं।

ते मुनिवर ज्ञान सरूपा, शुभ पंच महाव्रत रूपा।
गृहपति के कुछ इक धंधा, कुछ ममता मोह प्रबंधा।।592।।

अर्थ :- वे मुनिराज ज्ञान के भण्डार हैं और पाँच महाव्रतों का अच्छी तरह पालन करते हैं। गृहस्थी के आरम्भ-परिग्रह संबंधी धंधा लगा रहता है, जिसके फलस्वरूप उसको कुछ ममत्व भाव, मोहभाव आदि बना रहता है।

छाने कछु करनों आवै, ताते अणुव्रत्त कहावै।
कूपादिक को जल हरिवौ, इह किंचित् दोषहु धरिवो।।593।।

अर्थ :- गृहस्थ को कुछ काम छिपाकर करने पड़ते हैं, इसलिए उसके अणुव्रत होते हैं। वे

कूप आदि का जो जल ग्रहण करते हैं। इसमें भी किंचित् दोष लगता है।

मोटे सब त्यागें दोषा, काहू को हरिये न कोषा।
त्यागौ परधन को हरिवौ, छांडौ पापनि को करिवौ।।594।।

अर्थ :- गृहस्थ पाँच पापों का स्थूल रूप से त्याग करते हैं। वे किसी का धन हरण नहीं करते हैं। हे भाई! परधन हरण का त्याग करो। पाप करना छोड़ो।

संक्षेप कही यह बाता, आगे जु सुनहु अब भ्राता।
इह अणुव्रत को जु सरूपा, जिनश्रुत अनुसार प्ररूपा।।595।।

अर्थ :- हे भाई! संक्षेप में इतना कथन किया। अब आगे जिनागम में जैसा प्ररूपण किया है, वैसा अणुव्रतों का स्वरूप सुनो।

अब अतीचार सुनि भाई, त्यागौ पंचहि दुखदाई।
है चोरी को जु प्रयोगा, सो पहलो दोष अजोगा।।596।।

अर्थ :- हे भाई! अब इनके अतीचार सुनो। इन पाँचों अतीचारों का त्याग करो, क्योंकि ये दुखदायी हैं। 1. चोरी करने का प्रयोग - उपाय बताना, यह प्रथम अतीचार है।

चोरी को माल जु लेनों, इह दूजो अघ तजि देनों।
थोरे मोले बड़ बस्ता, लेवौ नहिं कबहु प्रशस्ता।।597।।

अर्थ :- 2. चोरी का माल ग्रहण करना, यह दूसरा अतीचार है। कम मूल्य देकर अधिक मूल्य वाली वस्तु को कभी ग्रहण नहीं करना; क्योंकि यह कभी प्रशस्त नहीं है।

राजा को हासिल गोपै, राजा की आणि जु लोपै।
इह तीजो दोष निरूपा, त्यागौ व्रत धारि अनूपा।।598।।

अर्थ :- 3. राजाज्ञा के विरुद्ध चुंगी-टैक्स आदि की चोरी करना, यह तीसरा अतीचार है। इसको छोड़कर अनुपम व्रत धारण करो।

देवे के तोला घाटै, लेवे के अधिका बाटै।
इह अतीचार है चौथो, त्यागौ शुभमति तें थोथो।।599।।

अर्थ :- 4. देने के तौल माप कमती रखना और लेने के तौल रूप माप अधिक रखना। यह चौथा अतीचार है। शुभमति जीव इसको छोड़ें।

बधि मोल में घाटि मोला, भेले ह्वै पाप अतोला।
इह है पंचम अतिचारा, त्यागें जिन-मारग धारा।।600।।

अर्थ :- 5. अधिक मूल्यवाली वस्तु में कम मूल्य वाली वस्तु को मिलाकर, मिश्रित वस्तु को तौलना पाँचवाँ अतीचार है। जिनमार्ग को धारण करने वाले इस अतीचार का त्याग करते हैं।

ए अतीचार गुरु भाखे, जैनी जीवनि नें नांखे।
चोरी करि दुरगति होई, चोरी त्यागें शुभ सोई।।601।।

अर्थ :- इन अतीचारों का गुरु ने कथन किया है। जैन अपने जीवन में इसका उल्लंघन नहीं करते। चोरी करने से दुर्गति प्राप्त होती है। चोरी का त्याग करने से शुभ गति प्राप्त होती है।

चोरी तजि अंजन चोरा, तिरियो भव-सागर थोरा।
लहि महामंत्र तप गहिया, ध्यानानल भववन दहिया।।602।।

अर्थ :- चोरी का त्याग करने से अंजन चोर भवसागर से पार हो गया। महामंत्र के प्रभाव से उसने तपश्चरण अर्थात् संयम ग्रहण किया तथा ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा भव-वन को जला दिया।

अंजन हूऔ जु निरंजन, इह कथा भव्य मनरंजन।
बहुरि यो नृप श्रेणिक पुत्रा, है वारिषेण जगमित्रा।।603।।

कर परधन को परिहारा, पायौ भवसागर पारा।
चोरी करि तापस दुष्टा, पंचागन साधनि पुष्टा।।604।।

लहि कोटपाल की त्रासा, मरि नरक गयौ दुख भाषा।
दरिद्दर का मूल जु चोरी, चोरी तजि अर तजि जोरी।।605।।

अर्थ :- अंजन निरंजन हुआ। यह कथा भव्य जीवों को आनंददायक है। जग-बांधव के समान श्रेणिक राजा का पुत्र वारिषेण कुमार भी परधन का त्याग करके भवसागर से पार हुआ। पंचाग्नि तप करने वाला दुष्ट तापसी चोरी करने के फलस्वरूप कोतवाल के द्वारा दंडित हुआ और मर कर नरक के दुखों को प्राप्त हुआ। दरिद्रता का मूल चोरी है, इसलिए चोरी का त्याग करो।

सब अघ तजि जिनसों जोरी, बिनऊँ भैया कर जोरी।
चोरी तजियाँ शिव पावैं, यह महिमा श्री जिन गावैं।।606।।

अर्थ :- हे भाई! मैं हाथ जोड़कर विनती करता हूँ कि सब पापों का परित्याग कर भगवान जिनेन्द्र से अपने आपको जोड़ो। चोरी का त्याग करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जिनेन्द्र भगवान ने इसकी ऐसी महिमा कही है।

चोरी तें भव-भव भटकै, चोरी तें सब गुन सटकै।
जो बुधजन चोरी त्यागै, सो परमारथ पथ लागे।।607।।

अर्थ :– चोरी से भव–भव में भ्रमण करना पड़ता है। चोरी से सभी गुण दूर हट जाते हैं। जो बुद्धिमान चोरी को त्याग करते हैं, वे शिवपंथ पर लग जाते हैं।

दोहा

परधन के परिहार बिन, परम धाम नहिं होय।
भये पार ते तीसरे, व्रत्त बिना नहिं कोय।।608।।

अर्थ :– परद्रव्य के परिहार बिना परम धाम की प्राप्ति नहीं होती। तीसरे अचौर्यव्रत के बिना कोई इस भवसागर से पार नहीं हो सकता है।

जे बूढ़े नर नरक में, गये निगोद अजान।
ते सब परधन–हरणतें, और न कोई बखान।।609।।

अर्थ :– पूर्व में जो भी मनुष्य नरक को प्राप्त हुए हैं, निगोद स्थान को प्राप्त हुए हैं; वे सब पर–धन हरण के ही कारण गये हैं और कोई कारण नहीं है।

व्रत्त अचोरिज तीसरो, सब व्रत्तनि में सार।
जो याकों धारै व्रती, सो उतरै संसार।।610।।

अर्थ :– सब व्रतों में सारभूत तीसरा अचौर्य व्रत है। जो भी इस व्रत को धारण करते हैं, वे संसार से पार उतर जाते हैं।

याकी महिमा प्रभु कहें, जो केवल गुणरूप।
पर गुण रहित निरंजना, निर्गुण निर्मलरूप।।611।।

अर्थ :– इस व्रत की महिमा केवलज्ञान के धारी जिनेन्द्र भगवान ही कह सकते हैं। जो पर–गुणों से रहित ज्ञानी निर्गुण निरंजन अर्थात् कर्म–काजल से रहित निर्मल स्वरूप हैं।

कहें गणिंद मुनिन्दवर, करें भव्य परमान।
जे धारें ते पावही, पूरण पद निर्वान।।612।।

अर्थ :– मुनियों में श्रेष्ठ गणधर देवों ने भी इस व्रत की महिमा गाई है। भव्य जीव इनको प्रमाण मानते हैं। जो भी जीव इस व्रत को धारण करते हैं, वे पूर्ण पद निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

अल्पमती हम सारिखे, कहे कौन विधि वीर।
नमस्कार या वृत्त कों, धारे धर्मी धीर।।613।।

अर्थ :– हे वीर! अल्पमति हम जैसे इस व्रत की महिमा का किस विधि से वर्णन करें। धीर

पुरुष जिनको धारण करते हैं। ऐसे इस महान व्रत को हम नमस्कार करते हैं।

जे उरझे ते या बिना, इह निश्चय उर धारि।
जे सुरझे ते या करी, यह व्रत है अघहारि।।614।।

अर्थ :- जो भी प्राणी इस संसार में उलझ रहे हैं, भटक रहे हैं; वह निश्चय से इस व्रत के धारण नहीं करने का फल है। जो प्राणी संसार से सुलझ रहे हैं, पार होते हैं; वह इसी व्रत का फल है। यह व्रत पापों का हरण करने वाला है।

दया सत्य संतोष अर, शीलरूप है एह।
उतरै भवसागर थकी, धरै या थकी नेह।।615।।

अर्थ :- दया, सत्य, संतोष, शील आदि गुणों से ही संसार-सागर से पार होते हैं। इसलिए प्रीतिपूर्वक इन गुणों को धारण करो।

दया सत्य अस्तेय कौ, करि वन्दन मन लाय।
भाषों चौथो शीलव्रत, जो इन विगर न थाय।।616।।

अर्थ :- दया, सत्य और अचौर्य को भावसहित नमस्कार करके अब चौथे शीलव्रत का कथन करता हूँ, जो इस अचौर्य व्रत के बिना प्राप्त नहीं होता है।

।। अथ शीलव्रत वर्णन ।।

प्रणमि परम रस शांति को, प्रणमि धरम गुरुदेव।
वरणों सुजस सुशील को, करि शारद की सेव।।617।।

अर्थ :- परम शांतरस, परम धर्म, गुरु एवं जिनवाणी को नमस्कार करके, सुयश को प्राप्त कराने वाले शीलव्रत का अब मैं वर्णन करता हूँ।

शीलव्रत्त को नाम है, ब्रह्मचर्य सुखदाय।
जाकरि चर्या ब्रह्म में, भव-वन भ्रमण नशाय।।618।।

अर्थ :- शीलव्रत का नाम ब्रह्मचर्य है। यह परम सुखदायक है। ब्रह्म अर्थात् आत्मा में चर्या करने से संसार रूपी भव-भ्रमण का नाश होता है।

ब्रह्म कहावें जीव सब, ब्रह्म कहावें सिद्ध।
ब्रह्मरूप कैवल्य जो, ज्ञान महा परसिद्ध।।619।।

अर्थ :- सभी जीव ब्रह्म कहलाते हैं। सिद्ध जीव भी ब्रह्म हैं। केवलज्ञान भी ब्रह्मरूप है, जो जगतप्रसिद्ध है।

ब्रह्मचर्य सो वृत्त ना, न पर ब्रह्म सो कोय।
व्रती न ब्रह्म-लवलीन सो, तिरै भवोदधि सोय।।620।।

अर्थ :- ब्रह्मचर्य के समान और कोई व्रत नहीं है और आत्मरमण के समान कोई वस्तु नहीं है। आत्मा में लीनता के समान और कोई व्रत नहीं है। ब्रह्मचर्य से संसार-समुद्र पार हो जाता है।

विद्या ब्रह्म-विज्ञान सी, नहीं दूसरी जान।
विज्ञ नहीं ब्रह्मज्ञ सो, इह निश्चय उर आन।।621।।

अर्थ :- ब्रह्म विज्ञान अर्थात् आत्मविज्ञान के समान दूसरी कोई विद्या नहीं है। आत्मज्ञ के समान और कोई विज्ञ नहीं है। यह निश्चय करके हृदय में धारण करो।

ब्रह्म वासना सारिखी, और न रस की केलि।
विषय वासना सारिखी, और न विष की बेलि।।622।।

अर्थ :- ब्रह्म वासना (संस्कार) के समान और कोई आनंद-दायिनी क्रीड़ा नहीं है। विषय-वासना के समान और कोई विष-बेल नहीं है।

आतम अनुभव सिद्ध सी, और न अमृत बेलि।
नहीं ज्ञान सो बलवता, देहि मोह को ठेलि।।623।।

अर्थ :- आत्म-अनुभव की सिद्धि के समान और कोई अमृतदायिनी बेल नहीं है। ज्ञान के समान और कोई बलवान नहीं है, जो मोह को धकेल दे अर्थात् परास्त कर दे।

अव्रत नाहिं कुशील सो, नरक निगोद प्रदाय।
नहीं सील सो संजमा, भाषें श्री जिनराय।।624।।

अर्थ :- कुशील के समान दूसरा कोई अव्रत नहीं है। यह नरक-निगोद को प्राप्त कराने वाला है। शील के समान दूसरा संयम नहीं है। ऐसा जिनराज ने कहा है।

धर्म न श्री जिनधर्म से, नहिं जिनवर से देव।
गुरु नहिं मुनिवर सारिखे, रागी सो न कुदेव।।625।।

अर्थ :- जिनधर्म-सदृश धर्म नहीं है। जिनवर-सदृश देव नहीं हैं। मुनिराज-सदृश गुरु नहीं हैं। रागी-द्वेषी के समान और कोई कुदेव नहीं है।

कुगुरु न परिग्रह धारितै, हिंसा सो न अधर्म।
मर्म न मिथ्या सूत्र सो, नहीं मोह सो कर्म।।626।।

अर्थ :- परिग्रहधारी-सदृश दूसरा कोई कुगुरु नहीं है। हिंसा के समान दूसरा कोई अधर्म नहीं है। मिथ्या सूत्र, खोटे शास्त्र के समान दूसरा कोई भ्रम में डालने वाला नहीं है और भव-भ्रमण कराने वाले मोहनीय कर्म के समान दूसरा कोई कर्म नहीं है।

द्रष्टा न कोई जीव सो, गुन न ज्ञान सो आन।
ज्ञान न केवलज्ञान सो, जीव न सिद्ध समान।।627।।

अर्थ :- जीव-सदृश कोई दृष्टा (देखनेवाला - देखने की शक्तिवाला) नहीं है। ज्ञान-सदृश और कोई गुण नहीं है। केवलज्ञान-सदृश और कोई ज्ञान नहीं है और सिद्ध-सदृश और कोई जीव नहीं है।

केवलदर्शन सारिखो, दर्शन और न कोई।
यथाख्यात चारित्र सो, चारित और न होइ।।628।।

अर्थ :- केवलदर्शन के समान और कोई दर्शन नहीं है। यथाख्यात चारित्र के समान और कोई चारित्र नहीं है।

नहिं विभाव मिथ्यात सो, सम्यक सो न स्वभाव।
क्षयिक सो सम्यक नहीं, नहीं शुद्ध सो भाव।।629।।

अर्थ :- मिथ्यात्व के समान कोई विपरीत भाव नहीं है। सम्यक्त्व के सदृश कोई स्वभाव नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व के समान और कोई सम्यक्त्व नहीं है। शुद्ध भाव (शुद्धोपयोग) के समान और कोई भाव नहीं है।

साधु न क्षीण कषाय से, श्रेणि न क्षपक समान।
नहिं चौदम गुणथान सो, और कोई गुणथान।।630।।

अर्थ :- क्षीणकषायी के सदृश कोई साधु नहीं है। क्षपक श्रेणी के समान और कोई श्रेणी नहीं है। चौदहवें गुणस्थान के सदृश और कोई गुणस्थान नहीं है।

नहिं केवल प्रत्यक्ष सो, और कोई परमाण।
सुकल ध्यान सो ध्यान नहिं, जिनमत सो न बखाण।।631।।

अर्थ :- प्रत्यक्ष के समान कोई प्रमाण नहीं है। शुक्लध्यान-सदृश कोई ध्यान नहीं है। जिनमत-सदृश और कोई महान मत नहीं है।

अनुभव सो अमृत नहीं, नहिं अमृत सो पान।
इन्द्री रसना सी नहीं, रस न शांति सो आन।।632।।

अर्थ :- अनुभव-सदृश अमृत नहीं है। अमृत-समान दूसरा कोई पेय नहीं है। रसना इन्द्रिय के समान इन्द्रिय नहीं है। शांत-रस के समान और कोई रस नहीं है।

मनोगुप्ति सी गुप्ति नहिं, चंचल मन सो नाहिं।
निश्चल मुनि से और नहिं, नहीं मौन मन माहिं।।633।।

अर्थ :- मनोगुप्ति-सदृश गुप्ति नहीं है। मन-सदृश कोई चंचल नहीं है। मुनि-सदृश और कोई निश्चल (ध्यानी) नहीं है। मौन के समान और कोई हितकारी नहीं है।

मुनि से नहिं मतिवंत नर, नहिं चक्री से राव।
हलधर अर हरि सारिखो, हेत न कहूँ लखाव।।634।।

अर्थ :- मुनि-सदृश और कोई बुद्धिमान मनुष्य नहीं है। चक्रवर्ती-सदृश राजा नहीं है। बलभद्र और नारायण-सदृश और किसी का प्रेमभाव नहीं है।

प्रतिहरि से न हठी भए, हरि से और न सूर।
हर से ता सम धार नहिं, बहु विद्या भरपूर।।635।।

अर्थ :- प्रतिनारायण-सदृश कोई हठी नहीं है। नारायण के समान कोई शूरवीर नहीं है। अनेक विद्याओं के परगामी बलभद्र-समान कोई धैर्यशाली नहीं है।

नारद से न भ्रमंत नर, भ्रमें अढ़ाई दीप।
कामदेव से सुन्दर न, नहिं जिनसे जगदीप।।636।।

अर्थ :- नारद के समान और कोई मनुष्य भ्रमण करने वाले, घूमने वाले नहीं हैं। वे अढ़ाई द्वीप में परिभ्रमण करते हैं। जग-दीपक कामदेव के समान और कोई सुन्दर नहीं है।

जिन-जननी जिन-जनक से, और न गुरुजन जानि।
मिष्ट न जिनवानी समा, यह निश्चय परमान।।637।।

अर्थ :- जिन-माता और जिन-पिता के सदृश और कोई गुरुजन नहीं हैं। जिनवाणी-समान और कोई मधुर वाणी नहीं है। यह निश्चय से प्रमाण है।

जिन मूरति सी मूरति न, परमानंद सरूप।
जिन सूरति सी सूरति न, जा सम और न रूप।।638।।

अर्थ :- जिनमूर्ति-सदृश मूर्ति नहीं है, जो परम आनन्द रूप है। जिनेन्द्र भगवान की सूरत-सदृश और किसी का रूप नहीं है।

जिनमंदिर से मंदिर नहीं, जिन तन सो न सुगन्ध।
जिन विभूति सी भूति नहिं, जिन श्रुति सो न प्रबंध।।639।।

अर्थ :- जिनमंदिर-सदृश मंदिर नहीं है। जिनेन्द्र भगवान के शरीर-सदृश और कोई सुगन्धित शरीर नहीं है। जिनविभूति (अन्तरंग-बाह्य)-सदृश और कोई विभूति नहीं है। जिनागम-समान और कोई व्यवस्थित शास्त्र नहीं है।

जिनवर से न महाबली, जिनवर से न उदार।
जिनवर से न मनोहरा, जिन से और न सार।।640।।

अर्थ :- जिनवर-समान दूसरा कोई महाबलवान नहीं है। जिनवर-सदृश दूसरा कोई उदार नहीं है। जिनवर-सदृश कोई मनोहर नहीं है। जिनेन्द्र देव-समान और कोई सारभूत अर्थात् श्रेष्ठ नहीं है।

चरचा जिन चरचा समा, और न जग में कोइ।
अर्चा जिन अर्चा समा, नहीं दूसरी होइ।।641।।

अर्थ :- जिन-चर्चा के सदृश इस संसार में और चर्चा नहीं है। जिनेन्द्र भगवान की अर्चा - पूजा के समान और कोई दूसरी पूजा नहीं है।

राज न श्री जिनराज से, जिनके राग न रोस।
ईति भीति नहिं राज में, नहीं एक भी दोस।।642।।

अर्थ :- जिनके राग और द्वेष नहीं हैं, ऐसे जिनेन्द्र देव के समान कोई राजा नहीं है। उनके राज्य में किसीप्रकार का दुर्भिक्ष और भय नहीं रहता है एवं जिनके अठारह दोष भी नहीं हैं।

सेवैं इन्द नरिन्द सब, भजहिं फणीस मुनीस।
रटें सूर ससि सुर सबै, जिनसम और न ईस।।643।।

अर्थ :- जिनकी सब इन्द्र और नरेन्द्र सेवा करते हैं, धरणेन्द्र और गणधर जिनका ध्यान करते हैं; सूर्य, चंद्र एवं सभी देव जिनका रटन करते हैं - ऐसे जिनेन्द्र देव-सम और कोई भगवान नहीं हैं।

अर्चे अहमिंद्रा महा, अरचें चतुर सुजान।
हरि हर प्रतिहरि हलि मदन, पूजें चक्रि पुमान।।644।।

गुरुकुल कर नारद सबै, सेवें तन मन लाय।
जग में श्री जिनराय सों, पूज्य न कोई लखाव।।645।।

अर्थ :- अहमिंद्र जिनकी महामहिम पूजा करते हैं, चतुर ज्ञानी मनुष्य जिनकी अर्चा करते हैं; चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र और कामदेव जैसे श्रेष्ठ पुरुष जिनकी पूजा करते हैं, गुरु स्थानीय कुलकर और सभी नारद भी जिनकी शरीर और मन से सेवा करते हैं - ऐसे जिनराज के सदृश इस जगत में और कोई पूज्य देखने में नहीं आया अर्थात् दूसरा कोई पूज्य नहीं है।

तीर्थंकर पद सारिखा, और न पद जग माहिं।
वज्रवृषभनाराच सो, संहनन कोई नाहिं।।646।।

अर्थ :- इस संसार में तीर्थंकर के समान और कोई महान पद नहीं है। वज्रवृषभनाराच संहनन के सदृश और कोई संहनन नहीं है। (इस संहननधारी ही मोक्ष जा सकते हैं)।

समचतुस्र संठान सों, और नहीं संठाण।
पुरुष सलाका सारिखा, और न कोई जाण।।647।।

अर्थ :- समचतुरस्र संस्थान के सदृश और कोई शरीर का सुंदर आकार नहीं है। शलाका पुरुष के सदृश और कोई महान श्रेष्ठ पुरुष नहीं है।

चक्रायुध-हल-आयुधा, कुसुमायुध इत्यादि।
धर्मायुध के दास सब, वज्रायुध नृप आदि।।648।।

अर्थ :- चक्रायुध, हलायुध, कुसुमायुध, वज्रायुध आदि अनेक आयुध हैं; परन्तु ये सब धर्मरूपी आयुध के दास हैं।

जे हैं चरम शरीर धर, तद्भव मुक्ति मुनीश।
तिन सौ कोई न मानवा, नमें सुरासुर सीस।।649।।

अर्थ :- जो महामुनि चरम शरीर को धारण करके उसी भव से मुक्ति को प्राप्त करते हैं, उनके समान और कोई मनुष्य नहीं है; जिनको सुर-असुर सभी नमस्कार करते हैं।

नहीं सिद्ध पर्याय-सी, और शुद्ध पर्याय।
नहीं केवली काय-सी, और दूसरी काय।।650।।

अर्थ :- सिद्ध पर्याय के सदृश शुद्ध पर्याय नहीं है। केवली भगवान के परम औदारिक शरीर सदृश और कोई शरीर नहीं है।

अर्हत सिध साधू सबै, केवल भाषित धर्म।
इन चउ सें नहिं मंगला, उत्तम और न पर्म।।651।।

अर्थ :- अरिहंत, सिद्ध, साधु (आचार्य, उपाध्याय, साधु) और केवली भगवान के द्वारा कहा

हुआ धर्म - ये चारों ही मंगल एवं उत्तम पदार्थ हैं। इनके समान और कोई कल्याणकारी नहीं है।

इन चउ शरणनि सारिखे, शरण नाहिं जग माहिं।
संघ न चउविधि संघ से, जिनके संशय नाहिं।।652।।

अर्थ :- इन चारों की शरण-समान इस संसार में कोई शरणभूत पदार्थ नहीं है। चतुर्विध संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) के सदृश और कोई संघ नहीं है, जिन्हें जिनवचनों पर संशय नहीं होता है।

चोर न इन्द्री-चित्त से, मुसें धर्म धन भूरि।
चारित से नहिं तलवरा, ठारै तिनकों चूरि।।653।।

अर्थ :- इन्द्रिय और मन के बराबर कोई चोर नहीं है, जो प्रकर्षरूपेण धर्मरूपी धन को चुराते हैं और चारित्र के समान कोई कोतवाल नहीं है, जो चोरों की धुनाई कर उनका चूर्ण कर देता है।

जैसें ऐ उपमा कही, तैसें शील समान।
व्रत्त न कोई दूसरो, भाषें श्री भगवान।।654।।

अर्थ :- जिस प्रकार ऊपर उपमा कही गई है, उसी प्रकार शील के समान दूसरा कोई महान व्रत नहीं है। ऐसा श्री भगवान ने कहा है।

वक्ता सर्वग से नहीं, श्रोता गणधर से न।
कथन न आतमज्ञान सो, साधन साधु जिसे न।।655।।

अर्थ :- सर्वज्ञ-सदृश वक्ता नहीं है। गणधर-समान श्रोता नहीं है। आत्मज्ञान के समान कोई दूसरा कथन नहीं है, साधु-समान कोई साधना करने वाला नहीं है।

बाधक नहिं रागादि से, तिनहिं तजें जोगिन्द।
नहिं साधन समभाव से, धारें धीर मुनिन्द।।656।।

अर्थ :- रागादि-सदृश कोई बाधक नहीं है, जिन्हें योगीन्द्र छोड़ देते हैं। सम-भाव समता-सदृश कोई साधकभूत नहीं है, जिन्हें धीर-वीर मुनीन्द्र धारण करते हैं।

पाप नहीं पर द्रोह सो, त्यागें सज्जन संत।
पुण्य न पर उपकार सो, धारें नर मतिवंत।।657।।

अर्थ :- पर-द्रोह सदृश कोई पाप नहीं है। सज्जन संत पुरुष इसका त्याग करते हैं। पर-उपकार-सदृश पुण्य नहीं है। बुद्धिमान मनुष्य इन्हें धारण करते हैं।

लेश्या शुक्ल समान नहिं, जामें उज्ज्वल भाव।
उज्ज्वलता निकषाय सी, और न कोई लखाव।।658।।

अर्थ :– शुक्ल लेश्या समान लेश्या नहीं है, जिसमें उज्ज्वल परिणाम होते हैं। निष्कषाय से उत्पन्न उज्ज्वलता–सदृश और कोई निर्मलता नहीं है।

दया प्रकाशक जगत में, नहीं जैन सो कोई।
पर्म धर्म नहिं दूसरो, दया सारिखों होई।।659।।

अर्थ :– इस संसार में दया के प्रकाशक जैनधर्म के समान और कोई नहीं है। दया–सदृश सुखदायी और कोई दूसरा उत्तम धर्म नहीं है।

कारण निज कल्याण को, करुणा तुल्य न जानि।
कारण जिन विश्वास को, नहीं सत्य सो मानि।।660।।

अर्थ :– निज आत्मकल्याण के कारणभूत करुणा – दया के समान और कोई नहीं है। जिनेन्द्र देव में श्रद्धा के कारणभूत सत्य समान और कोई नहीं है।

सत्यारथ जिन सूत्र सो, और न कोई प्रबानि।
सर्व सिद्धि को मूल है, सत्य हिये में आनि।।661।।

अर्थ :– सत्य के प्रतिपादक जिनसूत्र–सदृश दूसरा कोई प्रामाणिक नहीं है। यह सर्व सिद्धि का मूल है। इसे सच्चाई से हृदय में धारण करो।

नहिं अचौर्य व्रत सारिखौ, भय हरि भ्रांति निवार।
नहिं जिनेन्द्र मत सारिखौ, चोरी बरज उदार।।662।।

अर्थ :– अचौर्य व्रत के सदृश भयनाशक और भ्रांति–निवारक दूसरा कोई नहीं है। चोरी का निषेध करने वाले उदार जिनेन्द्रमत–सदृश दूसरा कोई मत नहीं है।

नहीं सील सो लोक में, है दूजो अविकार।
कारण शुद्ध स्वभाव को, भव–जल तारणहार।।663।।

अर्थ :– संसार में शील के सदृश दूसरा कोई विकारों को दूर करने वाला (अविकारी) नहीं है। शीलव्रत ही शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति का कारण है, जो संसार–समुद्र से तारने वाला है।

नहिं जिनशासन सारिखौ, शील प्रकाशन हार।
या संसार असार में, जा सम और न सार।।664।।

अर्थ :- शीलव्रत का प्रकाशक जिनशासन सदृश और कोई नहीं है। इस असारभूत संसार में शीलव्रत के समान और कोई सारभूत अर्थात् श्रेष्ठ नहीं है।

नहिं संतोष समान है, सुख को मूल अनूप।
नहीं जिनेसुर धर्म सो, वर संतोष स्वरूप।।665।।

अर्थ :- संतोष के समान और कोई सुख का अनुपम मूल नहीं है। संतोष के स्वरूप का कथन करने वाले जिनधर्म-सदृश और कोई नहीं है।

कोमल परिणामानि सो, करुणाकारण नाहिं।
नहिं कठोर भावानि सों, दयारहित जग माहिं।।666।।

अर्थ :- कोमल मृदु परिणाम-सदृश और कोई करुणा का साधन नहीं है। संसार में कठोर भाव के समान कोई निर्दय भाव नहीं है।

नहिं निरलोभ स्वभाव सो, सत्य मूल है कोइ।
नहिं लोभ सो लोक में, कारण मिथ्या होइ।।667।।

अर्थ :- निर्लोभ स्वभाव के बराबर दूसरा कोई सत्य का मूल नहीं है। मिथ्यात्व के कारणभूत लोभ के समान दूसरा कोई नहीं है।

मूल अचोरिज व्रत्त को, निस्पृहता सो नाहिं।
चोरी मूल प्रपंच सो, नहीं लोक के माहिं।।668।।

अर्थ :- निःस्पृहता-सदृश अचौर्य व्रत का दूसरा कोई मूल नहीं है। संसार में चोरी के समान प्रपंच कोई दूसरा मूल नहीं है।

राजवृद्धि को कारणा, नहीं नीति सो जानि।
नाहिं अनीति प्रचार सों, राज-विघन परवानि।।669।।

अर्थ :- नीति को छोड़ देने से राजवृद्धि नहीं होती है। अनीति के प्रचार से अनेक प्रकार के राजविघ्न सामने आते हैं।

कारण संजम शील को, नहिं विवेक सो भान।
नहिं अविवेक विकार सो, मूल कुशील बखान।।670।।

अर्थ :- विवेक के सदृश संयम, शील का दूसरा कोई कारण नहीं है। अविवेक रूपी विकार के समान कुशील का मूल दूसरा कोई नहीं है।

मूल परिग्रह त्याग को, नहिं वैराग समान।
परिग्रह संग्रह कारणा, तृष्णा तुल्य न आन।।671।।

अर्थ :– वैराग्य के समान परिग्रहत्याग व्रत का और कोई मूल नहीं है। परिग्रह संचय के कारणों में तृष्णा के समान अन्य कोई नहीं है।

करुणा निधि न जिनेन्द्र सो, जगत मित्र है सोय।
नहिं क्रोधी सो निरदई, सर्वनाश को होय।।672।।

अर्थ :– जिनेन्द्र देव के समान करुणा का भंडार और कोई नहीं है, जो संसार के हितकारी मित्र हैं। क्रोधी–सदृश और कोई निर्दय नहीं है। क्रोधी सर्वनाश को प्राप्त होते हैं।

सतवादी सर्वज्ञ से, नहीं लोक में कोइ।
कामी लोभी से महा, लापर और न होइ।।673।।

अर्थ :– इस जगत में सर्वज्ञ के सदृश और कोई सत्यवादी नहीं है तथा कामी और लोभी के सदृश अन्य कोई लबार – झूठा नहीं है।

सम्यक् दृष्टी जीव सो, और न मन मद मोर।
मिथ्या दृष्टी जीव सो, और न परधन चोर।।674।।

अर्थ :– सम्यग्दृष्टि जीव के समान दूसरा कोई अपने मन और मद को मोड़ने वाला नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव के समान पर–धन को चुराने वाला और कोई नहीं है।

समताभाव न सत्य सो, सीलवंत नहिं धीर।
लंपट परिणामी जिसो, नाहिं कुशीली वीर।।675।।

अर्थ :– सत्य के समान अन्य कोई समताभाव नहीं है। शीलवान के समान और कोई धैर्यशाली नहीं है। हे भाई! लंपट परिणामी के बराबर और कोई व्यभिचारी नहीं है।

निसप्रेही निरदुंद सों, परिग्रह त्यागी नाहिं।
तृष्णावंत असंत सो, परिग्रहवंत न काहिं।।676।।

अर्थ :– निःस्पृह और निर्द्वन्द्व के समान और कोई परिग्रहत्यागी नहीं है। तृष्णावन्त के बराबर और कोई परिग्रहधारी नहीं है।

दारिद–भंजन, जस–करण, कारण संपति कोइ।
नहीं दान सो दूसरो, सुरग मुक्ति दे सोइ।।677।।

अर्थ :– दरिद्रता का नाशक, कीर्ति उत्पन्न करने वाला एवं संपत्ति में कारणभूत दान के समान और कोई दूसरा नहीं है। यह दान स्वर्ग और मुक्ति का दाता है।

चउ दाननि से दान नहिं, औषध और अहार।
अभयदान अर ज्ञान को, दान कहें गण–धार।।678।।

अर्थ :– चार दान के सदृश और कोई दान नहीं है। गणधर देवों ने 1. आहारदान 2. औषधदान 3. ज्ञानदान और 4. अभयदान के भेद से दान के चार भेद कहे हैं।

रागादिक परिहार सो, और न त्याग बखान।
त्याग समान न सूरता, इह निश्चय परवान।।679।।

अर्थ :– रागादिक के परिहार – त्याग के समान और कोई त्याग नहीं है। त्याग के समान कोई पराक्रम (शौर्य – शूरता) नहीं है। यह निश्चय जानना चाहिए।

तप समान नहिं और है, द्वादश माहिं निधान।
नहीं ध्यान सो दूसरों, भाषे श्री भगवान।।680।।

अर्थ :– बारह प्रकार के तपों में ध्यान के समान और कोई महान तप नहीं है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

ध्यान नहीं निज ध्यान सो, जो कैवल्य स्वरूप।
जा प्रसाद भवरूप मिटि, जीव होय चिद्रूप।।681।।

अर्थ :– आत्मध्यान के समान और कोई ध्यान नहीं है, जो कैवल्य स्वरूप है। जिसके प्रसाद से संसार–रोग का नाश होकर, जीव शुद्ध चैतन्य अवस्था को प्राप्त होते हैं।

क्षीण मोह से लोक में, ध्यानी और न जानि।
कारण आतम ध्यान को, मन निश्चलता मानि।।682।।

अर्थ :– इस संसार में क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती के समान और कोई ध्यानी नहीं है। मन की निश्चलता–एकाग्रता ही आत्मध्यान में कारण है।

कारण मन वशि करण को, नहीं जोग सो और।
जोग न निज संजोग सो, है सबको सिरमौर।।683।।

अर्थ :– मन को वश में करने का योग के अतिरिक्त दूसरा कोई कारण नहीं है। सबके सिरमौर आत्मयोग के समान और कोई योग नहीं है।

भोग न निज रस भोग सो, जामें नाहिं विजोग।
रोग न इन्द्री भोग सो, इह भाषें भवि लोग।।684।।

अर्थ :– आत्मरस के रसास्वादन रूप भोग के समान और कोई भोग नहीं है, जिसका कभी वियोग नहीं होता। इन्द्रिय भोग के समान और कोई महारोग नहीं है। ऐसा भव्य जीव कहते हैं।

शोक न चिन्ता सारिखौ, विकलपरूप बिडरूप।
नहिं संशय अज्ञान सो, लखै न चेतनरूप।।685।।

अर्थ :– चिन्ता के समान और कोई दुख – शोक नहीं है। यही बेचैनी आकुलता का सबसे बड़ा स्वरूप है। अज्ञान के समान और कोई संशयकारक नहीं है, जिसके कारण यह जीव आत्मस्वरूप को नहीं देख सकता है।

विकलप जाल प्रत्याग सो, और नहीं वैराग।
वीतराग से जगत में, और नहीं बड़भाग।।686।।

अर्थ :– विकल्प समूह के त्याग के समान और कोई वैराग्य नहीं है। संसार में वीतराग के समान और कोई भाग्यशाली नहीं है।

छती संपदा चक्रि की, जो त्यागै मतिवंत।
ता सम त्यागी और नहिं, भाषे श्री भगवंत।।687।।

अर्थ :– चक्रवर्ती की संपत्ति को जो बुद्धिमान त्याग देते हैं, उनके समान और कोई त्यागी नहीं है। ऐसा भगवान ने कहा है।

चाहे अछती भूमिकौ, करै कल्पना–मूढ़।
ता सम रागी और नहिं, सो शठ विषयारूढ़।।688।।

अर्थ :– मूढ़ व्यक्ति कल्पना करता है कि उसे अक्षय विभूति प्राप्त हो जाये। उसके समान और कोई रागी नहीं है। वह मूर्ख विषयों में आसक्त है।

नव जौवन में ब्याह तजि, बाल ब्रह्म व्रत लेय।
ता सम वैरागी नहीं, सो भव–पार लहेय।।689।।

अर्थ :– नवयौवन अवस्था में जो ब्याह का त्याग कर, बाल ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हैं, उनके समान और कोई वैरागी नहीं है। यह व्रत संसार–समुद्र से पार उतारने वाला है।

कंटक नहिं क्रोधादि से, चढ़ि जु रहे गिर मान।
मुनिवर से जोधा नहीं, शस्त्र न शुकल समान।।690।।

अर्थ :- क्रोधादि के समान कोई कंटक नहीं है। उन्नति की ओर बढ़ रहे को गिराने वाला मान के अतिरिक्त दूसरा नहीं है। मुनिराज के समान (कर्मों से लड़ने वाले) और कोई योद्धा नहीं है और शुक्ल ध्यान के समान और कोई शस्त्र नहीं है।

भाव समान न भेष है, भाव समान न सेव।
भाव समान न लिंग है, भाव समान न देव।।691।।

अर्थ :- भाव सहित भेष के समान कोई भेष नहीं है अर्थात् भावसहित भेष कार्यकारी है। भाव पूर्वक सेवा के सदृश कोई सेवा नहीं है। भावलिंग के समान कोई लिंग नहीं है। भाव के समान और कोई देव नहीं है।

ममता-माया रहित सो, उत्तम और न भाव।
सोइ शुद्ध कहिये महा, वर्जित सकल विभाव।।692।।

अर्थ :- ममता - माया से रहित और कोई उत्तम भाव नहीं है। वही महान शुद्ध भाव है, जो समस्त विभावों से रहित है।

कारण आतमध्यान को, भगवत भक्ति समान।
और नहीं संसार में, इह धारौ मतिमान।।693।।

अर्थ :- हे बुद्धिमान! यह निश्चित जानो कि इस संसार में जिनभक्ति के सदृश आत्मध्यान का और कोई दूसरा कारण नहीं है।

विघन-हरण मंगल-करन, जप सम और न जानि।
जप नहिं अजपा जाप सौ, इह श्रद्धा उर आनि।।694।।

अर्थ :- विघ्ननाशक और मंगलकारक, ऐसे जप के समान और कोई नहीं है और अजपा जाप के समान श्रेष्ठ जप नहीं है। हृदय में ऐसी श्रद्धा धारण करो।

कारण रागविरोध को, भाव अशुद्ध जिसौ न।
कारण समताभाव को, विरकित भाव तिसौ न।।695।।

अर्थ :- अशुद्ध भाव के समान और कोई राग-द्वेष का कारण नहीं है और विरक्त भाव के समान और कोई समताभाव का कारण नहीं है।

कारण भव-वन भ्रमण के, नहिं रागादि समान।
कारण शिवपुर गमन को, नहीं ज्ञान सो आन।।696।।

अर्थ :- भव-वन के भ्रमण का कारण रागादि के समान और कोई नहीं है। शिवपुर में गमन के कारणभूत ज्ञान के समान और कोई नहीं है।

सम्यग्दर्शन ज्ञान व्रत, ए रतनत्रय जानि।
इनसे रतन न लोक में, ए शिवदायक मानि।।697।।

अर्थ :- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - इनको रत्नत्रय जानो। इस संसार में इन तीन रत्नों के समान और कोई रत्न नहीं हैं। ये मोक्षदायक हैं।

निज अवलोकन दर्शना, निज जानें सो ज्ञान।
निज स्वरूप को आचरण, सो चारित्र निधान।।698।।

अर्थ :- आत्मावलोकन सम्यग्दर्शन है, आत्मा को जानना सम्यग्ज्ञान है और आत्मस्वरूप में ही रमण - आचरण सम्यक्चारित्र है।

निजगुण निश्चय रतन ये, कहे अभेद स्वरूप।
व्यवहारै नव तत्त्व की, सरधा अविचल रूप।।699।।

अर्थ :- आत्मगुण निश्चय रत्नत्रय है, जो अभेदरूप है। अविचल - दृढ़ता पूर्वक नव तत्त्वों का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है।

तत्त्वारथ श्रद्धान सो, सम्यग्दर्शन जानि।
नव पदार्थ को जानिवौ, सम्यग्ज्ञान बखानि।।700।।

अर्थ :- प्रयोजनभूत पदार्थों का (आत्मकल्याण में साधनभूत तत्त्वार्थ का) श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। नव पदार्थों का याथातथ्य जानना सम्यग्ज्ञान कहा है।

विषय कषाय व्यतीत जो, सो व्यवहार चरित्र।
ए रतनत्रय भेद है, इनसे और न मित्र।।701।।

अर्थ :- विषय-कषाय से रहित प्रवृत्ति व्यवहार चारित्र है। ये रत्नत्रय के भेद हैं। इनके समान जीव का और कोई दूसरा मित्र नहीं है।

देव जिनेसुर गुरु जती, धर्म अहिंसारूप।
इह सम्यक् व्यवहार है, निश्चय निज चिद्रूप।।702।।

अर्थ :- जिनेश्वर देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अहिंसामय धर्म का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। निज चैतन्य का श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है।

नहिं निश्चय व्यवहार सी, सरधा जग में कोइ।
ज्ञान भक्ति दातार ए, जिन भाषित नय दोइ।।703।।

अर्थ :- निश्चय-व्यवहार के सदृश श्रद्धा जगत में दूसरी कोई नहीं है। जिनेन्द्र भाषित ये दोनों नय, ज्ञान और भक्ति देने वाले हैं।

भक्ति न भगवत भक्ति सी, नहिं आतम सो बोध।
रोध न चित्त निरोध सो, दुरनय सो न विरोध।।704।।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान की भक्ति के समान और कोई भक्ति नहीं है। आत्मज्ञान-सदृश और कोई बोध नहीं है, चित्त-निरोध के सदृश दूसरा कोई रोध नहीं है और दुर्नय के सदृश अन्य कोई विरोधी नहीं है।

दुर्मति सी नहिं शाकिनी, हरै ज्ञान सो प्रान।
नमोकार सो मंत्र नहिं, दुरमति हरे निधान।।705।।

अर्थ :- दुर्बुद्धि-सदृश अन्य कोई शाकिनी नहीं है, जो प्राण-सदृश ज्ञान को हरने वाली है। णमोकार के समान और कोई मंत्र नहीं है। यह दुर्गति का नाश करने वाला है।

नहिं समाधि निरुपाधि सी, नहिं तृष्णा सी व्याधि।
तन्त्र न परम समाधि सो, हरै सकल असमाधि।।706।।

अर्थ :- निरुपाधि-सदृश और कोई समाधि नहीं है। तृष्णा-सदृश अन्य कोई व्याधि नहीं है। समस्त असमाधि (कुमरण) के नाशक परम समाधि के समान और कोई तंत्र नहीं है।

भवयन्त्र जु भयदाय को, ता सम विघन न कोय।
सिद्धयन्त्र सो सिद्धकर, और न जग में होय।।707।।

अर्थ :- संसार-परिभ्रमण रूप भवयन्त्र-समान दुखदायक अन्य कोई विघ्न नहीं है। सिद्धिदायक सिद्धयन्त्र के समान और कोई यंत्र इस संसार में नहीं है।

सिद्धक्षेत्र सो क्षेत्र नहिं, सर्व लोक के सीस।
यात्री जतिवर से नहिं, पहुँचै तहां मुनीस।।708।।

अर्थ :- सर्व लोक के मस्तक पर स्थित सिद्धक्षेत्र-सदृश और कोई क्षेत्र नहीं है। यतिवरों के सदृश और कोई यात्री नहीं है। मुनियों के स्वामी ही वहाँ पहुँचते हैं।

षोडसकारण सारिखा, और न कारण कोय।
तीर्थेश्वर पद सारिखा, और न कारज होय।।709।।

अर्थ :– षोडशकारण–समान और कोई श्रेष्ठ कारण नहीं है। (जिनसे तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है) और उस कारण का तीर्थंकर के समान और कोई महान पद अर्थात् महान कार्य नहीं है।

नाहीं दर्शन शुद्धि सा, षोडश माहीं जान।
केवल रिद्धि बराबरी, और न रिद्धि बखान।।710।।

अर्थ :– षोडशकारण भावनाओं में दर्शनविशुद्धि सदृश और कोई भावना नहीं है। केवल ऋद्धि के बराबर और कोई ऋद्धि नहीं है।

नहिं लक्षण उपयोग से, आतम तें जु अभेद।
नाहिं कुलक्षण कुबुधि से, करै धर्म को छेद।।711।।

अर्थ :– आत्मा से अभिन्न उपयोग के समान और कोई जीव का लक्षण नहीं है। धर्म का नाश करने वाली कुबुद्धि के समान और कोई खोटा – खराब लक्षण नहीं है।

धर्म अहिंसा रूप के, भेद अनेक बखान।
नहिं दशलक्षण धर्म से, जग में और निधान।।712।।

अर्थ :– अहिंसारूप धर्म के अनेक भेद कहे गये हैं। उनमें भी दशलक्षण के समान और कोई इस संसार में धर्म नहीं है।

क्षमा उत्तमा सारिखो, और दूसरी नाहिं।
दशलक्षण में मुख्य है, क्रोध–हरण जगमाहिं।।713।।

अर्थ :– दशलक्षण धर्म में भी उत्तम क्षमा के समान दूसरा कोई मुख्य धर्म नहीं है, जिसके द्वारा जगत में क्रोध का नाश होता है।

नीर न शांति स्वभाव सो, अगनि न कोप समान।
मान समान न नीचता, नहिं कठोरता आन।।714।।

अर्थ :– शांति स्वभाव के सदृश कोई शीतल जल नहीं है। क्रोध के समान कोई अग्नि नहीं है। मान के सदृश कोई नीचता और कठोरता नहीं है।

मानी को मन लोक में, पाहन–तुल्य बखान।
मान समान अज्ञान नहिं, भाखें श्री भगवान।।715।।

अर्थ :– इस लोक में मानी का मान पत्थर के समान कठोर कहा गया है। मान के समान कोई अज्ञान नहीं है। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

निगरव भाव समान सो, मृदु नहिं जग में और।
हरै समस्त कठोरता, है सब कौ सिरमौर।।716।।

अर्थ :– इस जगत में निरभिमानता सदृश दूसरा कोई कोमल पदार्थ नहीं है। मृदु परिणाम समस्त कठोर भावों का नाश करता है और सब भावों में सिरमौर है।

कीच न कपट समान को, वक्र न कपट समान।
सरल भाव सो उज्ज्वल, न सूधौ कोइ न आन।।717।।

अर्थ :– कपट के सदृश और कोई कीचड़ नहीं है। कपट के सदृश कोई वक्रता नहीं है। सरल परिणाम के सदृश और कोई उज्ज्वलता एवं सीधापन नहीं है।

आपद लोभ समान नहिं, लोभ समान न लाय।
लोभ समान न खांड है, दुख औगुन समुदाय।।718।।

अर्थ :– लोभ के सदृश कोई आपत्ति नहीं है। लोभ के सदृश कोई अग्नि नहीं है। दुख और अवगुण के समुदाय रूप लोभ के समान और कोई गड्ढा नहीं है।

नहिं सन्तोष समान धन, ता सम सुक्ख न कोय।
नहिं ता सम अमृत महा, निर्मल गुण है सोय।।719।।

अर्थ :– संतोष के समान और कोई धन नहीं है। सन्तोषी के समान और कोई सुखी नहीं है। संतोष के सदृश महान अमृत और कोई नहीं है। यह निर्मल और पवित्र गुण रूप है।

शुभ नहिं निर्मल भाव सो, जहाँ न अशुभ सुभाव।
नाहिं मलिन परिणाम सो, दूजौ कोई कुभाव।।720।।

अर्थ :– निर्मल भाव के समान और कोई शुभ नहीं है, जहाँ अशुभ भाव नहीं रहता है। मलिन परिणाम के समान दूसरा कोई कुभाव नहीं है।

सन्देह न अयथार्थ सो, जाकरि भर्म न जाय।
नहिं यथार्थ सो लोक में, निस्सन्देह कहाय।।721।।

अर्थ :– अयथार्थता–सदृश और कोई संदेह नहीं है, जिससे भ्रम दूर नहीं होता है। जगत में यथार्थता–सदृश और कोई नि:संदेहता नहीं है।

नाहिं कलंक कषाय सो, भाषें श्री भगवन्त।
नि:कलंक न अकषाय से, करै कर्म कों अन्त।।722।।

अर्थ :– कषाय–सदृश और कोई कलंक नहीं है – ऐसा भगवान ने कहा है। अकषाय–सदृश और कोई निष्कलंकता नहीं है। यह कर्मों का नाश करने वाली है।

शुचि नहिं मन–शुचि सारिखी, करै जीव कों शुद्ध।
अशुचि नहीं मन–अशुचि सी, इह भाषें प्रतिबुद्ध।।723।।

अर्थ :– मन की पवित्रता–सदृश और कोई पवित्रता नहीं है। यह जीव को शुद्ध करने वाली है। मन की मलिनता–सदृश और कोई अपवित्र पदार्थ नहीं है। ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

नहीं असंजम सारिखौ, जगत डबोवनहार।
नहिं संचय सो लोक में, ज्ञान बढ़ावन हार।।724।।

अर्थ :– असंयम के समान दूसरा कोई संसार में डुबोने वाला नहीं है। संयम के सदृश जगत में ज्ञान को बढ़ाने वाला दूसरा नहीं है।

बंचक नहिं परपंच से, ठगें सकल कों सोई।
विषय–बांछना सारिखी, नाहिं ठगौरी कोइ।।725।।

अर्थ :– प्रपंच–सदृश वंचकता (ठगाई) और कोई नहीं है, जो सबको ठगने वाली है। विषय–वासना के सदृश अन्य कोई ठगने वाली नहीं है।

नहिं त्रिलोक में दूसरो, तप सो ताप–निवार।
त्रिविध ताप से ताप नहिं, जरा जन्म मृति धार।।726।।

अर्थ :– तीन लोक में तप–सदृश और कोई दुख–निवारक नहीं है। जन्म, जरा और मृत्यु रूप तीन प्रकार के तापों से बढ़कर कोई ताप नहीं है।

इच्छा सी न अपूरणा, पूरी होइ न सोइ।
नहिं इच्छा जु निरोध सी, तपस्या दूजी होइ।।727।।

अर्थ :– इच्छा के समान अपूर्णा (कभी पूर्ण नहीं होने वाली) और कोई नहीं है। इच्छानिरोध–सदृश और कोई दूसरी तपस्या नहीं है।

त्याग समान न दूसरो, जग–जंजार निवार।
नहीं भोग – अनुराग सो, नरकादिक दातार।।728।।

अर्थ :– त्याग–सदृश और दूसरा कोई संसार–जाल निवारक नहीं है। भोग–आसक्ति के सदृश नरकादिक दुर्गतियों का दातार और कोई नहीं है।

नहीं अकिंचन सारिखौ, निरभय लोक मँझार।
नर परिगरही सारिखौ, भय-रूप न निरधार।।729।।

अर्थ :- इस लोक में आकिंचन्य धर्म के सदृश और कोई निर्भयता नहीं है। परिग्रही मनुष्य के सदृश और कोई भयभीत नहीं है। यह निश्चित जानो।

परिग्रह सो नहिं पापग्रह, नहिं कुशील सो काद।
ब्रह्मचर्य सो और नहिं, ब्रह्मज्ञान को वाद।।730।।

अर्थ :- परिग्रह-सदृश कोई दूसरा पापग्रह नहीं है। कुशील-सदृश अन्य कीचड़ नहीं है। ब्रह्मचर्य-सदृश ब्रह्म-ज्ञान को देने वाला और कोई नहीं है।

नहीं विषय रस सारिखौ, नीरस त्रिभुवन माहिं।
अनुभव रस आस्वाद सो, सरस लोक में नाहिं।।731।।

अर्थ :- त्रिभुवन में विषय-रस के सदृश और कोई नीरसता नहीं है। इस जगत में अनुभव रसास्वाद के सदृश और कोई नहीं है।

अदया सी नहिं दुष्टता, अनृत सो न प्रपंच।
छल नहिं चोरी सारिखौ, चोर समान न टंच।।732।।

अर्थ :- निर्दयता-सदृश और कोई दुष्टता नहीं है। झूठ-सदृश और कोई प्रपंच नहीं है। कपट-सदृश अन्य कोई चोरी नहीं है। चोर-सदृश और कोई निष्ठुर नहीं है।

हिंसक सो नहिं दुर्जना, हरै पराये प्राण।
नहिं दयाल सो सज्जना, पीरा हरै सुजाण।।733।।

अर्थ :- दूसरे के प्राणों का हरण करने वाले हिंसक-सदृश कोई दुर्जन नहीं है। पर-पीड़ा को हरण करने वाले दयालु पुरुष के सदृश और कोई सज्जन नहीं है।

नहिं विश्वास-घाती अवर, झूंठे नार सो कोय।
नहिं व्यभिचारी सो अना-चारी जग में होय।।734।।

अर्थ :- झूठे मनुष्य के समान दूसरा कोई विश्वासघाती नहीं है और व्याभिचारी के समान इस संसार में दूसरा कोई अनाचारी नहीं है।

विकथा सो न प्रलाप है, आरति सो न विलाप।
पाप न द्वय नय थाप सो, जिनवर सो न प्रताप।।735।।

अर्थ :– विकथा–सदृश और कोई प्रलाप नहीं है और आर्तभाव–सदृश कोई विलाप नहीं है। निश्चय और व्यवहार – इन दो नयों की स्थापना के सदृश कोई स्थापना नहीं है और जिनवर–सदृश और कोई प्रतापी नहीं है।

सन्ताप न कोई सोक सो, लोक न सिद्ध समान।
धन प्राणन के नाश सो, और न शोक बखान।।736।।

अर्थ :– शोक–सदृश कोई सन्ताप नहीं है। मोक्ष–समान और कोई लोक नहीं है। धन और प्राणों के नाश–सदृश और कोई दुख नहीं कहा गया है।

जड़ जिय सो अभिलाष नहिं, गुण–मणि सो न मिलाप।
श्री जिनवर गुणगान सो, और न कोइ अलाप।।737।।

अर्थ :– मूर्ख से मिलन के समान कोई अ–मिलाप नहीं है और गुणी से मिलने के सदृश कोई मिलाप नहीं है तथा श्री जिनेन्द्र भगवान के गुणगान–सदृश और कोई आलाप (तान) नहीं है।

नहिं विकथा नारीनि सी, कथा न धर्म समान।
नहिं आरति भोगार्ति सी, दुरगति दाई आन।।738।।

अर्थ :– स्त्रीकथा के सदृश और कोई खोटी कथा नहीं है। धर्मकथा के समान और कोई सुकथा नहीं है और भोगों के आर्तध्यान के समान दूसरा कोई दुर्गतिदायक आर्तिभाव नहीं है।

ॐकार समान नहिं, सर्व शास्त्र की आदि।
महा मंगलाचार है, यह उपचार अनादि।।739।।

अर्थ :– सर्व शास्त्रों की आदिरूप ऊँकार के समान और कोई महान मंगलाचरण नहीं है। यह कथन अनादि से चला आ रहा है।

नाद न सोऽहं सारिखौ, नहीं स्वरस सो स्वाद।
स्यादवाद सिद्धान्त सो, और नहीं अविवाद।।740।।

अर्थ :– सोऽहं के सदृश और कोई नाद (ध्वनि) नहीं है। आत्मरस के स्वाद–सदृश और कोई स्वाद नहीं है। स्याद्वाद सिद्धान्त के सदृश और कोई निर्विवाद सिद्धान्त नहीं है।

एक एक नय पक्ष सो, और न कोई वाद।
नाहिं विषाद विवाद सो, निद्रा सो न प्रमाद।।741।।

अर्थ :– एक–एक नय का पक्ष लेने के सदृश दूसरा कोई वाद–मत वैभिन्य नहीं है और विवाद–सदृश और कोई विषाद नहीं है। निद्रा–सदृश और कोई प्रमाद नहीं है।

स्त्यानगृद्धि निद्रा जिसी, निद्रा निंद्य न और।
परनिन्दा सो दोष नहिं, भाषें जिन जग-मौर।।742।।

अर्थ :- स्त्यानगृद्धि निद्रा के सदृश निंदनीय और कोई निद्रा नहीं है। संसार में सर्वश्रेष्ठ जिनेन्द्र ने कहा है कि पर-निंदा के सदृश और कोई दोष नहीं है।

निन्दा चउविधि संघ की, ता सम अघ नहिं कोय।
नाहिं प्रसंसा जोगि कोउ, जिन आगम सो होय।।743।।

अर्थ :- मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ की निन्दा-सदृश और कोई पाप नहीं है और जिनागम के सदृश अन्य कोई प्रशंसा योग्य नहीं है।

सार न अध्यातम जिसौ, निज अनुभव को मूल।
नहिं मुनि से अध्यातमी, सर्व विषय प्रतिकूल।।744।।

अर्थ :- आत्मानुभव के मूल अध्यात्म-सदृश कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है और समस्त विषयों की प्रतिकूलता के रहते भी मुनि-सदृश कोई अध्यात्मी नहीं है।

विषय कषाय बराबरी, बैरी जिय के नाहिं।
ज्ञान विराग विवेक से, हितू नाहिं जग माहिं।।745।।

अर्थ :- विषय और कषाय के बराबर इस जीव के और कोई शत्रु नहीं है। संसार में ज्ञान, वैराग्य और विवेक के सदृश जीव के अन्य कोई हितकारक नहीं हैं।

अध्यात्म चरचा समा, चरचा और न कोय।
जिनपद अरचा सारिखी, अरचा और न होइ।।746।।

अर्थ :- अध्यात्म-चर्चा के सदृश और कोई चर्चा नहीं है। जिन-अर्चा के सदृश और कोई पूजा नहीं है।

नाहिं गणाधिप से महा-चरचा-कारक जानि।
नाहिं सुराधिप सारिखे, अरचा-कारक मानि।।747।।

अर्थ :- गणधर-सदृश महान चर्चाकारक और कोई नहीं है। इन्द्र-समान भगवान की अर्चाकारक और कोई नहीं है।

गमन न ऊरध गमन सो, नहीं मोक्ष सो धाम।
रोधक नाहीं कर्म सो, हरो कर्म तजि काम।।748।।

अर्थ :– ऊर्ध्वगमन–सदृश और कोई गमन नहीं है। मोक्ष–सदृश और कोई स्थान नहीं है। कर्म–सदृश और कोई रोधक (रोकने वाला) नहीं है। इसलिए सर्व कार्यों को छोड़कर कर्म–नाश का उद्यम करो।

शत्रु न कोई अधर्म सो, मित्र न धर्म समान।
धर्म न वस्तु स्वभाव सो, हिंसा–रहित बखान।।749।।

अर्थ :– अधर्म–सदृश कोई शत्रु नहीं है। धर्म–समान कोई मित्र नहीं है। वस्तुस्वभाव के सदृश हिंसा–रहित कोई धर्म नहीं है।

निज स्वभाव को विस्मरण, नहिं ता सम अपराध।
साधे केवलभाव को, ता सम और न साध।।750।।

अर्थ :– आत्मस्वभाव के विस्मरण–सदृश और कोई अपराध नहीं है। कैवल्य भावों (केवलज्ञानी जीव के परिणामों) को साधने के सदृश और कोई आत्मस्वभाव की प्राप्ति का साधन नहीं है।

नर देहा सम देह नहिं, लिंग न पुरुष समान।
वेद नहीं नर वेद सो, सुमन समो न सयान।।751।।

अर्थ :– मनुष्य देह के सदृश और कोई देह नहीं है। पुरुष लिंग के सदृश और कोई लिंग नहीं है। पुरुष वेद के सदृश और कोई वेद नहीं है। विशुद्ध मन के सदृश और कोई सयाना–चतुर नहीं है।

त्रस–काया सम काय नहिं, पंचेन्द्री जा माहिं।
पंचेन्द्री नहिं मनुष से, जे मुनिव्रत्त धराहिं।।752।।

अर्थ :– त्रसकाय–सदृश काया नहीं है; क्योंकि पंचेन्द्रिय त्रसकाय के अन्तर्गत है। पंचेन्द्रियों में भी मनुष्य पंचेन्द्रिय समान और कोई नहीं है; क्योंकि मनुष्य ही मुनिव्रत धारण कर सकते हैं।

मुनि नहिं तदभवमुक्ति से, जे केवल पद पाय।
पहुँचे पंचमगति महा, चहुंगति भ्रमण नशाय।।753।।

अर्थ :– तद्भव मोक्षगामी के समान और कोई मुनि नहीं है। वे कैवल्य पद को प्राप्त करते हैं एवं महान पंचम गति को प्राप्त कर, चतुर्गति भ्रमण का नाश करते हैं।

गति नहिं पंचम गति जिसी, जाहि कहैं निजधाम।
अविनश्वर पुर नाम जा, जा सम नगर न राम।।754।।

अर्थ :– पंचम गति के सदृश और कोई गति नहीं है। पंचम गति को निज–धाम (स्व–स्थान) कहते हैं। उसका नाम अविनश्वर पुर है। उस जैसा न कोई नगर है, न उपवन है।

नाहिं शुद्ध उपयोग सो, मारग सूधौ होय।
नाहीं मारग मुक्ति को, भव-विरक्ति सो कोय।।755।।

अर्थ :- शुद्धोपयोग-सदृश सीधा मार्ग और कोई नहीं है। संसार से विरक्ति भाव के सदृश मुक्ति का और कोई मार्ग नहीं है।

लोक शिखर सो ऊँच नहिं, सबके शिर पर सोय।
नहीं रसातल सारिखौ, नीचो जग में जोय।।756।।

अर्थ :- लोकशिखर के सदृश और कोई ऊँचा स्थान नहीं है। लोकशिखर सबसे ऊपर है। संसार में नरक-सदृश और कोई नीचा स्थान नहीं है।

जित मन इन्द्री धीर से, और न वंद्य बखानि।
विषयी विकलनि सारिखे, और न निंद्य प्रवानि।।757।।

अर्थ :- धैर्यवान और जितेन्द्रिय के समान और कोई वंदनीय नहीं है। विषयों में आसक्त रहने वालों के सदृश और कोई निन्दनीय नहीं है।

नहिं अशिष्ट अघ कर्म से, शिष्ट न सुभग समान।
नाहिं पंच परमेष्ठि से, और इष्ट परवान।।758।।

अर्थ :- पाप कर्म के सदृश और कोई अशिष्ट (बुरा कर्म) नहीं है। शुभ कर्मों के समान और कोई सुखदायक नहीं है। पंच परमेष्ठी के समान और कोई इष्ट नहीं है।

जिन-देवल से देवल न, नहीं जैन से बिम्ब।
केवल सो ज्ञायक नहीं, जामें सब प्रतिबिंब।।759।।

अर्थ :- जिनचैत्यालय के समान और कोई मंदिर नहीं है। जिनबिम्ब के समान और कोई बिम्ब नहीं है। केवलज्ञान के समान और कोई जानने वाला नहीं है। इसमें सब पदार्थ झलकते हैं।

नाहिं अकृत्रिम सारिखे, देवल अतिशयरूप।
चैत्य वृक्ष से वृक्ष नहिं, सुरतरु सें हु अनूप।।760।।

अर्थ :- अकृत्रिम चैत्यालय के सदृश और कोई महिमाशाली - अतिशयवान चैत्यालय नहीं है। चैत्यवृक्ष के सदृश और कोई वृक्ष नहीं है। वे कल्पवृक्ष से भी अनुपम हैं।

जोगी जिनवर से नहीं, जिनकी अचल समाधि।
निजरस भोगी ते सही, वर्जित सकल उपाधि।।761।।

अर्थ :– जिनेन्द्र देव के समान और कोई अचल ध्यानी योगी नहीं हैं। वे समस्त परिग्रहों को छोड़कर आत्मरस के भोगी श्रेष्ठ हैं।

इन्द्रिय भोगी इन्द्र से, नाहिं दूसरे जानि।
इन्द्रा जीत मुनीन्द्र से, इन्द्र नरेन्द्र न मानि।।762।।

अर्थ :– इन्द्रिय विषयों के भोगी इन्द्र के समान और कोई भोगी नहीं है। इन्द्रिय विजयी मुनीन्द्र के समान और कोई इन्द्र या नरेन्द्र द्वारा मान्य नहीं है।

राग द्वेष परपंच से, असुर और नहिं होय।
दर्शन–ज्ञान–चारित्र से, असुर–नाशक न कोय।।763।।

अर्थ :– राग–द्वेष रूप प्रपंच के सदृश और कोई असुर–राक्षस नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समान और कोई असुर नाशक (बुरी प्रवृत्तियों के नाशक) नहीं हैं।

काम–क्रोध–लोभादि से, नाहिं पिशाच बखानि।
सम संतोष विवेक से, मंत्राधीश न मानि।।764।।

अर्थ :– काम–क्रोध–लोभ आदि के समान और कोई पिशाच नहीं है। समता, संतोष और विवेक के समान और कोई मंत्री नहीं है।

माया मच्छर मान से, दुखकारी नहिं वीर।
निगरव निकपट भाव से, सुखकारी नहिं धीर।।765।।

अर्थ :– हे भाई! माया, मत्सर और मान के सदृश और कोई दुखकारी नहीं है। हे धीर! सरलता और निष्कपट भाव सदृश और कोई सुखकारी नहीं है।

मैल न कोई मिथ्यात सो, लग्यौ अनादि विरूप।
साबुन भेद विज्ञान सो, और न उज्ज्वलरूप।।766।।

अर्थ :– मिथ्यात्व–सदृश और कोई मैल नहीं है, जो इस जीव के साथ अनादिकाल से लगा हुआ है। भेदविज्ञान–सदृश और कोई साबुन नहीं है, जो कर्मरूपी मल को साफ करके आत्मा को उज्ज्वल बनाता है।

मदन दर्प सो सर्प नहिं, डसै देव नर नाग।
गरुड़ न कोई शील सो, मदन जीत बड़भाग।।767।।

अर्थ :– मदन–दर्प (काम–ज्वर) सदृश और कोई सर्प नहीं है, जो नाग देवों और मनुष्यों को

अनादि से डस रहा है। शील-सदृश और कोई गरुड़ नहीं है। यह शील कामदेव को जीतने वाला बड़ा भाग्यशाली है।

मैल न मोहासुर समो, सकल कर्म को राव।
महामल्ल नहिं बोध सो, हरै मोह-परभाव।।768।।

अर्थ :- समस्त कर्म के राजा स्थानीय मोहरूपी असुर-सदृश और कोई मैल नहीं है। ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के सदृश और कोई महामल्ल नहीं है, जो मोहरूपी राजा के प्रभाव को हरने वाला अर्थात् नाश करने वाला है।

भर्म न कोई कर्म से, कारण संशय जानि।
भ्रमहारी सम्यक्त्व से, और न कोई मानि।।769।।

अर्थ :- कर्मों के समान जीव को भ्रमित करने वाला और कोई नहीं है। उसमें संशय को कारण जानो। सम्यक्त्व के सदृश भ्रम का नाश करने वाला और कोई नहीं है।

विष नहिं विषयानंद से, देहि अनंता मर्ण।
सुधा न ब्रह्मानंद सो, अनुभवरूप अवर्ण।।770।।

अर्थ :- अनंत मरणों में कारणभूत विषयानंद-सदृश और कोई विष नहीं है। आत्मानंद-सदृश और कोई अमृत नहीं है। जो अनुभव गम्य है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता है।

क्रूर न क्रोधी सारिखे, नहीं क्षमी से शांत।
नीच न मानी सारिखे, निगरव से न महांत।।771।।

अर्थ :- क्रोधी-सदृश अन्य कोई क्रूर नहीं है। क्षमावान के सदृश और कोई शांत नहीं है। मानी-सदृश कोई नीच नहीं है और निरभिमानी-सदृश कोई महान नहीं है।

मायावी सो मलिन नहिं, विमल न सरल समान।
चिंतातुर लोभीन से, दीन न दुखी अयान।।772।।

अर्थ :- मायावी के समान कोई मलिन नहीं है। सरल जीव के समान कोई निर्मल नहीं है। लोभी के समान अन्य कोई चिंतातुर नहीं है तथा अज्ञानी के समान कोई दीन-दुखी नहीं है।

दुष्ट न दोषी सारिखे, रागी से नहिं अंध।
अहंकार ममकार सो, और न कोई बंध।।773।।

अर्थ :- दोषी-सदृश और कोई दुष्ट नहीं है। रागी के समान और कोई अंधा नहीं है। अहंकार और ममकार-सदृश और कोई बंध का कारण नहीं है।

मोही से नहिं लोक में, गहल रूप मतिहीन।
कामातुर से आतुर न, अविवेकी अघलीन।।774।।

अर्थ :– इस जगत में मोही जीव के सदृश मतिहीन और मूर्च्छाग्रस्त अन्य कोई नहीं है तथा पाप–लीन अविवेकी, कामातुर के समान दूसरा कोई व्यग्र – बैचेन नहीं है।

ऋण नहिं आस्रव–बंध से, राखे भव में रोकि।
मुनिवर से मतिवंत नहिं, छूटे ब्रह्म विलोकि।।775।।

अर्थ :– आस्रव–बंध के सदृश और कोई कर्ज नहीं है, जो जीव को संसार में रोके रखता है। मुनिवर–सदृश और कोई बुद्धिमान नहीं है, जो आत्मदर्शन कर संसार से मुक्त हो जाते हैं।

संवर निर्जर सारिखे, रिण मोचन नहिं कोइ।
दुर्जर कर्म हरें महा, मुक्ति दायक सोइ।।776।।

अर्थ :– संवर और निर्जरा के सदृश और कोई (कर्मरूपी) कर्ज से छुड़ाने वाले नहीं हैं। ये महा दुर्धर कर्मों को भी नष्ट करने वाले हैं और मुक्तिदायक हैं।

विपति न वांछा सारिखी, वांछा–रहित मुनीश।
मृगतृष्णा मिथ्या जिसो, और न कहें रिषीश।।777।।

अर्थ :– वांछा–सदृश और कोई विपत्ति नहीं है। मुनिवर वांछारहित होते हैं। मिथ्यात्व जैसी और कोई मृगतृष्णा नहीं है। ऐसा ऋषीश्वरों ने कहा है।

समता सी संसार में, साता कोइ न जानि।
साता सी न सुहावणी, इह निश्चय उर आनि।।778।।

अर्थ :– संसार में समता–सदृश और कोई सुखदायक नहीं है। साता–समान और कोई सुन्दर वस्तु नहीं है। यह निश्चय से हृदय में धारण करो।

ममता सी मानों भया, और असाता नाहिं।
नाहिं असाता सारिखी, है अनिष्ट जगमाहिं।।779।।

अर्थ :– हे भाई! ममता–सदृश और कोई दुखदायक वस्तु नहीं है। संसार में असाता के समान और कोई अनिष्टकारक नहीं है।

उदासीनता सारिखी, समता–करण न कोय।
जग अनुराग समानता, समता मूल न जोय।।780।।

अर्थ :– उदासीनता–सदृश और कोई साम्यभाव लाने वाली (सुखदायक) नहीं है। संसार से अनुराग करने के समान और कोई भावना समता हरण करने वाली नहीं है।

नाहिं भोग–अभिलाष सी, भूख अपूरण वीर।
नाहिं भोग वैराग सी, पूरणता है वीर।।781।।

अर्थ :– हे भाई! भोगाभिलाषा से कभी तृप्त न होने वाली भूख–सदृश दूसरी कोई भूख नहीं है। भोगों से विरक्ति–सदृश अन्य कोई पूर्णता – तृप्ति नहीं है।

नाहीं विषयासक्ति सी, त्रिसा त्रिलोकी माहिं।
विरक्तता सी विश्व में, और तृषा–हर नाहिं।।782।।

अर्थ :– त्रिलोक में विषयासक्ति–सदृश और कोई तृषा – प्यास नहीं है। इस जगत में विरक्तता के सदृश और कोई इस तृषा को हरने वाला नहीं है।

पराधीनता सारिखी, नहीं दीनता कोइ।
नहिं कोई स्वाधीनता, तुल्य उच्चता होइ।।783।।

अर्थ :– पराधीनता–सदृश और कोई दीनता नहीं है। स्वाधीनता–सदृश और कोई उच्चता नहीं है।

नहीं समरसी भाव सी, समता त्रिभुवन माहिं।
पक्षपात बकवाद सी, और विसमता नाहिं।।784।।

अर्थ :– तीन भुवन में समरसी भाव–सदृश और कोई समता भाव नहीं है। पक्षपात और बकवाद (व्यर्थकारी वचन) के समान और कोई विषमता नहीं है।

जगतकामना कल्पना–तुल्य कालिमा नाहिं।
नहीं चेतना सारिखी, ज्ञायक त्रिभुवन माहिं।।785।।

अर्थ :– जगत और इसके पदार्थों की इच्छा करना, इनकी कल्पना करना। इनके सदृश कोई कालिमा – कालुष्य नहीं है और चैतन्य भाव के सदृश तीन भुवन में कोई ज्ञायक नहीं है।

ज्ञान चेतना सारिखी, नहीं चेतना शुद्ध।
कर्म कर्मफल चेतना, ता सम नाहिं अशुद्ध।।786।।

अर्थ :– ज्ञानचेतना सदृश और कोई शुद्ध चेतना नहीं है। कर्मचेतना और कर्मफल चेतना सदृश और कोई अशुद्ध चेतना नहीं है।

नर निरलोभी सारिखे, नाहिं पवित्र बखान।
संतोषी से नहिं सुखी, इह निश्चय परवान।।787।।

अर्थ :– लोभरहित मनुष्यों के समान और कोई पवित्र नहीं कहे गये हैं। संतोषी के सदृश और कोई सुखी नहीं है। ऐसा निश्चय विश्वास करो।

निरमोही अर निरममत, ता सम सन्त न कोय।
निरदोषी निरबैर से, साधु और न कोय।।788।।

अर्थ :– निर्मोही और निर्ममत्वी के बराबर और कोई संत नहीं है। निर्दोषी और निर्वैरी के सदृश और कोई साधु नहीं है।

दोष समान न मोषहर, राग समान न पासि।
मोह समान न बोध हर, ए तीनू दुखरासि।।789।।

अर्थ :– द्वेष के समान मुक्ति का हरण करने वाला और राग के समान बंधन में डालने वाला तथा मोह के समान ज्ञाननाशक अन्य कोई नहीं है। राग, द्वेष और मोह – ये तीनों दुखों के समूह हैं।

व्रती न कोई निशल्य सो, माया तुल्य न शल्य।
हीन न जाचिक सारिखौ, त्यागी से न अतुल्य।।790।।

अर्थ :– निःशल्यी–सदृश और कोई व्रती नहीं है। माया–सदृश और कोई शल्य नहीं है। याचक–सदृश और कोई हीन नहीं है। त्यागी–सदृश कोई अनुपम नहीं है।

कामी से न कलंक–धी, काम समान न दोष।
परदारा परद्रव्य सो, और न अघ को कोष।।791।।

अर्थ :– कामी–सदृश कोई कलंकित बुद्धिवाला नहीं है। काम के समान अन्य कोई दोष नहीं है। पर–स्त्री और पर–द्रव्य की लालसा–सदृश दूसरा कोई पाप का भंडार नहीं है।

शल्य समान न है सली, चुभी हिये के माहिं।
नहिं निरदयी स्वभाव सो, मूढ़ा और कहाहिं।।792।।

अर्थ :– हृदय में चुभी हुई शल्य के समान और कोई काँटा नहीं है। निर्दय स्वभावी–सदृश और कोई कहीं भी मूर्ख नहीं है।

शोच न संग समान है, संग न अंग समान।
अंग नहीं द्वय अंग से, तिनहिं तजै निरवान।।793।।

अर्थ :– परिग्रह के समान दूसरा कोई चिन्ता का कारण नहीं है और शरीर के सदृश और कोई परिग्रह नहीं है। केवल शरीर नहीं, अपितु अन्तरंग और बहिरंग दोनों परिग्रहों को छोड़ने पर ही निर्वाण होता है।

कारमाण अर तैजसा, ए द्वय देह अनादि।
लगे जीव के जगत में, रोग महा रागादि।।794।।

अर्थ :– संसार में जीव के अनादि से तैजस और कार्माण – ये दो शरीर तथा रागादि महारोग लगे हुए हैं।

गेह समान न दूसरो, जानूं कारागेह।
देह समान न गेह है, त्यागौ देह–सनेह।।795।।

अर्थ :– घर जैसा अन्य कोई कारागृह नहीं है। शरीर के सदृश और कोई घर नहीं है। इसलिए शरीर के प्रति ममत्व भाव का त्याग करो।

ए काया नहिं जीव की, सो है ज्ञान शरीर।
मृत्यु न ज्ञान शरीर की, नहीं रोग को पीर।।796।।

अर्थ :– यह शरीर जीव का नहीं है, ज्ञान ही उसका शरीर है। ज्ञानरूपी शरीर का मरण नहीं होता है। इसको कोई रोग और पीड़ा भी नहीं होती है।

नाहीं इष्ट–वियोग सो, शोक–मूल है कोई।
काया माया सारिखौ, इष्ट न जग के जोइ।।797।।

अर्थ :– इष्टवियोग के समान कोई दूसरा शोक का कारण नहीं है। काया और माया के सदृश संसारी प्राणियों के और कोई इष्ट नहीं है।

नहिं संकल्प विकल्प सो, जाल दूसरो जानि।
नहिं निरविकलप ध्यान सो, छेदक जाल बखानि।।798।।

अर्थ :– संकल्प और विकल्प के बराबर दूसरा कोई जाल नहीं है। निर्विकल्प ध्यान के समान और कोई जाल को काटने वाला नहीं है।

नहीं एकता सारिखी, परम समाधि स्वरूप।
नहीं विषमता सी अवर, सठता रूप विरूप।।799।।

अर्थ :– एकाग्रता के समान और कोई परम समाधि का स्वरूप नहीं है। विषमता (मन, वचन, काय की) के समान और कोई मूर्खता नहीं है।

चिन्ता सी असमाधि नहिं, नहिं तृष्णा सी व्याधि।
नहिं मतता सी मोहनी, माया सी न उपाधि।।800।।

अर्थ :– चिंता के बराबर और कोई असमाधि नहीं है। तृष्णा के बराबर और कोई व्याधि नहीं है। ममता–सदृश और कोई मोहित करने वाला नहीं है और माया–सदृश और कोई उपाधि नहीं है।

ज्ञानानन्दादिक महा, निज स्वभाव निरदाव।
तिनसों तन्मय भाव जो, सो एकत्व कहाव।।801।।

अर्थ :– ज्ञानानंद के बराबर आत्मस्वभाव में स्थिर कराने वाली और कोई वस्तु नहीं है। आत्मा में तन्मय भाव ही एकत्व कहलाता है।

आशा सी न पिशाचिनी, आसा सी न असार।
नहीं जाचना सारिखी, लघुता जगत मंझार।।802।।

अर्थ :– आशा–सदृश और कोई पिशाचिनी नहीं है। आशा–सदृश अन्य कोई असार वस्तु नहीं है। याचना–सदृश और कोई लघुता इस जगत में नहीं है।

दान–कला सी दूसरी, दुख–हरणी नहिं कोइ।
ज्ञान–कला सी जगत में, सुखकारी नहिं कोइ।।803।।

अर्थ :– दान–कला के बराबर अन्य कोई दुख–हरणी कला नहीं है और ज्ञान–कला के सदृश जगत में दूसरी कोई सुख–कारक कला नहीं है।

नाहिं क्षुधा सी वेदना, व्यापै सबकों सोइ।
अन्न–पान दातार से, दाता और न होइ।।804।।

अर्थ :– क्षुधा–सदृश वेदना नहीं है, जो सब जीवों में व्याप्त है। अन्न–पान के दाता–सदृश और कोई दाता नहीं है।

पर दुख हरणी सारिखी, गुरुता और न जानि।
पर पीड़ा करणी समा, खलता कोइ न भानि।।805।।

अर्थ :– पर–दुखहारिणी–सदृश और कोई महानता नहीं है। पर–पीड़ा–करणी जैसी और कोई दुष्टता नहीं कही है।

शुद्ध पारणामिक समा, और नाहिं परिणाम।
सकल कामना त्याग सो, और न उत्तम काम।।806।।

अर्थ :– शुद्ध पारिणामिक भाव के बराबर और कोई परिणाम नहीं है। समस्त कामना के त्याग–समान अन्य कोई उत्तम काम नहीं है।

धर्म–सनेही सारिखा, नाहिं सनेही होइ।
विषय–सनेही सारिखा, और कृत्रिम न कोइ।।807।।

अर्थ :– धर्मस्नेही के समान अन्य कोई स्नेही नहीं है। पंचेन्द्रियों के विषय स्नेही–सदृश और कोई कुमित्र नहीं है।

सर्व वासना त्याग सी, और न थिरता वीर।
कष्ट न नरक निगोद से, नहीं मरण सी पीर।।808।।

अर्थ :– हे भाई! सर्व वासना के त्याग बराबर और कोई स्थिरता नहीं है। नरक–निगोद के सदृश कोई कष्ट नहीं है। मरण के बराबर कोई पीड़ा नहीं है।

राज–काज अभ्यास सो, और न दुरगति–दाय।
जोगाभ्यास अभ्यास सो, और न सिद्धि उपाय।।809।।

अर्थ :– राज–काज के अभ्यास के समान अर्थात् कुटिल राजनीति के कुचक्र–समान कोई दुर्गति में पहुँचानेवाला नहीं है और योगाभ्यास के अभ्यास–सम दूसरा कोई सिद्धि का उपाय नहीं है।

नहिं विराधना सारखी, बाधाकरण कहाहिं।
आराधना सी दूसरो, भव–बाधा–हर नाहिं।।810।।

अर्थ :– विराधना के बराबर दूसरी कोई बाधाकारक (दुखकारक) नहीं है। आराधना के बराबर संसार की पीड़ा–नाशक दूसरी कोई नहीं।

निज सरूप आराधना, अचल समाधि स्वरूप।
ता सम शिव साधन नहीं, यह भावें जिनभूप।।811।।

अर्थ :– आत्मस्वरूप की आराधना जो अचल समाधिस्वरूप है, उसके समान दूसरा कोई मोक्ष का साधन नहीं है। ऐसा जिनवर ने कहा है।

निज सत्ता सी निश्चलता, और न मानो मित्त।
आधि–व्याधि तें रहित जो, ध्यावौ ताहि निचिंत।।812।।

अर्थ :– हे मित्र! आत्मसत्ता की निश्चलता के समान कोई निश्चलता नहीं है, अत: आधि–व्याधि से रहित उसका निश्चित ध्यान करो।

निज सत्ता को भूलि जे, राचें माया माहिं।
धरि धरि काया में भ्रमें, या में संशय नाहिं।।813।।

अर्थ :– आत्मसत्ता को भूलकर जो माया में रचा–पचा (आसक्त) रहता है, वह नाना शरीरों को धारण करके संसार में परिभ्रमण करता है। इसमें कोई संशय नहीं है।

मुनिव्रत तजि भवभोग कों, चाहें जे मति मंद।
तिनसे मूढ़ न लोक में, इह भाषें जिनचन्द।।814।।

अर्थ :– जो मंद–बुद्धि, मुनिव्रत को छोड़कर संसार के भोगों को चाहते हैं, उनके समान मूर्ख इस जगत में दूसरा कोई नहीं है। ऐसा जिनचंद्र ने कहा है।

वृद्ध भये हू गेह कों, जो न तजे मतिहीन।
तिनसे गृद्ध न जगत में, कापुरुषा न मलीन।।815।।

अर्थ :– जो मतिहीन वृद्धावस्था आने पर भी घर का त्याग नहीं करते हैं, उनके समान इस संसार में अन्य कोई गृद्ध, मलिन और कायर नहीं हैं।

गेह तजें नव वर्ष के, धरें महाव्रत सार।
तिनसे पूज्य न लोक में, ते गुण वृद्ध अपार।।816।।

अर्थ :– नौ वर्ष की उम्र में जो गृह–त्याग करके उत्तम महाव्रत को धारण करते हैं। उनके समान इस लोक में दूसरा कोई पूज्य नहीं है। उनके गुणों में अनुपम वृद्धि होती है।

नहिं वैरागी जीव से, निरबंधन निरुपाधि।
नहीं जु रागी सारिखे, धारक आधि रु व्याधि।।817।।

अर्थ :– वैराग्यवान जीव के समान और कोई निर्बंध और निरुपाधि जीव नहीं हैं। रागी जीवों के समान आधि और व्याधि को धारण करने वाले दूसरे नहीं हैं।

निजरस आस्वादन–विमुख, भुगतें इन्द्रीभोग।
नरक वासना ते लहै, तिनसे नाहिं अजोग।।818।।

अर्थ :– आत्मरस के आस्वादन से विमुख होकर जो इन्द्रिय–भोगों को भोगते हैं, वे नरक के दुखों को प्राप्त होते हैं। उनके समान और कोई अयोग्य (मूर्ख) नहीं है।

अभविनि से न अभागिया, भव्यनि से न सभाग।
निकटभव्य से भव्य नहिं, गहैं ज्ञान वैराग।।819।।

अर्थ :– अभव्य–सदृश कोई दुर्भाग्यशाली नहीं है। भव्य–सदृश कोई भाग्यशाली नहीं है। ज्ञान और वैराग्य को ग्रहण करने वाले निकट भव्य–सदृश और कोई भव्य नहीं है।

नहिं दरिद्र दुरबुद्धि सो, दलिद्दर सो न दुकाल।
नहिं संपति सन्मति जिसी, नहीं मोह सो जाल।।820।।

अर्थ :– दुर्बुद्धि–सदृश और कोई दरिद्र नहीं है। दरिद्रता के समान और कोई दुष्काल नहीं है। समीचीन बुद्धि जैसी कोई संपत्ति नहीं है। मोह–सम अन्य कोई संसार–जाल में फँसाने वाला नहीं है।

नहीं शमी से संयमी, व्रत सो नाहिं विधान।
नहिं प्रधान जिन बोध सो, निजनिधि सो न निधान।।821।।

अर्थ :– कषायों का शमन करने वाले के सदृश अन्य कोई संयमी नहीं है। व्रत–सदृश और कोई अनुष्ठान नहीं है। जिनदेशना – जिनोपदेश के सदृश दूसरा कोई मुख्य उपदेश नहीं है। आत्मनिधि सदृश और कोई संपत्ति नहीं है।

कोष न गुण भंडार सो, सदा अटूट अपार।
औगुन सो नहिं गुणहरा, भव–भव दुख–दातार।।822।।

अर्थ :– गुणभंडार–सदृश और कोई भंडार नहीं है। यह निरन्तर अटूट और अपार है। अवगुणों के समान और कोई गुणनाशक नहीं है, जो भव–भव में दुखदायक है।

खल स्वभाव सो औगुन न, गुण न सुजनता तुल्य।
सत्य पुरुष निरवैर से, जिनके एक न शल्य।।823।।

अर्थ :– दुष्ट स्वभाव के सदृश और कोई अवगुण नहीं है। सुजनता (सज्जनता) के सदृश और कोई गुण नहीं है। जिनके एक भी शल्य न हो, ऐसे निर्वैरी–सदृश और कोई सत्पुरुष नहीं है।

खलजन दुरजन सारिखे, और दूसरे नाहिं।
भव वन सो वन नाहिं कौ, भ्रमै मूढ़ जा माहिं।।824।।

अर्थ :– दुर्जन के बराबर अन्य कोई दुष्ट मनुष्य नहीं है। भव–वन के समान और कोई वन नहीं है, जिसमें मूर्ख प्राणी भ्रमण करते हैं।

विषवृक्ष न वसुकर्म से, नाना फल दुखदाय।
बेलि न मायाजल सी, जगजन जहाँ फँसाय।।825।।

अर्थ :– नाना प्रकार के दुखदायक फल देने वाले आठ कर्मों के समान और कोई विष–वृक्ष नहीं हैं। माया–जाल के समान और कोई बेल नहीं है, जिसमें संसारी प्राणी फँसते हैं।

दुरनय पक्षी सारिखे, नाहिं कुपक्षी आन।
दैत्य न निरदय भाव से, तिमिर न मोह समान।।826।।

अर्थ :– दुर्नय का पक्ष लेने वाले के समान और कोई कु–पक्षी (खोटे पक्ष वाला) नहीं है। निर्दय भाव के समान और कोई दैत्य नहीं है। मोह–सदृश कोई अंधकार नहीं है।

मन–उनमाद गयंद सो, और न वनगज कोइ।
क्रूरभाव से सिंह नहिं, ठग न मदन सो सोइ।।827।।

अर्थ :– पागल मनरूपी हाथी के समान दूसरा कोई जंगली हाथी नहीं है। क्रूरभाव के सदृश कोई सिंह नहीं है। मदन (काम) के समान कोई ठग नहीं है।

नहिं अजगर अज्ञान सो, ग्रसै जगत को जोइ।
नहिं रक्षक निज ध्यान सो, काल हरण है सोइ।।828।।

अर्थ :– अज्ञान–सदृश दूसरा कोई अजगर नहीं है, जो संसार को ग्रसित कर रहा है। काल को हरने वाला आत्मध्यान–सदृश अन्य कोई रक्षक नहीं है।

थिर चर से नहिं वनचरा, बसे सदा भव माहिं।
नहिं कंटक क्रोधादि से, दया तिनूं महिं नाहिं।।829।।

अर्थ :– स्थायी अस्थिरता (चंचलता) के समान दूसरा कोई वनचर नहीं है, जो निरन्तर भव में वास करता है। क्रोधादि–सदृश अन्य कोई कंटक नहीं है, जिनमें दया भाव नहीं होता।

विष–पहुप न विषयादि से, रहै कुवासनि पूरि।
नाहिं कुपात्र कुसूत्र से, ते या वन में भूरि।।830।।

अर्थ :– विषय–कषायादि के समान अन्य कोई विष–पुष्प नहीं है, जो खोटी वासनाओं से पूर्ण है। खोटे सूत्र–सदृश कुपात्र नहीं है, जो इस भव–वन में बहुत हैं।

पंथ न पावें जगत में, मुकति तनों जग जंत।
कोइक पावै ज्ञान निज, सोई लहै भव–अंत।।831।।

अर्थ :– संसार के जीव–जन्तु मुक्ति का पंथ नहीं पाते हैं। आत्मज्ञान को प्राप्त करने वाले ही जीव संसार से पार हो सकते हैं।

नहिं सेरो जिनबानि सी, दरसक गुरु से नाहिं।
नगर नहिं निरवाण सो, जहां संत ही जाहिं।।832।।

अर्थ :– जिनवाणी–सदृश दूसरी कोई सेरी (बस्ती) नहीं है। निर्ग्रन्थ गुरु के सदृश उसे अन्य कोई देखने वाले नहीं हैं और निर्वाण–सदृश कोई नगर नहीं है, जहाँ संत ही जाते हैं।

नहिं समुद्र संसार सों, अति गंभीर अपार।
लहर न विषय तरंग सी, मच्छ न जम सो भार।।833।।

अर्थ :– संसार–सदृश समुद्र नहीं है। यह अत्यन्त गंभीर और अपार है। विषय–वासना की लहर के सदृश लहर नहीं है और (कालरूपी) यम के सदृश और कोई महा मत्स्य नहीं है।

भ्रमण न चहुंगति भ्रमण सो, भरमें जीव अपार।
पोत न मुनिव्रत सो महा, करै भवोदधि पार।।834।।

अर्थ :– चतुर्गति भ्रमण के सदृश भ्रमण नहीं है, जिसमें अनंत जीव परिभ्रमण कर रहे हैं। महाव्रत के सदृश और कोई नाव नहीं है, जो संसार–समुद्र से पार कराने वाली है।

द्वीप नहीं शिव द्वीप सो, गुन रतनन की रासि।
तीरथनाथ जिनंद से, सारथवाह न भासि।।835।।

अर्थ :– मोक्षरूपी द्वीप के सदृश द्वीप नहीं है, जो गुणरूपी रत्नों के समूह से भरा हुआ है। तीर्थंकर जिनेन्द्र के समान और कोई सार्थवाह नहीं है।

अंधकूप नहीं जगत सो, परै तहां तनधार।
जिन विन काढ़ै कौन जन, करिकै करुणासार।।836।।

अर्थ :– संसार के समान और कोई अंधकूप नहीं है। शरीर धारण करके जीव उसमें गिरते हैं। जिनेन्द्र देव के अतिरिक्त और कौन करुणा करके जीवों को उस संसार–कूप से बाहर निकाल सकता है।

नाहिं भवानल सारिखी, दावानल जग माहिं।
जगत चराचर भस्म कर, या में संशय नाहिं।।837।।

अर्थ :– संसार में भव–अग्नि के सदृश दूसरा दावानल नहीं है। यह समस्त चराचर जगत को भस्म कर देता है। इसमें कोई संशय नहीं है।

जिनगुण अंबुधि शरण ले, ताहि न याको ताप।
तातें सकल विलाप तजि, सेवौ आप निपाप।।838।।

अर्थ :– जो जिनगुणरूपी समुद्र की शरण लेते हैं, वे जीव संसार–ताप से बच जाते हैं। इसलिए सारा विलाप (रोना–धोना) छोड़कर, पाप रहित होकर जिनेन्द्र की सेवा करो।

नहिं वायु जगवायु सी, जगत उड़ावै जोय।
काय टापरी वापरी, याकै टिके न कोय।।839।।

अर्थ :– संसार वायु के समान दूसरी कोई वायु नहीं है, जो संसारी प्राणियों को उड़ाती रहती है। बेचारी काया रूपी झोपड़ी इस वायु में नहीं टिक सकती है।

जिन पद परजित आसिरौ, जो नर पकरै आय।
सोई या में ऊवरै, और न कोई उपाय।।840।।

अर्थ :– जो मनुष्य जिन–चरण रूपी पर्वत का आश्रय ग्रहण करते हैं, वे ही इस जग–वायु में ठहर सकते हैं; बचने का और कोई उपाय नहीं है।

नाहिं अतींद्री सुख समो, पूरण परमानन्द।
नाहिं अफंद मुनीन्द्र सो, आनंदी निरद्वंद।।841।।

अर्थ :– अतीन्द्रिय सुख के सदृश पूर्ण और उत्कृष्ट आनन्द कोई नहीं है। आनंदी और निर्द्वन्द्वी मुनिराज के समान और कोई फन्दे से रहित अर्थात् मुक्त नहीं है।

नहिं दीक्षा दुख–हारिणी, जिनदीक्षा सी कोय।
नहिं शिक्षा सुख–कारिणी, जिन शिक्षा सो होय।।842।।

अर्थ :– जिनदीक्षा–सदृश और कोई दीक्षा दुख हरने वाली नहीं है। जिन–शिक्षा के सदृश और कोई शिक्षा सुख करने वाली नहीं है।

चाल जोगीरासा

फंद न कनककामिनी सरि सा, मृग नहिं मूरख नर सा।
नाहिं अहेरी काम लोभ सा, सूर न अंध सूर नर सा।।
काटक फंद न बोध वृत्त सा, मंदमती न अभवि सा।
बुद्धिवंत नहिं भव्यजीव सा, भव्य न तद्भव शिव सा।।843।।

अर्थ :– कनक और कामिनी–सदृश और कोई फंदा नहीं है। मूढ़ मनुष्य–सदृश और कोई मृग नहीं है। काम और लोभ–समान दूसरा कोई अहेरी (शिकारी) नहीं है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र–सदृश दूसरा कोई फंदे को काटने वाला नहीं है। अभव्य–सदृश मंद–बुद्धि नहीं है। भव्य जीव–सदृश बुद्धिमान नहीं है। तद्भव मोक्षगामी–सदृश भव्य नहीं है।

पुरुष शलाका महाभाग से, तथा चरम तन धर से।
और न जानों पुरुष प्रवीना, गुरु नहिं तीर्थंकर से।।

ते पहली भाषें गुणवंता, अब सुनि देव स्वरूपा।
इंद्र तथा अहमिंद्र न सरखे, और न देव अनूपा।।844।।

अर्थ :– शलाका पुरुषों के बराबर और कोई भाग्यशाली नहीं है। चरम-शरीरी के सदृश और कोई शरीरधारी नहीं है। तीर्थंकर के समान और कोई प्रवीण पुरुष एवं गुरु नहीं है। गुणवान मनुष्यों ने जो पूर्व में कहा है, उन देवों का स्वरूप अब कहते हैं। इन्द्र और अहमिन्द्र के समान और कोई बड़ा देव नहीं है।

इन्द्र न षट् इंद्रनि से कोई, सौधर्म सनतकुमारा।
ब्रह्मेन्द्र जु अर लांतव इंद्रा, आनत आरण सारा।।
ए एका भवतारी भाई, नर ह्वै शिवपुर लेंवे।
सम्यक् दृष्टि इन्द्र सबै ही, श्री जिनमारग सेवें।।845।।

अर्थ :– सौधर्म, सनत्कुमार, ब्रह्मेन्द्र, लान्तवेन्द्र, आनतेन्द्र और आरणेन्द्र – इन छह इन्द्रों के समान और कोई इन्द्र नहीं है। हे भाई! ये इन्द्र एक भवावतारी होते हैं। वे सब मनुष्य भव प्राप्त कर मोक्ष नगर को प्राप्त होते हैं। सभी सम्यग्दृष्टि इन्द्र जिनमार्ग की आराधना करते हैं।

लोकपालहू सम्यग्दृष्टि, इक भव धरि भव-पारा।
इंद्र सारिखे सुर ये सोहैं, इनसे देव न सारा।।
देव रिषी लौकांतिक देवा, तिनसे इन्द्रहु नाहीं।
ब्रह्मचर्य धारत ए देवा, इनसे भुवन न माहीं।।846।।

अर्थ :– लोकपाल देव भी सम्यग्दृष्टि होते हैं। वे भी एक भवावतारी होते हैं। ये देव इन्द्र-सदृश शोभित होते हैं। इनके सदृश और देव नहीं हैं। देवर्षि लौकान्तिक देव के बराबर इन्द्र भी नहीं हैं। ये देव ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले अर्थात् बालब्रह्मचारी होते हैं। इनके समान तीन भुवन में और कोई नहीं है।

तप कल्याणक समये सेवा, करें जिनेसुर की ये।
नर ह्वै पावें पद निरवाना, राखे जिनमत ही ये।।
इंद्राणी सी देवी नाहीं, इन्द्राणी न शची सी।
इक भव धरि पावै सुखवासा, तीर्थंकर जननी सी।।847।।

अर्थ :– लौकान्तिक देव तप कल्याणक के समय जिनेन्द्र भगवान की सेवा करते हैं। जिनमत को हृदय में धारण करके ये देव मनुष्य भव को धारण करके निर्वाण लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं।

इन्द्राणी-सदृश देवी नहीं है। शची (पटराणी) के सदृश इन्द्राणी नहीं है, जो एक भव धारण करके अनंत सुख को प्राप्त होती है। तीर्थंकर जननी के सदृश और कोई माता नहीं है।

सेवक देव जिनेसुर जू के, नाहिं सुरेसुर तुल्या।
शची सारिखी भक्त न कोई, धारे भाव अतुल्या।।
कल्याणक ए पाँचू पूजैं, शची शक्र जिनदासा।
अहनिशि जिनवर चरचा इनके, धारे अतुल विलासा।।848।।

अर्थ :- सौधर्म इन्द्र के सदृश जिनेश्वर देव का और कोई सेवक नहीं है। अत्यन्त भक्ति भाव को धारण करने वाली इन्द्राणी (शची) के सदृश और कोई भक्त नहीं है। इन्द्र और इन्द्राणी-शची जिनेन्द्र भगवान के दास बनकर के तीर्थंकर के पाँचों कल्याणक मनाते हैं। अनुपम वैभवशाली ये रात-दिन जिनेन्द्र भगवान की ही चर्चा करते हैं।

दोहा

अब मुनि अहमिंद्रा महा, स्वर्ग ऊपरै जेहि।
नवग्रीवक नव अनुदिसा, पंचानुत्तर लेहि।।849।।

अर्थ :- अब सोलह स्वर्गों के ऊपर के अहमिन्द्रों का कथन करते हैं। ये देव नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तरों में निवास करते हैं।

तेईसौं शुभ थान ए, तिनमें चौदा सार।
नव अनुदिश पंचोत्तरा, ये पावें भवपार।।850।।

अर्थ :- ये कुल मिलाकर तेईस शुभ स्थान हैं। इनमें चौदह स्थान सारभूत हैं। नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर वाले देव संसार से पार होते हैं।

सम्यक्दृष्टी देव ए, चौदह थान निवास।
चौदह में नहिं पंच से, महा सुखनि की रास।।851।।

अर्थ :- इन चौदह स्थानों में निवास करने वाले देव सम्यग्दृष्टि होते हैं। चौदह स्थानों में से इन पाँच स्थानों सदृश महान सुख अन्य कहीं नहीं है।

पंचनि में सरवारथी, सिद्ध नाम है थान।
सकल स्वर्ग को सीस जो, ता सम लोक न आन।।852।।

अर्थ :- पाँच अनुत्तरों में सर्वार्थसिद्धि नामक एक स्थान है। यह स्थान सब स्वर्गों के शीर्ष पर अर्थात् सर्वोपरि है। लोक में सर्वार्थसिद्धि-सदृश अन्य कोई स्थान नहीं है।

एका भवतारी महा, सरवारथसिधि वास।
तिनसे देव न इन्द्र कोउ, अहमिंद्रा न प्रकाश।।853।।

अर्थ :– सर्वार्थसिद्धि में निवास करने वाले देव एक भवावतारी होते हैं। उन देवों के सदृश दूसरा कोई इन्द्र, देव या अहमिन्द्र नहीं है।

कहे देव में सार ए, तैंसे व्रत में सार।
शील समान न गुरु कहैं, शील देय भवपार।।854।।

अर्थ :– जैसे देवों में उत्तम सर्वार्थसिद्धि के देव हैं, वैसे व्रतों में उत्तम – श्रेष्ठ शील के बराबर और कोई महान व्रत नहीं है। शीलव्रत संसार से पार उतारने वाला है।

देव माहिं जे समकिती, देव देव हैं जेहि।
देव माहिं मिथ्या मती, पशु तें मूरख तेहि।।855।।

अर्थ :– देवों में भी जो सम्यग्दृष्टि देव हैं, वे ही देवों में देव हैं। देवों में भी मिथ्यादृष्टि देव पशु के समान मूर्ख हैं।

नारक में जे समकिती, तिनसे देव न जानि।
तिरयंचनि में श्रावका, तिनसे मनुज न मांनि।।856।।

अर्थ :– नरकों में जो सम्यग्दृष्टि हैं, उनके समान (मिथ्यादृष्टि) देव भी नहीं है। तिर्यंचों में जो व्रती (अणुव्रतधारी) हैं, उनके समान (अव्रती) मनुष्य भी नहीं हैं।

मनुजनि में जे अव्रती, अज्ञानी मतिमंद।
तिन से तिरजंचा नहीं, सेवें विषय सुछंद।।857।।

अर्थ :– मनुष्यों में जो अव्रती, अज्ञानी, मंद बुद्धि हैं; उनके समान स्वच्छंदता पूर्वक विषयों का सेवन करने वाले तिर्यंच नहीं हैं।

मनुजनि माहिं मुनीन्द्र जे, महाव्रती गुणवान।
तिन से अहमिन्द्रा नहीं, ताकों सुनहु बखान।।858।।

अर्थ :– मनुष्यों में महाव्रती, गुणवान मुनीन्द्रों के समान अहमिन्द्र नहीं हैं। अब उनका कथन करते हैं।

थावर नहिं कृमिकीट से, ते सकलिन्द्री से न।
पंचेन्द्री नहिं नरनि से, नर जु नरेन्द्र जिसे न।।859।।

अर्थ :– कृमि कीट–सदृश स्थावर नहीं हैं। सकलेन्द्रिय–सदृश विकलेन्द्रिय नहीं हैं। मनुष्य–सदृश पंचेन्द्रिय अन्य जीव नहीं हैं। नरेन्द्र–सदृश नर नहीं हैं।

महामंडलिक से न नृप, ते अर्धचक्री से न।
अर्धचक्री नहिं चक्री से, चक्री इन्द्र जिसे न।।860।।

अर्थ :– महामंडलीक–सदृश नृप नहीं है। अर्धचक्री के समान महामण्डलीक नहीं है। चक्रवर्ती के बराबर अर्धचक्री नहीं है। इन्द्र के बराबर चक्रवर्ती नहीं है।

इन्द्र नहीं अहमिन्द्र से, ते न मुनीन्द्र समान।
नाहिं मुनीन्द्र गणीन्द्र से, ज्ञानवान गुणवान।।861।।

अर्थ :– अहमिन्द्र के बराबर इन्द्र नहीं है। मुनीन्द्र–सदृश अहमिन्द्र नहीं है। ज्ञानी और गुणी गणधर–सदृश मुनीन्द्र नहीं है।

नाहिं गणीन्द्र जिनेन्द्र से, जे सबके गुरुदेव।
इन्द्र फणिन्द्र नरेन्द्र मुनि, करें सुरासुर सेव।।862।।

अर्थ :– जिनेन्द्र के समान गणधर नहीं हैं, वे सबके गुरु हैं। जिनेन्द्र भगवान की इन्द्र, फणीन्द्र, नरेन्द्र, मुनि और सुर–असुर सब प्रकार के देव सेवा करते हैं।

ते जितेन्द्र हू तप समय, करें सिद्ध को ध्यान।
सिद्धनि सो संसार में, नाहिं दूसरो आन।।863।।

अर्थ :– वे जिनेन्द्र देव भी तपश्चरण के समय सिद्ध भगवान का ध्यान करते हैं। इसलिए इस संसार में सिद्धों के समान दूसरा कोई नहीं है।

सिद्धनि सो यह आत्मा, निश्चय नय करि होय।
सिद्धलोक दायक महा, नहीं शील सो कोय।।864।।

अर्थ :– निश्चय नय से सिद्ध भगवान–सदृश सब जीवों की आत्मा है। सिद्ध लोक को प्राप्त कराने वाले शील–सदृश और कोई व्रत नहीं है।

भूमि न अष्टम भूमि सी, सर्वभूमि के शीश।
कर्म भूमि तें पावही, अष्टम भूमि मुनीस।।865।।

अर्थ :– सर्व भूमियों के ऊपर स्थित अष्टम भूमि–सदृश कोई भूमि नहीं है। मुनिराज कर्मभूमि से अष्टम भूमि को प्राप्त करते हैं।

द्वीप अढ़ाई से नहीं, असंख्यात ही द्वीप।
जहां ऊपजे जिनवरा, तीन भुवन के दीप।।866।।

अर्थ :– असंख्यात द्वीपों में अढ़ाई द्वीप सदृश और कोई नहीं है। अढ़ाई द्वीप में ही तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं, जो तीन भुवन के दीपक हैं।

नहिं जिन प्रतिमा–सारिखी, कारण वर वैराग।
नहीं आन मूरति जिसी, कारण दोष रु राग।।867।।

अर्थ :– जिनप्रतिमा–सदृश उत्तम वैराग्य को उत्पन्न करने वाली अन्य कोई मूर्ति नहीं है। अन्य मूर्तियों के समान राग और द्वेष को उत्पन्न करने वाला दूसरा कोई कारण नहीं है।

नहिं अनादि प्रतिमा समा, सुंदर रूप अपार।
नाहिं अकृत्रिम सारिखे, चैत्यालय विसतार।।868।।

अर्थ :– अनादिनिधन (अकृत्रिम) प्रतिमा–सदृश और कोई अनुपम, सुंदर प्रतिमा नहीं है। अकृत्रिम चैत्यालय के बराबर और कोई बड़े चैत्यालय नहीं हैं।

क्षेत्र न आरिज सारिखे, सिद्धक्षेत्र है सोइ।
भरतैरावत दस सबै, नहिं विदेह से कोइ।।869।।

अर्थ :– आर्यखंड–सदृश क्षेत्र नहीं है। उसमें भी सिद्धक्षेत्र महान हैं। भरत और ऐरावत – ये दस क्षेत्र हैं, फिर भी विदेह क्षेत्र समान और कोई क्षेत्र नहीं है।

गिरि नहिं सुरगिरि सारिखे, तरु सुरतरु से नाहिं।
नदी सुरनदी सी नहीं, सर्व नदी के माहिं।।870।।

अर्थ :– सुमेरु पर्वत के सदृश पर्व नहीं है। कल्पवृक्ष के सदृश वृक्ष नहीं है। सभी नदियों में सुर–नदी – गंगा–नदी के सदृश और कोई नदी नहीं है।

शिला न पांडुकशिला सम, जा परि न्हावै ईश।
सिद्ध सिला सी पांडु नहिं, सा त्रिभुवन के शीश।।871।।

अर्थ :– पांडुकशिला के बराबर और कोई शिला नहीं है, जिसके ऊपर भगवान का अभिषेक होता है। सिद्ध शिला के सदृश और कोई श्वेत वर्ण की शिला नहीं है, जो तीन भुवन के मस्तक पर स्थित है।

उदधि न क्षीरोदधि समा, द्रह पद्मादि जिसे न।
मणि नहिं चिंतामणि समा, कामधेनु सी धेनु।।872।।

अर्थ :– क्षीरोदधि–सदृश समुद्र नहीं है। पद्म आदि के समान अन्य कोई सरोवर नहीं है। चिंतामणि–सदृश मणि नहीं है। कामधेनु–सदृश कोई धेनु नहीं है।

निधि नहिं नवनिधि सारिखी, सो निजनिधि सी नाहिं।
नहिं समुद्र गुणसिंधु सो, है निज निधि जा माहिं।।873।।

अर्थ :– नवनिधि–सदृश निधि नहीं है। वह निधि भी आत्मनिधि–सदृश नहीं है। गुणसमुद्र के समान समुद्र नहीं है, जिसमें आत्मनिधि है।

नन्दनादि से वन नहीं, ते निज वन से नाहिं।
निज वन में क्रीड़ा करें, ते आनन्द लहाहिं।।874।।

अर्थ :– नंदन आदि के सदृश वन नहीं है। वे वन भी आत्म–वन समान नहीं हैं। जो आत्मा रूपी वन में क्रीड़ा करते हैं, वे निज आनंद को प्राप्त करते हैं।

केवल परिणति सारिखी, नदी कलोलनि कोइ।
निज गंगा सोई गनों, ता सम और न होइ।।875।।

अर्थ :– केवल परिणति के समान और कोई आनंददायक नदी की लहरें नहीं हैं। आत्मगंगा के समान और कोई नदी नहीं है।

देव न आतम देव सो, गुण आतम सो नाहिं।
धर्म न आतम धर्म सो, गुण अनन्त जामाहिं।।876।।

अर्थ :– आत्मरूपी देव के सदृश दूसरा कोई देव नहीं है। आत्मगुण–सदृश कोई गुण नहीं है। आत्मधर्म–सदृश दूसरा कोई धर्म नहीं है। आत्मा में अनंत गुण हैं।

बाजा दुन्दुभि सारिखा, नहीं जगत में और।
राजा जिनवर से नहीं, तीन भुवन सिर–मौर।।877।।

अर्थ :– संसार में दुंदुभि बाजे के सदृश और कोई बाजा नहीं है। तीन भुवन में श्रेष्ठ जिनेन्द्र देव–सदृश दूसरा कोई राजा नहीं है।

नाहिं अनाहत तूर से, देव–दुन्दुभी तूर।
सूर न तिनसे जे नरा, डारे मनमथ चूर।।878।।

अर्थ :– अनाहत (बिना बजाये बजने वाले) बाजे की ध्वनि (जिनेन्द्र ध्वनि) के सदृश देवों की दुंदुभि – तुरही भी नहीं है। वे ही मनुष्य सूर हैं, जो कामदेव को भी पराजित कर देते हैं। उनसे बढ़ कर दूसरे शूरवीर कोई नहीं है।

वाहन नहीं विमान से, फिरें गगन के माहिं।
नाहिं विमान जु ज्ञान से, जा करि शिवपुर जाहिं।।879।।

अर्थ :– विमान–सदृश वाहन नहीं है, जो आकाश में घूमते हैं। ज्ञान के बराबर और कोई विमान भी नहीं हैं, जिसके द्वारा शिवपुर को प्राप्त होते हैं।

हीन दीन अति तुच्छ तन, नहिं निगोदिया तुल्य।
सरवारथ सिधि देव से, भववासी नहिं कुल्य।।880।।

अर्थ :– निगोदिया जीवों के हीन, दीन तथा अति तुच्छ (छोटे) शरीर के बराबर अन्य कोई दीन–हीन नहीं है। सर्वार्थसिद्धि के देव के बराबर कोई भव–वासी मानवीय (कुलीन – उत्तम कुल) का नहीं है।

दीरघ देह न मच्छ से, सहसर जोजन देह।
चौइन्द्री नहिं भ्रमर से, जोजन एक गनेह।।881।।

अर्थ :– एक हजार योजन लंबाई वाले मत्स्य के शरीर समान और कोई दीर्घ शरीर वाले नहीं हैं। एक योजन लंबे भ्रमर के बराबर और कोई चउ इन्द्रिय जीव नहीं हैं।

कान खजुरया से नहीं, ते इन्द्री त्रस कोस।
बेइन्द्री नहिं संख से, तन अड़तालीस कोश।।882।।

अर्थ :– तीन कोस लंबे कनखजूरा के समान अन्य कोई तीन इन्द्रिय जीव नहीं है। अड़तालीस कोस शरीर वाले शंख के बराबर दूसरा कोई दो इन्द्रिय जीव नहीं है।

एकेन्द्रिय नहिं कमल से, सहसर जोजन एक।
सब परि करुणा राखिवौ, इह जिनधर्म विवेक।।883।।

अर्थ :– एक हजार योजन विस्तृत कमल के बराबर और कोई एक इन्द्रिय जीव नहीं है। इस प्रकार सब जीवों पर करुणा भाव रखो। यही जिनधर्म का सिद्धान्त है।

धातु न कनक समान सो, काई लगै न जाहि।
सोहु न चेतन धातु सो, नहिं कबहूं विनसाहि।।884।।

अर्थ :– कनक–सदृश कोई धातु नहीं है, जो काई लगाने से भी विनाश को प्राप्त नहीं होती है। चैतन्य धातु के बराबर कोई धातु नहीं है, वह कभी विनाश को प्राप्त नहीं होती है।

पारस से पाषाण नहिं, लोहा कनक कराय।
पारसनाथ समान कोउ, पारस नाहिं कहाय।।885।।

अर्थ :– लोहे को सुवर्ण बनाने वाले पारस पत्थर के सदृश कोई पाषाण नहीं है। पारसनाथ भगवान के बराबर और कोई पारस नहीं कहलाता है।

करै जीव कों आप सम, हरै सबै दुख ढोय।
धरै मोक्ष थानक विषैं, करै कर्म गण सोय।।886।।

अर्थ :– वे पारसनाथ जीवों को अपने समान बना देते हैं। जीवों के सर्व दुखों को हरने वाले हैं एवं कर्म–समूह का नाश करके मोक्षस्थान को प्राप्त कराने वाले हैं।

ध्यावौ पारसप्रभु महा, बसै सदा सो पास।
राशि सकल गुणरतन की, काटै कर्म जु पासि।।887।।

अर्थ :– निरन्तर निकट में बसने वाले पारसनाथ भगवान का ध्यान करो। वे समस्त गुण–रत्नों की खान हैं। वे जीवों के कर्म–समूह के पाश को नष्ट करने वाले हैं।

चातुर्मासिक सारखे, उत्पत जीव न आन।
व्रती जती से नाहिं कोउ, गमन तजें गुणवान।।888।।

अर्थ :– चातुर्मास के समान जीवों की उत्पत्ति का अन्य कोई समय नहीं है। (अर्थात् उस समय प्रचुर मात्रा में जीवों की उत्पत्ति होती है।) व्रती और यती के समान गुणवान मनुष्य इस समय में गमनागमन का त्याग कर देते हैं।

जिन कल्याणक क्षेत्र से, और न तीरथ जान।
तेहु न निज तीरथ जिसै, इह निश्चय कर मान।।889।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान के कल्याणक जहाँ हुए हैं, उस क्षेत्र के समान दूसरा कोई तीर्थ नहीं है। यह तीर्थ भी आत्मतीर्थ के समान नहीं है। यह निश्चय से जानो।

निज तीरथ निज क्षेत्र है, असंख्यात परदेश।
तहां विराजै आतमा, जानै भाव असेस।।890।।

अर्थ :– आत्मतीर्थ ही आत्मक्षेत्र है, जो असंख्यात प्रदेशी है। आत्मा इन्हीं प्रदेशों में रहकर समस्त भावों को जानती है।

अष्टमि चउदसि सारिखी, परवी और न जानि।
आष्टाह्निक से लोक में, पर्व न कोइ प्रवानि।।891।।

अर्थ :– अष्टमी और चतुर्दशी के बराबर और कोई पर्व तिथियाँ नहीं हैं। इस संसार में अष्टाह्निका पर्व के समान दूसरा कोई पर्व नहीं है।

नंदीसुर सो धाम नहिं, जहाँ हरख अति होय।
नंदादिक वापीनि सी, नहीं वापिका कोय।।892।।

अर्थ :– अत्यन्त आनंददायक नन्दीश्वर द्वीप के समान दूसरा कोई स्थान नहीं है। नंदा आदि वापिका-सदृश अन्य कोई वापिका नहीं है।

नारक से क्रोधी नहीं, शठ नर सो न गुमान।
विकल न पशुगण सारिखे, लोभ न दंभ समान।।893।।

अर्थ :– नारकी जीवों के समान अन्य कोई क्रोधी नहीं है। दुष्ट मनुष्य के सदृश अभिमानी नहीं है। पशु-समूह सदृश कोई टेढ़े-मेढ़े शरीरधारी अर्थात् मायावी नहीं है और पाखण्ड-आडम्बर के समान कोई लोभ नहीं है।

नारक से न कुरूप कोउ, देवनि से न सुरूप।
नर से धन्धाधर नहीं, नहिं पशु से बहुरूप।।894।।

अर्थ :– नारकी-सदृश कोई कुरूप नहीं है। देव के समान कोई सुंदर नहीं है। मनुष्य के समान विविध आजीविका धारण करने वाला दूसरा कोई नहीं है। पशुओं के सदृश अन्य अनेक रूपधारी नहीं हैं।

कारण भोग न दान सो, तप सो स्वर्ग न मूल।
हिंसारम्भ समान नहिं, कारण नरक सथूल।।895।।

अर्थ :– दान-सदृश भोग का अन्य कारण नहीं है। तपश्चरण-सदृश स्वर्ग प्राप्ति का अन्य कारण नहीं है। हिंसा और आरम्भ के समान नरक प्राप्ति का दूसरा कोई कारण नहीं है।

पशुगति कारण कपट सो, और न कोइ बखान।
सरल निगर्व सुभाष सो, नरभव मूल न आन।।896।।

अर्थ :– मायाचारी - कपट के समान तिर्यंच गति की प्राप्ति का कोई कारण नहीं है। सरलता, निरभिमानता और मृदुता-सदृश मनुष्य भव की प्राप्ति का दूसरा कारण नहीं है।

सुख कारण नहिं शुभ समो, अशुभ समा दुख मूल।
नहीं शुद्ध सो लोक में, मोक्ष-मूल अनुकूल।।897।।

अर्थ :– शुभ भाव के सदृश कोई सुख भाव का कारण नहीं है। अशुभ भाव के समान कोई दुख का मूल नहीं है और शुद्ध भाव के समान इस संसार में मोक्ष का अन्य कोई अनुकूल कारण नहीं है।

पोसह पडिक्रमणादि सो, शुभाचरण नहीं होइ।
विषय कषाय कलंक सो, अशुभाचरण न कोइ।।898।।

अर्थ :– प्रोषध एवं प्रतिक्रमण आदि के समान अन्य कोई शुभाचरण नहीं है। विषय–कषाय और पापमल के समान और कोई अशुभचारण नहीं है।

आतम अनुभव सारिखा, शुद्धभाव नहीं वीर।
नहीं अनुभवी सारिखे, तीन भुवन में धीर।।899।।

अर्थ :– हे भाई! आत्मानुभव के समान और कोई शुद्ध भाव नहीं है। आत्मानुभवी के बराबर तीन भुवन में कोई धीर पुरुष नहीं है।

नारि समान न नागिनी, नारी सम न पिशाच।
नारि समान न व्याधि है, रहें मूढ़ जन राचि।।900।।

अर्थ :– नारी के समान नागिनी नहीं है, पिशाच नहीं है और व्याधि नहीं है; फिर भी मूर्ख प्राणी उसी में आसक्त रहता है।

ब्रह्मज्ञान को विश्व में, वैरी है व्यभिचार।
ब्रह्मचर्य सो मित्र नहिं, इह निश्चै उर धारि।।901।।

अर्थ :– विश्व में व्यभिचार आत्मज्ञान का वैरी है। ब्रह्मचर्य समान ब्रह्मज्ञान का अन्य कोई मित्र नहीं है। यह निश्चय से हृदय में धारण करना चाहिए।

कायर कृपण समान नहिं, सुभट न त्यागी तुल्य।
रंक न आसा दास से, लहै न भाव अतुल्य।।902।।

अर्थ :– कृपण–समान कोई कायर नहीं है और त्यागी–सदृश कोई सुभट नहीं है। आशा के दास बनकर रहने वाले के समान अन्य कोई दरिद्री नहीं है। ये कभी भी शुद्ध भाव को प्राप्त नहीं होते हैं।

संत न आशा रहित से, आशा त्यागें साध।
साध समान अबाध नहिं, करहि तत्त्व आराध।।।903।।

अर्थ :– आशा–रहित साधु के समान दूसरा कोई संत नहीं है। साधु आशा के त्यागी ही होते हैं। साधु के समान निर्बाध कोई नहीं है। वे तत्त्वों की आराधना करते हैं।

निजगुण से नहिं भूषणा, भूख न चाहि समान।
वस्त्र न दश दिश सारिखे, इह भाषें भगवान।।904।।

अर्थ :– आत्मगुण के समान भूषण नहीं है। चाह–इच्छा के समान भूख नहीं है। दशों दिशाओं के समान कोई वस्त्र नहीं है। ऐसा भगवान ने कहा है।

भोजन तृपति समान नहिं, भाजन गगन जिसौ न।
राज न शिवपुर राज सो, जामें काल धको न।।905।।

अर्थ :– तृप्ति–समान भोजन नहीं है अर्थात् तृप्ति नहीं हुई तो वह भोजन कैसा? आकाश के समान भाजन – बर्तन नहीं है। शिवपुरी के राज्य–सदृश दूसरा राज्य नहीं है, जिसमें से काल कभी धक्का देकर निकालता नहीं है।

राव न सिद्ध अनन्त से, साथ न भाव समान।
भाव न ज्ञानानन्द से, इह निश्चय परवान।।906।।

अर्थ :– अनन्तान्त सिद्ध भगवान–सदृश राजा नहीं हैं। भाव (परिणाम) के सदृश कोई साथी नहीं है। ज्ञानानन्द–सदृश भाव नहीं है। यह निश्चय से जानना चाहिए।

चेतनता सत्ता महा, ता सम पटरानी न।
शक्ति अनन्तानन्त सी, राजलोक जानी न।।907।।

अर्थ :– चेतनता महान सत्ता है, उसके समान कोई पटरानी नहीं है। उस जैसी अनन्तानन्त शक्ति सम्पूर्ण लोक में भी नहीं जानी गई है।

नारक से दुखिया नहिं, विषयी देव जिसै न।
चिन्तावान मनुष्य से, असहाई पशु से न।।908।।

अर्थ :– नारकी जीवों के समान अन्य कोई दुखिया नहीं है। देवों के समान अन्य कोई विषय सेवन करने वाले नहीं हैं। मनुष्य–सदृश दूसरे चिंतावान नहीं हैं और पशु के समान कोई असहाय नहीं है।

सूक्षम अलप प्रजापता, जीव निगोद निवास।
ता सम सूक्षम थावर न, इह जिन आज्ञा भास।।909।।

अर्थ :– सूक्ष्म अलब्धपर्याप्त जीवों का निगोद में निवास है। उनके समान सूक्ष्म स्थावर जीव नहीं हैं। इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है।

अलस्या से बेइन्द्रिया, और न अलप शरीर।
नहीं कुंथिया से अलप, ते इन्द्रिय तनवीर।।910।।

अर्थ :– अलसिया के बराबर और कोई अल्प शरीरी दो इन्द्रिय जीव नहीं है। कुंथु के समान और कोई अल्प शरीरी तीन इन्द्रिय जीव नहीं है।

काणमच्छिका से न तुच्छ, चौइन्द्रिय तन धार।
तन्दुलमच्छ समान तुच्छ, पंचेन्द्री न विचार।।911।।

अर्थ :– काणमक्षिका के समान दूसरा कोई अल्प शरीरी चार इन्द्रिय जीव नहीं है। तंदुल मत्स्य के समान अन्य कोई अल्प शरीरी पंचेन्द्रिय जीव नहीं है।

चुगली–चोरी अति बुरी, जोरी जारी ताप।
चोरी चमचोरी तथा, जूवा आमिष पाप।।912।।

मदिरा मृगया मांगना, पर महिला सूं प्रीति।
परद्रोह परपंच अर, पाखंडादि प्रतीत।।913।।

अर्थ :– चुगली और पीठ पीछे की निन्दा दोनों अत्यन्त बुरी हैं। जबरन शील भंग करना अत्यन्त दुखदायी है। चोरी, हेरा–फेरी, जुआ, मांसाहार, मदिरापान, शिकार, याचना, पर–स्त्री से प्रेम, पर–द्रोह, प्रपंच और पाखण्डादि की प्रतीति – ये सभी त्याज्य हैं।

तजो अभक्षण भक्ष्य अरु, तजौ अगम्यागम्य।
तजौ विपर्यय भाव सहु, त्यागहु पाप अरम्य।।914।।

अर्थ :– अभक्ष्य भक्षण का त्याग करो। अगम्य (बुरे) स्थानों में गमन करना छोड़ो। समस्त विपरीत भावों का त्याग करो और जो अरम्य है और पाप है, उन सबका त्याग करो।

इन सी और न कुक्रिया, नरक निगोद प्रदाय।
सकल कुक्रिया त्याग सों, और न ज्ञान उपाय।।915।।

अर्थ :– इस प्रकार की समस्त खोटी – बुरी क्रियाएँ नरक–निगोद देने वाली हैं। सभी बुरी क्रियाओं के त्याग जैसा ज्ञान–प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं है।

उज्जल जल गल्यौ उचित, सोध्यौ अन्न अडंक।
ता सम भक्ष्य न लोक में, भावें विबुध निशंक।।916।।

अर्थ :– छना हुआ निर्मल जल एवं डंस रहित शोधा हुआ अन्न – इनके समान इस जगत में भक्ष्य पदार्थ नहीं हैं। बुद्धिमान नि:शंक होकर यह कथन करते हैं।

मद्य मांस मधु मांखणा, ऊमरादि फल निंदि।
इन से अभख न लोक में, निंदें नर जगवंदि।।917।।

अर्थ :– मद्य, मांस, मधु, मक्खन, निन्दनीय पंच उदुम्बर फल के समान इस जगत में कोई अभक्ष्य पदार्थ नहीं है। जगत के वंदनीय मनुष्यों ने इनकी निंदा की है।

वेश्या दासी पर त्रिया, तित सी धारै प्रीति।
एहि अगम्या गम्य है, या सम नाहिं अनीति।।918।।

होय कलंक को सारखे, नाहिं अनीती कोय।
वज्र चक्री सारिखे, नीतिवान नहिं जोय।।919।।

अर्थ :– वेश्या, दासी और पर-स्त्री के साथ प्रीति-भाव धारण करना सर्वथा अगम्यागम्य है, अनुचित है। इसके समान कोई अनीति नहीं है। ऐसा करने वाला कलंकी-सदृश होता है। इस जैसी कोई अनीति नहीं है। वज्र और चक्र धारण करने वाले बलभद्र और चक्रवर्ती-सदृश नीतिवान नहीं देखे जाते हैं अर्थात् ये उत्तम हैं।

गज जग कोउ गजेन्द्र से, मृग मृगेन्द्र से नाहिं।
खग नहिं कोउ खगेन्द्र से, जे अति जोर धराहिं।।920।।

अर्थ :– ऐरावत हाथी के समान कोई दूसरा गज नहीं है। सिंह के समान दूसरा चौपाया नहीं है। खगेन्द्र (गरुड़) के समान कोई दूसरा पक्षी नहीं है। ये सभी अत्यन्त बल धारण करने वाले हैं।

वादित्र न कोइ बीन से, सुरपति से न प्रवीन।
बाण न कोइ अमोघ से, हिंसक से न मलीन।।921।।

अर्थ :– बीन (वीणा) के समान कोई वादित्र नहीं है। इन्द्र-सदृश कोई प्रवीण नहीं है। अमोघ के समान कोई बाण नहीं है। हिंसक के समान कोई पापी नहीं है।

अशन न पान पियूष से व्यसन न द्यूत समान।
वस्त्राभरण न लोक में, देवलोक सम आन।।922।।

अर्थ :– अमृत के समान भोजन (खान) पान नहीं है। द्यूत के समान कोई व्यसन नहीं है। स्वर्ग लोक के वस्त्रों और आभूषणों के समान जगत में कोई वस्त्राभूषण नहीं है।

वाजित्री न महेन्द्र से, पंच कल्याणक माहिं।
सदा बजावें राग धरि, गावैं संशय नाहिं।।923।।

अर्थ :– पंचकल्याणक में वादित्री (बाजा बजाने वाले) स्थानीय माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र के समान और कोई वादित्री नहीं है। वे निरन्तर नाना प्रकार के रागों से बाजे बजाते हैं और गाते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है।

अश्व नहीं जात्यश्व से, कटक न चक्रि-समान।
अलंकार नहिं मुकुट से, अंग न सीस समान।।924।।

अर्थ :- जात्यश्व के समान दूसरा कोई अश्व नहीं है। चक्रवर्ती के कटक के समान दूसरा कोई कटक नहीं है। मुकुट-सदृश अलंकार नहीं है और मस्तक के समान कोई अंग नहीं है।

पालें बाल जु ब्रह्मव्रत, ता सम पुरुष न नारि।
खोवै वृद्धिहिं ब्रह्मव्रत, ता सम पशु न विचारी।।925।।

अर्थ :- जो बालपन में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं, उनके समान अन्य कोई पुरुष और स्त्री नहीं हैं। वृद्धावस्था में भी जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं करते हैं। विचार करो, उनके समान तिर्यंच भी नहीं हैं।

वज्र चक्र से लोक में, आयुध और न वीर।
वज्रायुध चक्रायुधी, तिनसे प्रबल न धीर।।926।।

अर्थ :- हे वीर! संसार में वज्र और चक्र के समान और कोई आयुध नहीं है। हे धीर! बलभद्र और चक्रवर्ती के समान और कोई प्रबल वीर नहीं है।

हल मुसलायुध सारिखे, भद्रभाव नहिं भूप।
नहिं धनुषायुध सारिखे, केलि कुतूहल रूप।।927।।

अर्थ :- हल और मूसलधारी बलभद्र के बराबर अन्य कोई कोमल परिणामी राजा नहीं है। धनुष-आयुध के समान आनंददायक और कौतूहलकारी कोई आयुध नहीं है।

नहिं त्रिशूलायुध जिसै, ओर भयंकर कोइ।
नहिं पुष्पायुध सारिखे, महा मनोहर होइ।।928।।

अर्थ :- त्रिशूल आयुध के समान और कोई भयंकर आयुध नहीं है। पुष्पायुध के समान दूसरा कोई महा मनोहर आयुध नहीं है।

धर्मायुध से धर्मधर, सर्वोत्तम सब नाथ।
और न जानो लोक में, सकल जिनों के साथ।।929।।

अर्थ :- धर्मरूपी आयुध को धारण करने वाले तथा जिनेन्द्र के साथ रहने वाले अर्थात् उनके अनुयायी धर्मात्मा जन सबसे उत्तम हैं। इनके अतिरिक्त लोक में अन्य कोई सर्वोत्तम नहीं है।

नहिं व्यभिचारी सारिखा, पापाचारी और।
नाहिं ब्रह्मचारी समा, आचारी सिरमौर।।930।।

अर्थ :– व्यभिचारी के समान और कोई पापाचारी नहीं है। ब्रह्मचारी के सदृश और कोई सिरमौर आचारवान नहीं है।

माया सी कुलटा नहीं, लगी जगत के संग।
विरचे क्षण में पापिनी, परकीया बहु रंग।।931।।

अर्थ :– माया (धन–दौलत आदि) के समान कुलटा स्त्री नहीं है, जो समस्त प्राणियों के साथ लगी हुई है। यह परकीया पापिनी क्षणभर में साथ छोड़ देती है और नाना प्रकार के रंग दिखाती है।

नहिं चिद्रूपा सिद्धि सी, सुकिया जगत मझार।
नहिं नायक चिद्रूप सो, आनन्दो अविकार।।932।।

अर्थ :– जगत में चिद्रूपा सिद्धि समान कोई स्वकीया नहीं है और आनन्द अविकारी चिद्रूप समान कोई नायक नहीं है।

न्यारी होय न चेतना, है चेतन को रूप।
रामरूप सी नहिं रमा, रामस्वरूप अनूप।।933।।

अर्थ :– चेतना भिन्न नहीं होती है, यह स्वयं चेतना रूपमय ही है। चैतन्य–लक्ष्मी राम–चेतन के रूप जैसी नहीं, अपितु स्वयं अनूप चेतन–स्वरूप है।

कनक कामिनी राग तें, लखी जाय नहिं सोइ।
संयम शील स्वभाव तें, ताको दरसन होइ।।934।।

अर्थ :– कनक (सुवर्ण) और कामिनी (स्त्री) के राग से आत्मरूप राम दिखाई नहीं देता है। संयम और शील के स्वभाव से ही उसी आत्माराम का दर्शन होता है।

सील ओपमा बहुत है, कहैं कहां लौ कोय।
जानें श्री जिनराज जु, शीलशिरोमणि सोय।।935।।

अर्थ :– शील की उपमाएँ अनेक हैं, उसका वर्णन कहाँ तक करें? शील–शिरोमणि जिनराज ही उन्हें जानते हैं।

दौलति और न ऋद्धि सी, ऋद्धि न बुद्धि समान।
बुद्धि न केवल सिद्धि सी, इह निश्चय परवान।।936।।

अर्थ :– ऋद्धि–सदृश दूसरी दौलत नहीं है। बुद्धि के समान कोई ऋद्धि नहीं है। कैवल्य की सिद्धि के समान कोई बुद्धि नहीं है। यह निश्चय जानो।

।। अथ शील स्वरूप निरूपण ।।

दोहा

कह्यौ दोय विध शीलव्रत, निश्चय अर व्यवहार।
सो धारो उर में सुधी, त्यागौ सकल विकार।।937।।

अर्थ :– शीलव्रत दो प्रकार का कहा गया है – निश्चय और व्यवहार। हे बुद्धिमान! समस्त विकारों को छोड़कर इस व्रत को हृदय में धारण करो।

निश्चय परम समाधितें, खिसवौं नाहिं कदाचि।
लखिवौ आतमभाव को, रहिवौ निज में राचि।।938।।

निज परिणति परगट जहाँ, पर परिणति परिहार।
निश्चय शील–निधान जो, वर्जित सकल विकार।।939।।

अर्थ :– जो उत्कृष्ट–परम समाधि से कभी च्युत नहीं होते हैं, आत्मपरिणति को देखते हुए आत्मा में ही लीन रहते हैं और पर–परिणति का त्याग करने से जिनकी आत्मपरिणति प्रकट हुई है, उन्हें समस्त विकारों से रहित निश्चय शील के भंडार जानना चाहिए।

पर–परिणति जे परिणमें, ते व्यभिचारी जानि।
मानि ब्रह्मचारी तिके, लेहि ब्रह्म पहिचान।।940।।

अर्थ :– पर–परिणति में परिणमन करने वालों को व्यभिचारी जानो। जिन्होंने आत्मा को पहचान लिया है, वे ही ब्रह्मचारी माने गये हैं।

परम शुद्ध परिणति विषै, मगन रहै धरि ध्यान।
पावें निश्चय शील को, भावें आतमज्ञान।।941।।

अर्थ :– ध्यान के माध्यम से जो आत्मा की परम शुद्ध परिणति में लीन रहते हैं, उसका ही ध्यान करते हैं, वे ही आत्मज्ञान को प्राप्त करते हुए निश्चय शील को धारण करते हैं।

निज परिणति निज चेतना, ज्ञान सरूपा होइ।
दरसन रूपा परम जो, चारितरूपा सोइ।।942।।

अर्थ :– आत्मपरिणति और आत्मचेतना ज्ञानस्वरूप है, वही उत्कृष्ट दर्शन स्वरूप भी है और चरित्रस्वरूप भी।

जड़रूपा जगबुद्धि जो, आपापर न लखेह।
पर परिणति सो जानिए, तन-धन माहिं फसेह।।943।।

अर्थ :- आत्मा से भिन्न पर-पदार्थों में बुद्धि जड़रूप है, जो स्व और पर को नहीं पहचान सकती है। जो तन-धन में फँसता है, उसी को पर-परिणति वाला जानो।

पर-परिणति के मूल ए, राग दोष मद मोह।
काम क्रोध छल लोभ खल, पर निंदा पर द्रोह।।944।।

दंभ प्रपंच मिथ्यात मल, पाखंडादि अनंत।
इन करि जीव अनादि के, भव-भव में भटकंत।।945।।

अर्थ :- पर-परिणति के मूल कारण राग, द्वेष, मद, मोह, काम, क्रोध, छल, लोभ, दुष्टता, पर-निंदा, पर-तिरस्कार, कपट, प्रपंच, मिथ्यात्वरूपी मल, अनंत पाखंड - इन सबके निमित्त से जीव अनादिकाल से भव-भव में भटक रहा है।

जौ लग मिथ्या परिणती, शठ जन के परकास।
तौ लग सम्यक् परिणती, होय न ब्रह्म-विकास।।946।।

अर्थ :- जब तक मूढ़जन के मिथ्यात्व परिणति प्रकाशित रहती है, तब तक ब्रह्म-आत्मा के विकासरूप सम्यक्त्व रूप परिणति नहीं होती है।

जोगीरासा

तजि व्यभिचारी भाव सबै ही भए ब्रह्मचारी जे।
ते शिवपुर में जाय विराजे, भव्यनि भव तारीजे।।
व्यभिचारी जे पापाचारी, ते भरमें भव-भव में।
पर परिणति सों रचिया जौलौं, तौलों जाय न शिव में।।947।।

अर्थ :- समस्त विकारी भावों को छोड़कर जो ब्रह्मचारी बने हैं, वे ही भव्य जीव संसार से पार होकर मोक्षरूपी नगर में विराजमान हो जाते हैं। जो व्यभिचारी - खोटी परिणति वाले जीव हैं, वे पापाचारी हैं। वे जीव अनंतानंत भव में भ्रमण करते हैं। जो पर-पदार्थों में आसक्त हैं, वे कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं होते हैं।

जग में पागे जड़ अनुरागे, लागे नाहीं निज में।
कर्म कर्मफलरूप होय कै, परे भंवर भ्रम-रज में।

ज्ञान चेतना लखी न अबलों, तत्त्व स्वरूपा शुद्धा।
जामें कर्म न भर्म कलपना, भाव न एक अशुद्धा।।948।।

अर्थ :– जो प्राणी जड़ पदार्थों में राग करते हैं, आत्मा की तरफ जिनका लक्ष्य नहीं है, वे कर्म चेतना और कर्मफल चेतना रूप होते हुए भ्रमरूपी भँवर की धूल में पड़े रहते हैं। अब तक तत्त्वस्वरूप शुद्ध ज्ञानचेतना को देखा भी नहीं, जाना भी नहीं है; उस ज्ञानचेतना में कर्मचेतना और कर्मफल चेतना नहीं है और एक भी अशुद्ध भाव नहीं है।

मिथ्या परिणति त्यागै कोई, सम्यक्दृष्टि होई।
अनुभव रस में भीगै जोई, शीलवन्त है सोई।।
निश्चय शील बखान्यूं एई, अचल अखण्ड प्रभावा।
परम समाधिमई निजभावा, जहाँ न एक विभावा।।949।।

अर्थ :– जो मिथ्या परिणति को छोड़ते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि होते हैं। जो अनुभवरूपी (आत्मा संबंधी) रस में भीगते हैं, वे ही शीलवान होते हैं। इस प्रकार निश्चय शील का कथन किया है, जो अचल और अखंड प्रभाव वाला है। निश्चय शील में परम समाधिरूप आत्मभाव ही है, उसमें एक भी विभाव भाव नहीं है।

छन्द चाल

अब सुनि व्यवहार सुशीला, धारन में करहु न ढीला।
दृढ़ व्रत आखड़ी धरिवौ, नारी को संग न करिवौ।।950।।

अर्थ :– अब व्यवहार शील का कथन सुनो। इस शील को धारण करने में जरा भी विलंब नहीं करना चाहिए। प्रतिज्ञापूर्वक स्त्रीमात्र का त्याग करके दृढ़तापूर्वक इस व्रत का पालन करें।

नारी है नरक प्रतोली, नारिन में कुमति अतोली।
ए महा मोह की टोली, सेवें जिनकी मति भोली।।951।।

अर्थ :– नारी नरक का द्वार है। उसमें अथाह कुबुद्धि भरी है। नारी महा मोह को पैदा करने वाली है। मंद-बुद्धि मूर्ख मनुष्य ही उसका सेवन करते हैं।

नारी जग-जन-मन चोरै, नारी भवजल में बोरै।
भव भव दुखदायक जानों, नारी सों प्रीति न ठानों।।952।।

अर्थ :– नारी संसारी प्राणियों के मन को चुराने वाली है। नारी संसाररूपी जल में डुबोने वाली है। नारी को भव-भव में दुखदायक जानकर, नारी से प्रीति भाव नहीं रखना चाहिए।

त्यागें नारी को संगा, नहिं करें शीलव्रत भंगा।
ते पावें मुक्ति निवासा, कबहु न करें भव-वासा।।953।।

अर्थ :- जो स्त्रीमात्र का त्याग करते हैं, उनके शीलव्रत का भंग नहीं होता; वे जीव मुक्ति स्थान को प्राप्त करते हैं, कभी भी संसार में वास नहीं करते।

इह मदन महा दुखदाई, याकूं जीतें मुनिराई।
मुनिराय महा बलवन्ता, मन जीत मानजित सन्ता।।954।।

अर्थ :- यह मदन - कामदेव महान दुख देनेवाला है। मुनिराज इस काम को जीत लेते हैं। मुनिराज महा बलशाली संत होते हैं, वे मन को भी जीत लेते हैं और मान कषाय को भी जीत लेते हैं।

शीलहि सुरपति सिर नावै, शीलहिं शिवपुर जति जावै।
साधु है शील सरूपा, यह शील सुव्रत्त अनूपा।।955।।

अर्थ :- शीलवान को इंद्र भी मस्तक झुकाता है। शीलव्रत मुनिराज शिवपुर को प्राप्त होते हैं। साधु शीलस्वरूप होते हैं। यह शीलव्रत उत्तम और अनुपम व्रत है।

मुनि के कछुहू न विकारा, मन वच तन सर्व प्रकारा।
चितवौ व्रत चेतन माहीं, नारी को सपरस नाहीं।।956।।

अर्थ :- मुनिराज के मन-वचन-काय संबंधी किसी प्रकार का विकार भाव नहीं होता है। इस व्रत को अपने हृदय में धारण करो। स्त्रीमात्र के स्पर्शन का भी त्याग करो।

गृहपति के कछुक विकारा, तातें ए अणुव्रत धारा।
परदारा कबहुं न सेवैं, परधन कबहुँ नहिं लेवैं।।957।।

अर्थ :- गृहस्थी के कुछ विकारी भाव होते हैं, इसलिए वे अणुव्रतों को धारण करते हैं। पर-दारा - पर-स्त्री का कभी भी सेवन मत करो। पर-धन को भी मत ग्रहण करो।

जेती जग में पर नारी, बेटी बहनी महतारी।
इह भाँति गिनै जो भाई, सो श्रावक शुद्ध कहाई।।958।।

अर्थ :- संसार में जितनी भी पर-स्त्री हैं; वे सब बेटी, बहन और माता के समान हैं। इस प्रकार जो पर-स्त्रियों को मानते हैं, वे ही सच्चे श्रावक कहलाते हैं।

निज-दारा पर सन्तोषा नहिं, काम राग अति पोषा।
विरकत भावै कोउ समये, सेवैं निज नारी कम ये।।959।।

अर्थ :– जो अपनी स्त्री में संतोष भाव धारण करते हैं, जिनके अत्यन्त काम और राग की उत्कटता नहीं है, जो विरक्त भाव धारण करते हैं, वे कभी–कभी अपनी स्त्री का सेवन करते हैं।

दिनको न करै ए कामा, रात्री कबहुक परिणामा।
मैथुन के समये मवना, नहिं राग करै रति रमना।।960।।

अर्थ :– दिन में अपनी स्त्री का भी सेवन नहीं करते। रात्रि में भी राग परिणति से कभी–कभी ही सेवन करते हैं। मैथुन के समय मौन रखना चाहिए। रति–रमण में भी शब्द नहीं करना चाहिए।

परवी सब ही प्रति पालै, व्रत शील धारि अघ टालै।
अष्टाह्निक तीनों धारै, भादव के मास हु सारै।।961।।

अर्थ :– सभी पर्वों के दिनों में शीलव्रत धारण करके पाप को छोड़ो। तीनों अष्टाह्निका पर्वों में और सम्पूर्ण भाद्रपद माह में भी इस व्रत को धारण करना चाहिए।

ये दिवस धर्म के मूला, इनमें मैथुन अघ थूला।
अबर हु जै व्रत के दिवसा, पालै इन्द्रिनि के न वसा।।962।।

अर्थ :– ये दिन धर्म के मुख्य दिन कहे गये हैं। इन दिनों में मैथुन सेवन का महान पाप नहीं करना चाहिए। व्रत के और भी जो अन्य दिन हैं, उन दिनों में भी इन्द्रियों को वश में करके इस व्रत का पालन करना चाहिए।

अपने अर तिय के व्रत्ता, सबही पालै निरवृत्ता।
या विधि जिन नारी सेवै, पर मन में ऐसें बेवै।।963।।

अर्थ :– अपने (पुरुष) और स्त्री के भी सभी व्रत निर्वृत्त होकर, निर्दोष रूप से पालने चाहिए। यद्यपि जन इस प्रकार नारी का सेवन करते हैं, परन्तु मन में ऐसे विचार करते हैं कि –

कब तजि हौं काम–विकारा, इह कर्म महा दुख–भारा।
या में हिंसा बहु होवै, या कर्म करें शुभ खोवै।।964।।

अर्थ :– मैं इस काम–विकार को कब छोड़ूँगा? यह काम महान दुखदायक है। इस कर्म में बहुत हिंसा होती है। यह कर्म करने वाले पुण्य कर्म को नष्ट करते हैं।

जैसे नाली तिल भरिये, रंचहु खाली नहिं धरिये।
तातौ कीलौ ता माहै, लोहे को संसै नाहै।।965।।

घालें तिल भस्म जु होई, यह परतछि देखौ कोई।
तैसे ही लिंग करि जीवा, नासें भग माहिं अतीवा।।966।।

अर्थ :– जैसे तिल से भरी हुई एक नाली, जो रंचमात्र भी खाली नहीं है; उसमें तपाया हुआ लोहे का गर्म कीला डालने से सारे के सारे तिल जल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। यह प्रत्यक्ष देख सकते हैं, उसी प्रकार लिंग घर्षण के द्वारा योनि के असंख्यात जीव नष्ट हो जाते हैं।

तातें यह मैथुन निंद्या, याकों त्यागें जगवंद्या।
धन धन्य भाग जाकौ है, जो मैथुन तें जु बच्यौ है।।967।।

अर्थ :– इसीलिए यह मैथुन पाप निंदनीय है। जो इसका त्याग करते हैं, वे जगत में वंदनीय बन जाते हैं। उन जीवों का भाग्य धन्य-धन्य है, जो इस मैथुन पाप से बचे हुए हैं।

जो बाल ब्रह्मव्रत धारें, आजनम न मैथुन कारें।
तिनके चरणनि की भक्ति, दे भव्य जीव कूं मुक्ति।।968।।

अर्थ :– जो बाल्यावस्था में ही ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करते हैं अर्थात् जो जीवनपर्यन्त मैथुन सेवन नहीं करते, उन जीवों के चरणों की भक्ति भव्य प्राणियों को मुक्ति प्रदान करने वाली है।

हमहू एसे कब होहैं, तजि नारी व्रत करि सोहैं।
या मैथुन में न भलाई, परतछ दीखै अघ भाई।।969।।

अर्थ :– हे भाई! हम भी स्त्रीमात्र का त्याग करके कब ऐसे महापवित्र ब्रह्मचर्य व्रत से सुशोभित होवें; क्योंकि इस मैथुन पाप में किसी प्रकार की भलाई नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष महान पाप है।

अपनी हू नारी त्यागै, जब जिनवर के मत लागै।
यह देह हु अपनी नाहीं, चेतन बैठो जा माहीं।।970।।

तौ नारी कैसे अपनी, यह गुरु आज्ञा उर खपनी।
या विधि चिंतवै मन माहीं, कब घर तजि वन कूं जाहीं।।971।।

अर्थ :– स्व-स्त्री का त्याग करने पर ही जिनेन्द्र भगवान के बताये हुए मार्ग पर लगेंगे। जिस देह में यह चैतन्य-पुंज आत्मा विद्यमान है, वह शरीर भी अपना नहीं है तो स्त्री अपनी कैसे हो सकती है? इस प्रकार की गुरु-आज्ञा हृदय में धारण करनी चाहिए। ''मैं घर को छोड़कर वन में कब जाऊँ?'' इस प्रकार की भावना मन में धारण करनी चाहिए।

जबलों बलवान जु मोहा, तबलों इह मनमथ द्रोहा।
छाड़ै नहिं हमसों पापी, तातें ब्याही त्रिय थापी।।972।।

अर्थ :– जब तक मोहनीय कर्म बलवान है, तब तक यह कामदेव द्रोह करेगा। इस पापी

काम ने हमें नहीं छोड़ा, इसलिए हम विवाह-शादी करके स्त्री को घर में लाये अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत को पाल नहीं सके।

जबलों बलवान जु होहै, सारै मनमथ अर मोहै।
असमर्था नारी राखे, समरथ आतम-रस चाखै।।973।।

यह भावन नित भावंतो, घर माहिं उदास रहंतौ।
जैसे पर-घर पाहुणियो, तैसें ये श्रावक गिणियो।।974।।

अर्थ :- जब हम समर्थ होंगे, तब मोह और काम दोनों को समाप्त करेंगे। मोह और काम को नष्ट करने में असमर्थ जीव ही नारी को ग्रहण करते हैं। समर्थ पुरुष तो आत्म-रस का आस्वादन करते हैं। ऐसी भावना निरंतर भाते हुए घर में उदासीन भाव से रहना चाहिए। जिस प्रकार दूसरों के घर में व्यक्ति अतिथि-पाहुना की तरह रहता है, उसी प्रकार श्रावक को अपने घर में भी उदासीन रहना चाहिए।

वह तौ घर पहुंचौ चाहै, यह शिवपुर कों जो उमाहै।
अति भाव उदासी जाको, निज चेतन में चित ताको।।975।।

अर्थ :- जैसे अतिथि-पाहुना शीघ्र अपने घर पहुँचने की इच्छा करता है, उसी प्रकार श्रावक मोक्षपुरी अर्थात् स्व-घर जाने के लिए उत्साहित रहता है। वह अत्यन्त उदासीन भाव से घर में रहता है। उसका चित्त अपनी आत्मा में ही लगा रहता है।

छांडै सब राग रु दोषा, धारै सामायिक पोषा।
कबहू न रत्त ह्वै घर में, ह्वै मगन त्रिया सों न रमें।।976।।

अर्थ :- ऐसा श्रावक राग-द्वेष आदि को छोड़ता है; सामायिक, प्रोषध आदि को धारण करता है, कभी भी अपने गृह में आसक्त नहीं होता है और नग्न होकर कभी भी स्त्री से रमण नहीं करता है।

मुख आदि विकारा जे हैं, छांडे नर ज्ञानी ते हैं।
इह त्रिय-सेवन विधि भाखी, बिन पाणिग्रह नहिं राखी।।977।।

अर्थ :- जो मनुष्य ज्ञानी हैं, विवेकी हैं; वे तो मुख आदि के अन्य विकारों को भी छोड़ देते हैं। इस प्रकार स्त्री-सेवन की विधि कही गई है। अपनी विवाहित स्त्री के अलावा अन्य सब स्त्रियों का त्याग करना चाहिए।

श्रावक व्रतधारि सुरपति ह्वै, सुरपति तें चय नरपति ह्वै।
पुनि मुनि ह्वै पावै मुक्ती, इह शील प्रभाव सु जुक्ती।।978।।

अर्थ :– श्रावक के व्रत धारण करके इन्द्र पद को प्राप्त करो। इन्द्र से मनुष्य पर्याय को प्राप्त करो। मुनिव्रत को धारण करके मुक्ति पद को प्राप्त करो। यह शील का प्रभाव एवं उत्तम युक्ति है।

नहिं शील सारिखौ कोई, दे सुरपुर शिवपुर होई।
जे बाल ब्रह्मचारी हैं, सम्यग्दर्शन धारी हैं।।979।।

तिनके सम है नहिं दूजा, पावै त्रिभुवन करि पूजा।
जे जीव कुशीले पापा, पावैं भव–भव संतापा।।980।।

अर्थ :– शील के समान और कोई महान व्रत नहीं है। यह स्वर्ग और मोक्ष को देने वाला है। जो बालब्रह्मचारी हैं, सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले हैं, उनके समान और कोई महान नहीं है। वे तीन लोक के जीवों के द्वारा पूजा को प्राप्त होते हैं। जो जीव कुशील पाप को धारण करते हैं, वे भव–भव में संताप – दुख को प्राप्त होते हैं।

व्यभिचारी तुल्य न होई, अपराधी जग में कोई।
ह्वै नरक निगोद निवासा, पापनि का अति दुख भासा।।981।।

अर्थ :– इस संसार में व्यभिचारी के समान कोई अपराधी नहीं है। उनका निवास नरक–निगोद में होता है। इस प्रकार इन पापों के दुखों को कहा है।

जेते जु अनाचारा हैं, व्यभिचार पिछै सारा हैं।
त्यागौ भविजन व्यभिचारा, पालौ श्रावक आचारा।।982।।

अर्थ :– व्यभिचार के कारण ही सारे अनाचार होते हैं। हे भव्य प्राणी! व्यभिचार छोड़कर श्रावक के व्रतों का पालन करो।

दोहा

मुख्य बारता यह भया, बाल ब्रह्मव्रत लेय।
जो यह व्रत धार न सके, तौ इक ब्याह करेय।।983।।

अर्थ :– हे भाई! मुख्य बात तो यह है कि बाल्यावस्था में ही ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करना चाहिए। जो जीव इस ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने में समर्थ नहीं हैं, उनको एक विवाह करना चाहिए।

दूजी नारी न जोग्य है, व्रतधारनि को वीर।
भोग समान न रोग है, इह धारै उर धीर।।984।।

अर्थ :– हे वीर! व्रतधारियों को दूसरी स्त्री योग्य नहीं है। हे धीर पुरुष! भोग–समान अन्य कोई रोग नहीं है। यह बात हृदय में धारण करना चाहिए।

जो अभिलाषा बहुत है, विषय–भोग की जाहि।
तौ विवाह औरहु करै, नहिं परदारा चाहि।।985।।

अर्थ :– जिन जीवों को विषय–भोग की अत्यन्त लालसा है, उनको विवाह कर लेना चाहिए; परन्तु पर–स्त्री की चाह कभी नहीं करनी चाहिए।

परदारा सम पाप नहिं, तीन लोक में और।
जे सेवे परनारि को, लहैं नरक में ठौर।।986।।

अर्थ :– तीन लोक में पर–स्त्री सेवन के समान और कोई पाप नहीं है। जो पर–स्त्री सेवन करते हैं, वे नरक में ही स्थान प्राप्त करते हैं।

नरक माहिं बहुत काल लों, दुख देवें अधिकाय।
वज्रागनि पुतलीनि सों, तिनको अंग तपाय।।987।।

अर्थ :– ऐसे जीवों को नरक में बहुत काल पर्यंत दूसरे नारकी बहुत दुख देते हैं। भयंकर गर्म की हुई पुतलियाँ उनके शरीर से चिपटाई जाती हैं।

जरि जरि तिनकी देह जो, जैसे को तैसो हि।
रहै सागरावधि तहां, दुख सहंता सोहि।।988।।

अर्थ :– नारकियों के शरीर के टुकड़े–टुकड़े हो जाते हैं, परन्तु फिर भी उनका शरीर जैसा का तैसा बन जाता है। सागरों पर्यंत वे नाना प्रकार के दुख भोगते हैं।

कहिवे में आवें नहीं, नरक–वास के कष्ट।
ते पावें पापी महा, पर–दारा तें दुष्ट।।989।।

अर्थ :– नरक के दुखों को कहने में कोई समर्थ नहीं है। पर–स्त्री सेवी दुष्ट पापी जीव ऐसे महान कष्ट भोगते हैं।

नारक के बहु कष्ट लहि, खोटै नर तिर होय।
जन्म– जन्म दुरगति लहैं, दुख देखैं अघ सोय।।990।।

अर्थ :– नरकों के बहुत कष्टों को भोगकर वे खोटे मनुष्य और तिर्यंच होते हैं और भव-भव में दुर्गतियों को प्राप्त करके नाना प्रकार के दुखों को सहते हुए पाप बंध करते हैं।

अर याही भव में सठा, अपजस दुख लहेय।
राजदण्ड परचंड अति, पावें पर-तिय सेय।।991।।

अर्थ :– पर-स्त्री सेवन करने वाले ये महामूर्ख इस भव में ही अपकीर्ति का दुख सहन करते हैं एवं भयंकर राज-दंड को भी भोगते हैं।

बेसरी छन्द

जग में धन वल्लभ है भाई, धन हू तें जीतव अधिकाई।
जीतव तें लज्जा है वल्लभ, लज्जा तें नारी नर दुल्लभ।।992।।

अर्थ :– हे भाई! संसार में धन सबसे प्यारा है। धन से जीवन अधिक प्यारा है। जीवन से लज्जा अधिक प्यारी है और लज्जा से भी स्त्री पर्याय एवं उससे भी मनुष्य पर्याय दुर्लभ है।

जे पापी परदारा सेवें, ते बहुतनि की लज्जा लेवें।
वैर बढ़ै जु बहु सेती वीरा, परदारा सेवें नहिं धीरा।।993।।

अर्थ :– जो पापी जीव पर-स्त्री सेवन करते हैं, वे बहुतों की (अन्य की माता-बहिनों की) लज्जा लूटते हैं। पर-स्त्री सेवियों का अनेक जीवों के साथ बैर-विरोध बढ़ता है। हे धीर! पर-स्त्री सेवन कभी नहीं करना चाहिए।

धन जीतव लज्जा जस माना, सर्व जाय या करि व्रत ज्ञाना।
कुलकों लागै बड़ो कलंका, या अघ खों निंदें अकलंका।।994।।

अर्थ :– पर-स्त्री सेवन करने से धन, जीतव्य, लज्जा और यश सभी नष्ट हो जाते हैं। कुल में बहुत बड़ा कलंक लगता है। कलंक-रहित महापुरुषों ने इस पाप की निंदा की है।

पर-नारी रत पापनि कों जै, दस वेगा उपजें मनसों जै।
चिन्ता अर देखन अभिलाषा, पुनि निसास नाखन भय भाषा।।995।।

काम-ज्वर होवै परकासा, उपजै दाह महादुख भासा।
भोजन की रुचि रहै न कोई, बहुरि महा मूरछा होई।।996।।

तथा होय सो अति उनमन्ता, अंध महा अविवेक प्रभन्ता।
जानौं प्राण रहन को संसै, अथवा छूटै प्राण निसंसै।।997।।

अर्थ :– पर-स्त्री-रत पापी जीवों के मन में दस प्रकार के वेग उत्पन्न होते हैं - 1. चिन्ता होना, 2. देखने की अभिलाषा, 3. निश्वास छोड़ना, 4. कामज्वर प्रकट होना, 5. महादुखदायक दाह का उत्पन्न होना, 6. भोजन की रुचि नहीं होना, 7. भयंकर मूर्च्छा होना, 8. अत्यन्त उन्मत्त हो जाना, 9. महान अविवेक से अंधे हो जाना, 10. प्राण रहने की भी शंका अथवा प्राण-विसर्जन करना।

कहे वेग ए दश दुखदाई, व्यभिचारी के उपजें भाई।
कौ लग वर्णन कीजै मित्रा, परदारा सेवें न पवित्रा।।998।।

अर्थ :– दुखदायक इन दस प्रकार के वेगों का कथन किया गया है। व्यभिचारी जीवों को ये वेग उत्पन्न होते हैं। हे मित्र! कहाँ तक इनका वर्णन करें। पवित्र जीवों को पर-स्त्री सेवन नहीं करना चाहिए।

यही पाप है मेरु समाना, और पाप है सरस्यूँ दाना।
याके तुल्य कुकर्म न कोई, सर्व दोष को मूल जु सोई।।999।।

अर्थ :– परस्त्री सेवन पाप मेरु के समान बहुत बड़ा है। अन्य पाप इसके सामने सरसों के दाने के बराबर हैं। सर्व दोषों के, सर्व पापों के मूल पर-स्त्री सेवन के समान अन्य कोई कुकर्म नहीं है।

नर ते ही पर-दारा त्यागें, नारी जे पर पुरुष न लागें।
सर्वोत्तम वह नारि जु भाई, ब्रह्मचर्य आजन्म धराई।।1000।।

अर्थ :– वे ही मनुष्य हैं, जो पर-स्त्री का त्याग करते हैं। वही स्त्री है, जो पर-पुरुष में अनुरक्त नहीं होती। हे भाई! आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाली स्त्री सर्वोत्कृष्ट मानी गई है।

व्याह करै नहिं जो गुणवन्ती, विषय-भाव त्यागै गुणवन्ती।
ब्राह्मी सुन्दरि ऋषभ-सुता जे, रहित विकार सुधर्म-रता जे।।1001।।

अर्थ :– जो विवाह का त्याग कर देती हैं, वे गुणवंती हैं। जो विषय-सुख का त्याग करती हैं, वे श्रेष्ठ हैं। आदिनाथ भगवान की पुत्री ब्राह्मी एवं सुंदरी दोनों बहिनों ने आजीवन विकार भावों को त्याग, ब्रह्मचर्य पूर्वक समीचीन धर्म को धारण करके आर्यिका व्रत का पालन किया।

चेटक पुत्री चंदनबाला, ब्रह्मचारिणी व्रत्त विशाला।
बहुरि अनंतमती अति शुद्धा, वणिक-सुता व्रत शील प्रबुद्धा।।1002।।

अर्थ :– चेटक राजा की पुत्री चंदनबाला ने बाल्यावस्था में अत्यन्त कठिन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। सेठ की पुत्री अनंतमती ने शीलव्रत का दृढ़ता से पालन किया।

इत्यादिक की रीति चितारै, निरमल निरदूषण व्रत पारै।
महा सती जाकै न विकारा, विषयनि ऊपरि भाव न डारा।।1003।।

अर्थ :– इस प्रकार इन शीलवंती नारियों ने निर्मल एवं निर्दोष रीति से इस व्रत का पालन किया। इन महासतियों ने विकार भावों को जीतकर विषय-सुख की तरफ तो दृष्टि ही नहीं डाली।

आतम तत्त्व लख्यौ निरवेदा, काम कल्पना सबै निषेदा।
पुरुष लखै सहु सुत अरु भाई, पिता समाना रंच न काई।।1004।।

अर्थ :– उन्होंने काम-विकार की कल्पना को छोड़कर वेद-रहित आत्मतत्त्व के दर्शन करने का पुरुषार्थ किया। अपने से बड़े पुरुषों को पिता-समान, अपने समान को भाई-समान और अपने से छोटे को पुत्र-समान जानकर व्रत को दृढ़ता से पाला।

धारै बाल ब्रह्मव्रत शुद्धा, गुरु परसाद भई प्रतिबुद्धा।
ऐसी समरथ नाहीं पावै, तो पातिव्रत वृत्त धरावै।।1005।।

अर्थ :– इन महासतियों ने बाल्यावस्था में ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया। गुरु-प्रसाद से प्रतिबुद्ध अवस्था को प्राप्त हुई। यदि यह व्रत धारण करने की सामर्थ्य नहीं है तो एक पतिव्रत (शीलव्रत) को धारण करना चाहिए।

मात पिता की आज्ञा लेती, एक पुरुष धारै विधि सेती।
परिग्रहण कर सो कुलवन्ती, पति की सेव करै गुणवन्ती।।1006।।
और पुरुष सहु पिता समाना, कै भाई पुत्रा करि माना।
मेघेश्वर राजा की राणी, तथा राम की राणी जाणी।।1007।।
श्रीपाल भूपति की नारी, इत्यादिक कीरति जु चितारी।
जग सों विरकत भाव प्रवर्तैं, औसर पाय सिताव निवर्तैं।।1008।।

अर्थ :– माता-पिता की आज्ञा लेकर, एक पुरुष का विधिपूर्वक वरण करना चाहिए। पाणिग्रहण संस्कार के माध्यम से जिसके साथ संबंध हुआ है, कुलवंती को उस पति की सेवा करनी चाहिए। अन्य सभी पुरुषों को उसे पिता, भाई और पुत्र के समान जानना चाहिए। मेघेश्वर (जयकुमार) राजा की रानी सुलोचना, राम की रानी सीता, श्रीपाल राजा की रानी मैनासुंदरी इत्यादिक शीलवती नारियों ने अपने शीलव्रत का दृढ़ता से पालन किया, जिससे इनका यश आज भी संसार में फैला हुआ है। संसार से विरक्त होकर अवसर पाकर उन नारियों ने आत्मकल्याण के कारणभूत आर्यिका व्रत ग्रहण किये।

मैथुन जो जाने पशु कर्मा, यह उत्तम नारिन को धर्मा।
तजि परिवार जु सम्यक्वंती, ह्वै आर्या तप संजमवन्ती।।1009।।

अर्थ :– उत्तम नारी मैथुन क्रिया को पशु–कर्म जानती है। सम्यग्दृष्टि नारियाँ परिवार को छोड़कर आर्यिका व्रत को ग्रहण करती हुई तप और संयम को धारण करती हैं।

ज्ञान विवेक विराग प्रभावै, स्त्रीपद छांड़ि स्वर्गपुर आवै।
सुरग माहिं उतकिष्टा सुर ह्वै, बहुत काल सुख लहि पुनि नर ह्वै।।1010।।

अर्थ :– ज्ञान, विवेक और वैराग्य के प्रभाव से वे नारियाँ स्त्री–पर्याय को छोड़कर स्वर्गपुरी को प्राप्त हुई हैं। स्वर्गों में भी उत्कृष्ट देव होकर, बहुत काल पर्यंत सुखों को भोगकर, फिर मनुष्य पर्याय प्राप्त करेंगी।

धारै महाव्रत्त निज ध्यावै, कर्म काटि शिवपुर को जावै।
शिवपुर सिद्धक्षेत्र कूं कहिये, और न दूजो शिवपुर लहिये।।1011।।

अर्थ :– यहाँ महाव्रतों को धारण करके अपनी आत्मा का ध्यान करेंगी। आत्मध्यान से कर्मों को काटकर शिवपुरी को जायेंगी। सिद्धक्षेत्र को ही शिवपुर कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई शिवपुर नहीं है।

शिव है नाम सिद्ध भगवन्ता, अष्टकर्म–हर देव अनन्ता।
भुक्ति मुक्तिदायक इह शीला, या धरवे में ना कर ढीला।।1012।।

अर्थ :– सिद्ध भगवान का नाम ही शिव है। आठ कर्मों का नाश कर अनन्तानन्त सिद्ध हुए हैं। यह महान शीलव्रत स्वर्गादि के अभ्युदय सुखों को एवं मुक्ति–सुख को दिलाने वाला है। इसलिए इस महान व्रत को धारण करने में ढील नहीं करनी चाहिए।

शील सुधारस पान करै जो, अजरामर पद कोय धरे जो।
शील बिना नारी धिग जन्मा, जन्म जन्म पावे हि कुजन्मा।।1013।।

अर्थ :– शीलरूपी अमृत–रस का जो पान करते हैं, वे अजर–अमर–अविनाशी पद को प्राप्त करते हैं। शीलव्रत के बिना नारी–जन्म को धिक्कार है। शीलव्रत के बिना वे भव–भव में कुगतियों में भ्रमण करती हैं।

रानी राव जशोधर केरी, शील बिना आपद बहुतेरी।
लही नरक में तातैं त्यागौ, कदै कुशील पंथ मति लागौ।।1014।।

अर्थ :– यशोधर राजा की रानी ने शीलव्रत के बिना अनेक दुख प्राप्त किये और नरक गति को प्राप्त हुई; इसलिए कभी भी कुशील सेवन नहीं करना चाहिए, उसका त्याग ही करना चाहिए।।

शील समान न धर्म जु होइ, नाहिं कुशील समौ अघ कोई।
जे नर नारि शीलव्रत धारे, ते निश्चय परब्रह्म निहारें।।1015।।

अर्थ :– शील के समान अन्य कोई धर्म नहीं है और कुशील के समान अन्य कोई पाप नहीं है। जो भी पुरुष एवं स्त्री शीलव्रत को धारण करते हैं, वे नियम से परब्रह्म रूप आत्मा का दर्शन करते हैं।

त्यागे दशों दोष व्रतवन्ता, ते सुनि एकचित्त करि सन्ता।
अंजन मंजन बहु सिंगारा, करना नहीं व्रतिन कों भारा।।1016।।

अर्थ :– व्रतधारियों को शील संबंधी दस दोषों का त्याग करना चाहिए। एकाग्रचित्त होकर उन दोषों को सुनो। व्रतधारियों को अंजन (नेत्रों में), मंजन (दाँत आदि के) और नाना प्रकार के शृंगार नहीं करने चाहिए।

तजिवो तिनको अशन गरिष्ठा, अर तजिवौ संसर्ग सपष्टा।
नर कों नारी को संसर्गा, नारिन को उचित न परवर्गा।।1017।।

अर्थ :– शीलव्रत–धारियों को गरिष्ठ भोजन का त्याग करना चाहिए। पुरुष–वर्ग को महिलाओं से संपर्क नहीं करना चाहिए और स्त्री–वर्ग को पुरुष–वर्ग का संपर्क नहीं करना चाहिए।

ह्वै संसर्ग थकी जु विकारा, अर तजिवौ तौर्यत्रिक सारा।
तौर्यत्रिक को अर्थ जु भाई, गीत नृत्य बाजित्र बजाई।।1018।।

अर्थ :– संसर्ग–सम्पर्क में आने से विकार उत्पन्न हो सकते हैं। गीत गाना, नृत्य करना और वादित्र बजाने रूप तीन क्रियाओं का त्याग करना चाहिए।

मुनि को इनतें कछुहु न कामा, श्रावक के पूजा विश्रामा।
करे जिनेश्वर पद की पूजा, जिन प्रतिमा बिन और न दूजा।।1019।।

अर्थ :– मुनिराज का तो इन क्रियाओं से कोई प्रयोजन ही नहीं है। श्रावक जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं। जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के अतिरिक्त और किसी की पूजा नहीं करनी चाहिए।

अष्टद्रव्य से पूजा करई, तहाँ गीत वादित्र जु धरई।
नृत्य करै प्रभुजी के आगे, जिनगुन में भविजन मन लागै।।1020।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान की पूजा अष्ट द्रव्य से करनी चाहिए। वह गीत, वादित्र सहित करनी चाहिए। भव्य प्राणी जिनेन्द्र भगवान के गुणों में लीन होते हुए, जिन–प्रभु के सामने नृत्य आदि भी करते हैं।

और न सिंगारादिक गावै, केवल जिनपद सों उर लावै।
नारी–विषयनि को संकलपा, तजिवौ बुध को सर्व विकलपा।।1021।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान के गुणों को हृदय में धारण कर ही उपर्युक्त क्रियायें करनी चाहिए। श्रृंगार आदि के गीत नहीं गाने चाहिए। बुद्धिमानों को सर्व विकल्पों को छोड़कर स्त्री–विषयक किसी भी बात का विचार नहीं करना चाहिए।

अंग–उपंग निरखनों नाहीं, जो निरखै तो दोष धराहीं।
सतकारादिक नारी जन सों, करनों नाहीं मन–वच–तन सों।।1022।।

अर्थ :– स्त्रियों के अंग–उपांगों की तरफ देखना ही नहीं चाहिए। जो इन अंगों की तरफ दृष्टि डालते हैं; उनके शीलव्रत में दूषण लगता है। मन, वचन और काय से कभी स्त्री–वर्ग का सम्मानादिक (प्रशंसा आदि) नहीं करना चाहिए।

पूरव भोग–विलास न चितवौ, अर आगामी वांछा हरिवौ।
सुपनें हु नहिं मनमथ कर्मा, ए दश दोष तजै व्रत धर्मा।।1023।।

अर्थ :– पूर्व में भोगे हुए भोग–विलास का चिंतन नहीं करना चाहिए। भविष्य में अर्थात् आगामी काल में भोगों की वांछा नहीं करनी चाहिए। स्वप्न में भी काम–भोग संबंधी क्रिया नहीं होनी चाहिए। शीलव्रत–धारी धार्मिक जनों को इन दसों दोषों का त्याग करना चाहिए।

व्रत नहिं शील बराबर कोई, जिनशासन की आज्ञा होई।।1024।।

अर्थ :– शील के बराबर और कोई महान व्रत नहीं है। यही जिनशासन की आज्ञा है।

उक्तं च श्री ज्ञानार्णव मध्ये –

'ज्ञानार्णव' में दस दोषों का कथन इस प्रकार है –

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम्।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते।।1।।
योषिद्विषसंकल्पं, पंचमं परिकीर्तितम्।
तदंगवीक्षणं षष्ठं सत्कारः सप्तमो मतः।।2।।

पूर्वानुभूतसंभोगः, स्मरणं स्यात्तदष्टमम्।
नवमे भवानी चिन्ता, दशमे वस्तिमोक्षणम्।।3।।

अर्थ :– 1. शरीर संस्कार अर्थात् शृंगारादि करना (इत्र, तेल, फुलेल, अंजन, स्नान आदि), 2. कामोत्पादक गरिष्ठ रसों का सेवन, 3. गाना, नाचना और वादित्र बजाना, 4. स्त्री–वर्ग का संपर्क करना, 5. स्त्री में किसी प्रकार का संकल्प का विचार करना, 6. स्त्रियों के अंग–उपांगों को राग–भाव से देखना, 7. स्त्री–वर्ग का सन्मान–सत्कार आदि करना, 8. पूर्व में किये हुए संभोग का स्मरण करना, 9. भविष्य के लिए भोगों की चिन्ता करना (वांछा) और 10. शुक्र का क्षरण। इस प्रकार मैथुन के दस भेद हैं। इन्हें ब्रह्मचारी को सर्वथा त्यागना चाहिए।

कवित्त

तिय–थल–वासि प्रेम रुचि निरखन, देखि रीझ भाषत मधु बैन।
पूरव भोग केलिरस चितवन, गुरु व अहार लेत चित चैन।।
करि सुचि तन सिंगार बनावत, तिय परजंक मध्य सुख सैन।
मनमथ कथा उदर भरि भोजन, ए नव वाड़ि जानि मत जैन।।1025।

अर्थ :– 1. स्त्रियों के स्थान पर रहना, 2. प्रेमपूर्वक उनके शरीर को देखना, 3. उनको देखकर रिझाने के लिए मधुर वचन बोलना, 4. पूर्व में भोगे हुए भोगों का एवं तज्जन्य आनन्द का चिंतन करना, 5. कामवर्धक गरिष्ठ पदार्थों का सेवन करके आनंद – सुख मानना, 6. शरीर को स्नान आदि से पवित्र करके नाना प्रकार के शृंगार करना, 7. स्त्रियों के पर्यंक (पलंग – बिस्तर) पर बैठना, उठना और सोना, 8. काम–भोग की कथा करना एवं 9. पेट भर गरिष्ठ भोजन करना। जैनमत में शीलव्रत की ये नौ बाड़ हैं। शीलव्रत–धारियों को इनका स्वरूप समझ कर, इन बातों का त्याग करना चाहिए।

दोहा

अतीचार सुनि पाँच अब, सुनि करि तजि वर वीर।
जब चौथो व्रत शुद्ध ह्वै, इह भाषें मुनि धीर।।1026।।

अर्थ :– हे भाई! अब इस ब्रह्मचर्य व्रत के पाँच अतीचारों को सुनकर इनका त्याग करना चाहिए। अतीचारों का त्याग करने से ही व्रत का निर्दोष पालन होता है। ऐसा धीर वीर मुनिराजों ने कहा है।

ब्याह सगाई पार को, किरिया अव्रत पोष।
शीलवन्त नर नहिं करै, जिन त्यागे सहु दोष।।1027।।

अर्थ :– दूसरों का ब्याह अथवा सगाई कराने से इस व्रत में दोष लगता है। शीलवंत पुरुष ऐसा काम नहीं करते हैं। इन कामों को छोड़ने से बहुत–से दोष छूट जाते हैं।

इत्वरिका कुलटा त्रिया, ताकी है द्वै जाति।
परिग्रहीता एक है, जाके सामिल खाति।।1028।।

अर्थ :– कुलटा स्त्रियों की जाति दो प्रकार की है। एक परिगृहीता अर्थात् इत्वरिका। पति सहित व्यभिचारिणी स्त्री है, जिसके पास आना–जाना, लेन–देन रखना, रागभाव पूर्वक बातचीत करना, खान–पान आदि का व्यवहार होता है।

अपरिग्रहीता दूसरी, जाके स्वामि न कोय।
ए इत्वरिका द्वै विधा, पर पुरुषा–रत होय।।1029।।

जिन सों रहनों दूर अति, तिनकों संग तजेय।
तिन सों संभाषण नहीं, तबै जनम सुधरेय।।1030।।

अर्थ :– दूसरी अपरिगृहीता स्त्री होती है, जिसका कोई एक पति नहीं होता है। इस प्रकार इत्वरिका दो प्रकार की होती है। जो पर–पुरुष में आसक्त हैं, उनसे अत्यन्त दूर रहना चाहिए अर्थात् उनकी संगति नहीं करनी चाहिए। उनसे संभाषण (बोल–चाल) भी नहीं करना चाहिए, तभी अपना भव सुधर सकता है।

गमन करै नहिं वा तरफ, विचरै तहाँ न नारि।
डारि नारि को नेह नर, धरै व्रत्त अघ टारि।।1031।।

अर्थ :– जहाँ ऐसी स्त्रियाँ निवास करती हैं, वहाँ गमनागमन अर्थात् विचरण भी नहीं करना चाहिए। पुरुषों को नारी का स्नेह छोड़कर पाप का नाश करने वाला व्रत ग्रहण करना चाहिए।

तजि अनंग क्रीड़ा सबै, क्रीड़ा अघ की एहि।
मदन मारि मन जीति कर, ब्रह्मचर्य व्रत लेहि।।1032।।

अर्थ :– काम–सेवन के अंगों को छोड़कर अन्य अंगों से की जाने वाली सर्व प्रकार की क्रीड़ाओं का त्याग करना चाहिए; क्योंकि यह क्रीड़ा भी पापोत्पादक है। कामदेव को मारकर एवं मन को वश में करके ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिए।

निज नारी हूतें सुधी, करै न अधिकी प्रीति।
भाव तीव्र नहिं काम के, धरै कर्म की रीति।।1033।।

अर्थ :– हे बुद्धिमान! स्व-स्त्री के साथ ही अधिक राग नहीं करना चाहिए। तीव्र राग परिणाम अनर्थकारी है। धर्म की रीति को धारण करना चाहिए।

कहै अतिक्रम पंच ए, इनमें भला न कोय।
ए सब ही तजि या थकी, शील निर्मला होय।।1034।।

अर्थ :– इन पाँच अतीचारों में कोई भी अतीचार अच्छा नहीं है। इन सब अतिचारों का त्याग करने से ही शीलव्रत का निर्दोष पालन होता है।

नीली सेठ-सुता शुभा, शील व्रत्त परसाद।
देवनि करि पूजा लही, दूरि भयो अपवाद।।1035।।

अर्थ :– नीली नामक सेठ की लड़की शीलव्रत के प्रभाव से देवों के द्वारा पूजा को प्राप्त हुई एवं उसका अपवाद दूर हुआ।

शील प्रभावै जय-प्रिया, शुभ सुलोचना नारि।
लही प्रशंसा सुरनि करि, सम्यग्दर्शन धारि।।1036।।

अर्थ :– शील के प्रभाव से जयकुमार की रानी सुलोचना सम्यग्दर्शन को धारण करती हुई देवों के द्वारा प्रशंसा - सम्मान को प्राप्त हुई।

शील-प्रभावै राम की, जनकसुता शुभ भाव।
पूज्य सुरासुर नरनि करि, भये जगत की नाव।।1037।।

अर्थ :– शील के प्रभाव से राम की रानी, जनक राजा की लड़की सीता शुभ भाव को प्राप्त होती हुई सुर, असुर एवं मनुष्यों के द्वारा पूजा को प्राप्त हुई।

सेठ विजय अर सेठनी, विजया शील प्रसाद।
भई प्रशंसा मुनिन करि, भये रहित परमाद।।1038।।

अर्थ :– शील के प्रभाव से विजय सेठ एवं विजया सेठानी अप्रमत्त मुनिराज के द्वारा प्रशंसा को प्राप्त हुए।

शुक्ल पक्ष अर कृष्ण पक्ष, धारि शील व्रत तेहि।
तीन लोक पूजित भये, जिन आज्ञा उर लेहि।।1039।।

अर्थ :– शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष, दोनों पक्षों में जो शीलव्रत धारण करते हैं, वे तीन लोक के प्राणियों के द्वारा पूजा को प्राप्त होते हैं। जिनेन्द्र भगवान की इस आज्ञा को हृदय में धारण करना चाहिए।

सेठ सुदर्शन आदि बहु, सीझे शील-प्रताप।
नमस्कार या व्रत्त कों, जो मेटै भव-ताप।।1040।।

अर्थ :- सेठ सुदर्शन आदि बहुत जीवों ने शील की महिमा को प्राप्त किया। संसार-ताप नाशक इस व्रत को सदैव नमस्कार करो।

जे सीझे ते शील करि, और न मारग कोय।
जनम जरा मरणादि को, नाशक यह व्रत होय।।1041।।

अर्थ :- शील के प्रभाव से जीव संसार से पार होते हैं और अन्य कोई मार्ग नहीं है। जन्म-जरा-मरण का नाशक यह व्रत है।

धरि कुशील बहु पापिया, पड़ते नरक मँझार।
तिनको को निरणय करै, कहत न आवै पार।।1042।।

अर्थ :- कुशील को धारण करके अनेक पापी जीव नरक गति को प्राप्त होते हैं। उनके दुखों का निर्णय कौन करे? इनके दुखों का कथन अपार है।

रावण खोटे भाव धरि, गये अधोगति माहिं।
धवल सेठ नरकें गयो, यामें संशय नाहिं।।1043।।

अर्थ :- रावण-सदृश प्रतिनारायण भी खोटे भाव को धारण करने से नीची गति को प्राप्त हुआ। धवल सेठ भी नरक में गया। इसमें कोई संशय नहीं है।

कोटपाल जमदंड शठ, करि कुशील अति पाप।
गयो नरक की भूमि में, लहि राजातें ताप।।1044।।

अर्थ :- महामूर्ख यमदण्ड कोतवाल कुशील-सेवन पाप के फलस्वरूप नरक की भूमि को प्राप्त हुआ एवं राजा के द्वारा महान ताप, पीड़ा या दंड को प्राप्त हुआ।

बहुरि हुतौ जमदंड इक, कोटपाल गुणवन्त।
नीति धर्म परभाव तें, पायौं जस जयवन्त।।1045।।

अर्थ :- एक और गुणवान यमदण्ड नामक कोतवाल हुआ, जो धर्म-नीति के प्रसाद से यश को प्राप्त होता हुआ जयवन्त हुआ।

सर्व गुणां हैं शील में, अरु कुशील में दोष।
नाहिं कुशील समान कोउ, और पाप को पोष।।1046।।

अर्थ :– शील में सर्व प्रकार के गुण हैं और कुशील में दोष हैं। पाप को पुष्ट करने वाला कुशील के समान अन्य कोई नहीं है।

इन दोउनि के गुण अगुण, कहत न आवै थाह।
जाने श्री जिनराय जू, केवल रूप अथाह।।1047।।

अर्थ :– शील के गुणों और कुशील के दोषों को कहने में पार नहीं पा सकते। इनके गुणों एवं दोषों को केवलज्ञानी जिनराज ही जानते हैं।

महिमा शील महंत को, कहैं महा गणधार।
भाषै श्री जिन भारती, रटै साधु भव तार।।1048।।

अर्थ :– शीलव्रत की महिमा का वर्णन, गणधरों ने इसे महान व्रत कहकर किया है। ऐसा श्री जिनवाणी भी कहती है। जिसको रट (अपना) कर साधु संसार–सागर से पार उतरते हैं।

सरवारथसिधि के महा, अहमिन्द्रा परवीन।
गावें गुण व्रत शील के, जै अनुभव रसलीन।।1049।।

अर्थ :– सर्वार्थसिद्धि के महान प्रवीण अहमिन्द्र देवों ने भी शीलव्रत की महिमा गाई है। वे देव निरन्तर निजानुभव में ही लीन रहते हैं।

कहैं कीर्ति इन्द्रादि का, जपें सुजस जोगीन्द्र।
लौकान्तिक वरणन करें, रटें नरिन्द्र फणीन्द्र।।1050।।

अर्थ :– इन्द्रादि भी इस व्रत की महिमा का कथन करते हैं। योगीन्द्र भी इसकी सुकीर्ति बखान करते हैं। लौकान्तिक देव भी इसकी महिमा का वर्णन करते हैं और नरेन्द्र व फणीन्द्र भी इसकी महिमा गाते हैं।

चन्द्र सूर सुर असुर खग, महिमा शील करैय।
सूरि सन्त अध्यापका, मन वच काय धरेय।।1051।।

अर्थ :– चन्द्र (ज्योतिषी इन्द्र), सूर्य (प्रतीन्द्र) सुर, असुर और विद्याधर शील की महिमा गाते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु मन, वचन और काया से इस व्रत को धारण करते हैं।

हम से अलपमती कहो, कैसें गुण वरणेह।
नमों नमों व्रत शील कों, रहैं ऋषि शरणेह।।1052।।

अर्थ :– हमारे समान अल्पबुद्धि धारक इस महान शीलव्रत के गुणों का कैसे वर्णन करें? जो

ऋषि-मुनियों की शरण में रहता है - ऐसे महान शीलव्रत को बारम्बार नमस्कार हो।

दया सत्य अस्तेय अर, शीलै करि परणाम।
भाषों पंचम व्रत्त जो, परिग्रह त्याग सुनाम।।1053।।

अर्थ :- दया (अहिंसा), सत्य, अचौर्य और शीलव्रत का वर्णन करने के बाद अब परिग्रहत्याग नामक पाँचवें व्रत का कथन करता हूँ।

।। इति चतुर्थ व्रत निरूपणम् ।।

।। अथ परिग्रहत्याग व्रत वर्णन ।।

इन चारनि बिन ना हुवै, परिग्रह के परिहार।
परिग्रह के परिहार बिन, नहिं पावे भव-पार।।1054।।

अर्थ :- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील - इन चारों के त्याग बिना परिग्रह का त्याग नहीं होता है। परिग्रह के त्याग बिना प्राणी संसार-समुद्र से पार नहीं होता है।

मुनिकों, सर्वहि त्यागवौ, अंतर बाहिज-संग।
धर्म अकिंचन धारिवौं, करिवौ तृष्णा-भंग।।1055।।

अर्थ :- मुनिराज अंतरंग और बहिरंग सर्व प्रकार के परिग्रह के त्यागी होते हैं। वे तृष्णा को छोड़कर आकिंचन धर्म को धारण करते हैं।

अपने आतमभाव विनु, जो पररूपा वस्त।
सो परिग्रह भाषौ सुधी, ताको त्याग प्रशस्त।।1056।।

अर्थ :- अपने आत्मभाव के अतिरिक्त जो वस्तु पर-रूप है, वह सब परिग्रह है। ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है, इसलिए इस परिग्रह का त्याग करना उत्तम है।

सर्व भेद चउबीस हैं, चउदस अर दस भेलि।
अंतर बाहिज संग ये, दुरगति फल की बेलि।।1057।।

अर्थ :- परिग्रह के कुल 24 भेद हैं। अंतरंग परिग्रह के 14 एवं बहिरंग परिग्रह के 10 भेद हैं। ये परिग्रह दुर्गतिरूपी फल की बेल-समान हैं अर्थात् परिग्रह से दुर्गति की प्राप्ति होती है।

परिग्रह द्वैविध त्यागिये, तब लहिये निज भाव।
ब्रह्मज्ञान के शत्रु ये, नरक निगोद उपाय।।1058।।

अर्थ :– दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग करने से आत्मभाव की प्राप्ति होती है। ये परिग्रह आत्मज्ञान के शत्रु हैं अर्थात् परिग्रहधारी को आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। ये परिग्रह नरक-निगोद के उपाय हैं अर्थात् इनसे नरक-निगोद की प्राप्ति होती है।

अंतरंग परिग्रह तनें, भेद चतुर्दश जान।
मिथ्यात्वादिक जो सबै, जिन आज्ञा उर आन।।1059।।

अर्थ :– अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद जानने चाहिए। जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को हृदय में धारण करके मिथ्यात्व आदि अंतरंग परिग्रह को छोड़ना चाहिए।

राग द्वेष मिथ्यात अर, चउ कषाय क्रोधादि।
षट् हास्यादिक वेद पुनि, चउदस भेद अनादि।।1060।।

अर्थ :– राग, द्वेष, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद (तीनों) - ये 14 प्रकार के अंतरंग परिग्रह अनादि से कहे गये हैं।

राग कहावै प्रीति अरु, द्वेष होइ अप्रीति।
राग दोष तज भव्य जन, धरै धर्म की रीति।।1061।।

अर्थ :– राग से प्रीति, द्वेष से अप्रीति (बैर) रूप भाव होते हैं। इसलिए भव्य प्राणियों को राग और द्वेष - इनका त्याग करके धर्म भाव धारण करना चाहिए।

जहाँ तत्त्व श्रद्धा नहीं, सो मिथ्यात कहाय।
जड़ चेतन को ज्ञान नहीं, भर्मरूप दरसाय।।1062।।

अर्थ :– तत्त्व के अश्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं। जिनको जड़ और चेतन का ज्ञान नहीं है, उनको तत्त्वों में भ्रम होता है।

क्रोध मान चउ लोभ ये, चउ-कषाय बलवन्त।
हतिये ज्ञान सुबानतें, लहिये भाव अनन्त।।1063।।

अर्थ :– क्रोध, मान, माया और लोभरूप चारों कषायें बलवान हैं। अपने सुज्ञान रूपी बाण के द्वारा इन चारों कषायों का नाश करके आत्मा के अनन्त भावों को प्राप्त करना चाहिए।

हास्य अरति अरु शोक भय, बहुरि ग्लानि बखान।
तजिये षट् हास्यादि का, मोह प्रकृति दुखदानि।।1064।।

अर्थ :– हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा - इन छह नोकषायों को छोड़ना चाहिए; क्योंकि मोहनीय कर्म दुखदायी है।

वेद भेद हैं तीन पुनि, पुरुष नपुंसक नारि।
चेतन तें न्यारै लखौ, जिनवानी उर धारि।।1065।।

अर्थ :– जिनवाणी को हृदय में धारण करके पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद को अपनी आत्मा से भिन्न समझो।

एक समय इक जीव के, उदय होय इक वेद।
तातें गनिये वेद इक, यह गावें निरवेद।।1066।।

अर्थ :– एक जीव के एक समय में एक ही वेद का उदय होता है, इसलिए वेद रहित जीवों ने सामान्य से एक ही वेद को 14 अंतरंग भेदों में गिना है।

संख असंख अनंत हैं, इनि चउदह के भेद।
अन्तरंग ये संग तजि, करिये कर्म विछेद।।1067।।

अर्थ :– इन 14 प्रकार के अंतरंग परिग्रहों के प्रत्येक के संख्यात, असंख्यात और अनंत भेद भी होते हैं। इन 14 अंतरंग परिग्रहों को छोड़कर कर्म–नाश हेतु उद्यम करो।

अन्तर संग तजे बिना, होइ न सम्यक् ज्ञान।
विना ज्ञान लोभ न मिटै, इह भाषें भगवान।।1068।।

अर्थ :– अंतरंग परिग्रह का त्याग किये बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता है और सम्यग्ज्ञान के बिना लोभ कषाय का नाश नहीं होता है। ऐसा भगवान ने कहा है।

अब सुनि बाहर संग जे, दसधा ह्वैं दुखदाय।
मुनि नें त्यागे सर्व ही, दीये दोष उड़ाय।।1069।।

अर्थ :– अब दस प्रकार के बहिरंग परिग्रहों को सुनो, जो दुखदायी हैं। मुनिराजों ने इस सर्व परिग्रहों को छोड़कर सब दोषों का नाश कर दिया है।

क्षेत्र वास्तु चौपद द्विपद, धान्य द्रव्य कुप्यादि।
भाजन आसन सेज ये, दस परकार अनादि।।1070।।

अर्थ :– क्षेत्र, वास्तु, चौपद (चार पैर वाले – चेतन, अचेतन), द्विपद (दो पैर वाले), धान्य, द्रव्य (धन), कुप्यादि (वस्त्र आदि), भाजन (बर्तन), आसन और शय्या – ये दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह अनादिकाल से हैं।

तजें संग चउबीस सहु, भजें नाथ चउबीस।
सजें साज शिवलोक कों, सबमें बड़े मुनीस।।1071।।

अर्थ :– इन चौबीस प्रकार के सर्व परिग्रहों का त्याग करके चौबीस तीर्थंकरों की भक्ति करनी चाहिए। सबसे बड़े परिग्रह त्यागी मुनिराज होते हैं। वे ही मोक्षपुरी को प्राप्त होते हैं।

मूर्च्छा ममता सहु तजी, तृष्णा दई उड़ाय।
नगन दिगम्बर भव तिरें, धरें न बहुरी काय।।1072।।

अर्थ :– जिन्होंने मूर्च्छा, ममता छोड़कर तृष्णा को भी तिलांजलि दे दी है – ऐसे नग्न दिगम्बर मुनि ही भवसागर से पार होते हैं। आगे वे प्राय: नवीन शरीर का धारण नहीं करते हैं।

श्रावक के ममता अलप, बहु तृष्णा कों त्याग।
राग नहीं पर द्रव्य सों, एक धर्म को राग।।1073।।

अर्थ :– व्रती श्रावकों के थोड़ी ममता होती है और अधिक तृष्णा का त्याग होता है। उनको पर–द्रव्यों से रागभाव नहीं होता है, मात्र धर्म से ही राग होता है।

धरम हेत खरचै दरव, गर्व नाहिं मन माहिं।
सर्व जीव सों मित्रता, दुराचारता नाहिं।।1074।।

अर्थ :– वे धर्म–प्रभावना हेतु धन खर्चते हैं। उनके मन में मान कषाय नहीं होती। वे सभी जीवों से मैत्री भाव रखते हैं। उनके मन में दुष्टता – दुराचारीपना नहीं होता।

जीव दया के कारणें, तजो बहुत आरम्भ।
परिग्रह को परिमाण करि, तजौ सकल ही दम्भ।।1075।।

अर्थ :– जीव–दया के पालन हेतु बहुत आरंभ का त्याग करो। परिग्रह का परिमाण – सीमा करके सर्व प्रकार के आडम्बर का परित्याग करो।

लोभ लहरि मेटी जिनौ, धरियो धर्म संतोष।
ते श्रावक निरदोष हैं, नहीं पाप को पोष।।1076।।

अर्थ :– जिन्होंने लोभरूपी लहर मिटा कर संतोषरूपी धर्म को धारण किया है, वे श्रावक निर्दोष हैं। ऐसे श्रावक बहुत प्रकार के पापों का पोषण नहीं करते।

क्षेत्र आदि दस संग को, कियौ तिने परिणाम।
राख्यौ परिग्रह अलप ही, तिन सम और न जाण।।1077।।

अर्थ :– क्षेत्र आदि दस प्रकार के परिग्रहों का परिमाण करके जिन्होंने अल्प परिग्रह रखा है, उनके समान और कोई नहीं है।

कह्यौ परिग्रह दस विधा, बहिरंगा जे वीर।
तिनके भेद सुनूं भया, भाखे मुनिवर धीर।।1078।।

अर्थ :– बहिरंग परिग्रह दस प्रकार के कहे हैं। उनके और भेदों को सुनो; जो धीर-वीर मुनिराजों ने कहे हैं।

चौपाई

क्षेत्र परिग्रह खेत बखान, जहाँ ऊपजै धान्य निधान।
वास्तु कहावै रहवा तना, मंदिर हाट नौहरा बना।।1079।।

अर्थ :– क्षेत्र परिग्रह से खेत कहा गया है, जहाँ धान्य उत्पन्न होता है। वास्तु परिग्रह से रहने का घर, महल, हाट (दुकान) और नौहरा (बाड़ा) आदि को लिया गया है।

हस्ती घोटक ऊँट रु आदि, गाय बलध महिषी इत्यादि।
होय राखणों जो तिरजंच, चौपद परिग्रह जानि प्रपंच।।1080।।

अर्थ :– हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाय, बैल, भैंस आदि जितने भी तिर्यंच जीवों को रखते हैं; उन सबको चौपद परिग्रह का विस्तार समझना चाहिए।

द्विपद परिग्रह दासी दास, पुत्र कलत्रादिक परकास।
धान्य कहावे गेहूँ आदि, जीवन जन को अन्न अनादि।।1081।।

अर्थ :– द्विपद परिग्रह से दासी, दास, पुत्र, कलत्र आदि ग्रहण करना चाहिए। धान्य परिग्रह से गेहूँ आदि को ग्रहण किया है। अन्न प्राणीमात्र के जीवन का आधार अनादिकाल से है।

धन कनकादिक सब ही धात, चिन्तामणि आदिक मणि जात।
चौवा चन्दन अगर सुगन्ध, अतर अगरजा आदि प्रबन्ध।।1082।।

तेल फुलेल घृतादिक जेह, बहुरि वस्त्र सब भाँति कहेह।
ये सब कुप्य परिग्रह कहे, संसारी जीवनि ने गहे।।1083।।

अर्थ :– धन-परिग्रह से धन एवं सुवर्ण आदि सर्व प्रकार की धातुओं को ग्रहण किया है। चिन्तामणि आदि सर्व प्रकार के मणि, रत्नों आदि को भी इसी में लिया गया है। चोआ, चंदन, अगरु, सुगन्ध, इत्र, अर्गजा आदि सुगंधित पदार्थ, तैल, फुलेल, घृत आदि एवं भाँति-भाँति के वस्त्र - इन सबको कुप्य परिग्रह में ग्रहण किया है। इन परिग्रहों को संसारी जीवों ने ग्रहण किया है।

भाजन नाम जु बासन होय, धातु पषाणा काठ के कोय।
माटी आदि कहाँ लग कहैं, साधन भाजन ए कहु गहें।।1084।।

अर्थ :– भाजन नाम बर्तन का है। बर्तन से धातु, पाषाण, लकड़ी और मिट्टी आदि सब प्रकार के बर्तनों को लेना चाहिए।

आसन बैठन के बहु जान, सिंघासन प्रमुखा परवान।
गद्दी गिलम आदि जेतेक, त्यागौ परिग्रह धारि विवेक।।1085।।

अर्थ :– आसन परिग्रह के बैठने के अनेक प्रकार के आसनों को ग्रहण करना चाहिए। इन आसनों में सिंहासन प्रमुख है। गद्दी–कालीन आदि जितने भी परिग्रह हैं, विवेकपूर्वक उन परिग्रहों को छोड़ना चाहिए।

सज्या नाम सेज को कह्यौ, भूमि–शयन मुनिराजनि गह्यौ।
ए दशधा परिग्रह द्वय रूप, कैइक जड़ कैड़क चिद्रूप।।1086।।

अर्थ :– सेज परिग्रह से शय्या को ग्रहण करना चाहिए। मुनिराज भूमि–शयन करते हैं। ये दश प्रकार के परिग्रह दो प्रकार के होते हैं। कोई परिग्रह चेतन और कोई परिग्रह अचेतन हैं।

द्विपद चतुष्पद आदि सजीव, रतन धातु वस्त्रादि अजीव।
अपने आतम तें सब भिन्न, परिग्रह तें ह्वै खेद जु खिन्न।।1087।।

अर्थ :– द्विपद–चतुष्पद आदि सजीव परिग्रह हैं। रतन, धातु, वस्त्र आदि अजीव परिग्रह हैं। ये सब परिग्रह अपनी आत्मा से भिन्न हैं। परिग्रह से सब दुखी रहते हैं।

है परिग्रह चिन्ता के धाम, इनकों त्याग लहैं शिवठाम।
जिनवर चक्री हलधर धीर, कामदेव आदिक वर वीर।।1088।।

तजि परिग्रह धारें मुनिरूप, मुनि सम और न धर्म अनूप।
मुनि होवे की शक्ति न होय, श्रावक व्रत धारै नर सोय।।1089।।

अर्थ :– परिग्रह चिंता का स्थान है। परिग्रह का त्याग करने से मोक्षस्थान की प्राप्ति होती है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, कामदेव आदि सभी महापुरुषों ने परिग्रह का त्याग करके मुनिपना धारण किया है। मुनिधर्म के समान और कोई महान नहीं है। मुनिव्रत धारण करने की शक्ति न हो तो श्रावक के व्रतों को तो अवश्य धारण करो।

करै परिग्रह को परमाण, त्यागै तृष्णा सोहि सुजाण।
इह परिग्रह अति दुख को मूल, है सुखते अति ही प्रतिकूल।।1090।।

अर्थ :– तृष्णा का त्याग कर परिग्रह का परिमाण करो। ये परिग्रह गहन दुख की जड़ हैं। सभी परिग्रह सुख के प्रतिकूल हैं।

जैसे बेगारी सिर भार, तैसे यह परिग्रह अधिकार।
जेतौ थोरौ तेतौ चैन, यह आज्ञा गावैं जिन बैन।।1091।।

अर्थ :– जैसे मजदूर सिर पर बोझा ढोता है, वैसे ही परिग्रह भार-स्वरूप है। परिग्रह जितना कम हो, उतना सुख-आनंद है। जिनेन्द्र भगवान के ऐसे वचन और ऐसी आज्ञा है।

तातें अल्पारम्भी होय, अल्प परिग्रह धारे सोय।
ताहू को नित त्यागौ चहै, मन माहीं अति विरकत रहै।।1092।।

अर्थ :– इसलिए अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह रखो। रखे हुए अल्प आरंभ और परिग्रह को भी निरंतर छोड़ने की भावना करो एवं उनसे विरक्ति भाव रखो अर्थात् उनमें मूर्च्छा भाव मत रखो।

जैसे राहु केतु करि कान्ति, रवि शशि की ह्वै और हि भाँति।
तैसें परणति होय मलीन, आतम की परिग्रह करि दीन।।1093।।

अर्थ :– जैसे राहु और केतु के निमित्त से सूर्य और चन्द्र की कान्ति में मलिनता आती है, वैसे ही परिग्रह के कारण आत्मा की परिणति भी मलिन होती है।

ध्यान न उपजै या करि कबै, याहि तजें पावै शिव तबै।
समता को यह वैरी होय, मित्र अधीरपना को सोय।।1094।।

अर्थ :– परिग्रह के कारण कभी ध्यान की उत्पत्ति नहीं होती। परिग्रह का त्याग करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। परिग्रह समता का शत्रु है और अधीरपने का मित्र है।

मोह तनों विश्राम निवास, यातें भविजन रहहिं उदास।
नासै सुख कों सुभ तें दूर, असुभ भाव तें है परिपूरि।।1095।।

अर्थ :– परिग्रह मोह का विश्राम-स्थान है अर्थात् मोह को पैदा करने वाला है। इसलिए भव्य प्राणी परिग्रह से उदासीन रहते हैं। परिग्रह सुख का नाश करने वाला है, शुभ भावों से दूर करने वाला है और अशुभ भावों से परिपूर्ण है।

खानि पाप की दुख की रासि, रह्याँ आपदा को पद भासि।।1096।।

आरति रुद्र प्रकाशइ कंग, धर्म ध्यान का धरइ न संग।
गुण अनन्त धन धारयां चहै, सो परिग्रह तें दूरहि रहै।।1097।।

अर्थ :– परिग्रह पाप की खान है एवं दुख की राशिभूत है। परिग्रह को आपदा का स्थान कहा गया है। यह परिग्रह आर्त-रौद्र - इन खोटे ध्यानों को उत्पन्न करने वाला है। परिग्रह से

धर्मध्यान की प्राप्ति नहीं होती। हे भव्य जनो! अनन्त गुणरूपी धन को प्राप्त करना चाहते हो तो सर्व परिग्रहों से दूर ही रहो।

दोहा

लीला वनि दुरध्यान को, बहु आरम्भ सरूप।
आकुलता की निधि महा, संशय रूप विरूप।।1098।।

अर्थ :– यह परिग्रह का दुर्ध्यान लीला–वन अर्थात् क्रीड़ा–स्थली है, बहुत आरंभरूप है, आकुलता का कोष है, महान संशयरूप है और निज स्वरूप से सर्वथा भिन्न है।

मद को मंत्री काम घर, हेतु शोक को सोइ।
कलह तनों क्रीड़ा ग्रह, जनक वैर को होइ।।1099।।

अर्थ :– परिग्रह अभिमान का मंत्री है, काम–इच्छाओं का घर है। शोक का कारण है, कलह की क्रीड़ा–स्थली है और शत्रुता का जनक है।

धन्य घरी वह होयगी, जब तजियेगो संग।
या में बड़पन नाहिं कछु, महादोष को अंग।।1100।।

अर्थ :– वह घड़ी धन्य होगी, जब इन परिग्रहों का संग छूटेगा। इन परिग्रहों में कुछ भी बड़प्पन नहीं है। यह परिग्रह महा दोषकारी है।

हिंसादिक अपराध का, कारण मूल बखानि।
जनम जनम में जीव को, दुखदाई सो जानि।।1101।।

अर्थ :– यह परिग्रह हिंसादिक दोषों का प्रधान कारण है। यह परिग्रह जीव को जनम–जनम में दुख देने वाला है।

धिग धिग द्विविधा संग को, जो रोके शिव–संग।
चहुँ गति माहिं भ्रमाय करि, करै सदा सुख भंग।।1102।।

अर्थ :– दोनों प्रकार के परिग्रहों को धिक्कार हो, धिक्कार हो। ये मोक्ष–प्राप्ति में बाधक हैं तथा चारों गतियों में भ्रमण करा कर, सदैव सुख का नाश करने वाले हैं।

जो या में बड़पन गिनै, सो मूरख मति हीन।
परिग्रहवान समान नहिं, और जगत में दीन।।1103।।

अर्थ :– जो इन परिग्रहों को धारण कर अपने को बड़ा मानते हैं, वे मतिहीन हैं, मूढ़ हैं। इस

संसार में परिग्रही के समान और कोई दीन-गरीब नहीं है।

धन्य धन्य धरमज्ञ जे, या कूं तुच्छ गिनेय।
माया ममता मूरछा, सर्वारम्भ तजेय।।1104।।

यही भावना भाव तो, भविजन रहै उदास।
मन में मुनिव्रत की लगन, सो श्रावक जिनदास।।1105।।

अर्थ :- जो इन परिग्रहों को तुच्छ समझते हैं, वे धन्य-धन्य हैं; वे धर्म को जानने वाले हैं। वे भव्य जीव माया, ममता, मूर्च्छा, सर्व आरंभ-परिग्रह को छोड़कर संसार से उदासीन रहते हैं और उनके मन में मुनिव्रत धारण करने की लगन रहती है। वे ही सच्चे श्रावक जिनेन्द्र देव के सेवक माने गये हैं।

बहुरि विचारै सो सुधी, अगनि धरै गुण शीत।
जो कदापि तौहु न कबै, परिग्रहवान अभीत।।1106।।

अर्थ :- जैसे अग्नि शीतलता गुण को कभी धारण नहीं करती है, वैसे परिग्रहधारी कभी निर्भय नहीं रहता है। ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है।

काल कूट जो अमृता, होइ दैव संयोग।
नहिं तथापि सुख होय ये, इन्द्रिन के रस भोग।।1107।।

अर्थ :- कालकूट विष कदाचित् दैवयोग से अमृत बन जाये, परन्तु इन्द्रिय विषयों के रस को भोगने में कभी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

विषयनि में जे राचिया, ते रुलिहै भव-माहिं।
सुख है आतम-ज्ञान में, विषयमाहिं सुख नाहिं।।1108।।

अर्थ :- जो इन्द्रिय विषयों में रचे-पचे (लीन) रहते हैं, वे संसार में भटकते ही रहते हैं। आत्म-ज्ञान में सुख है। विषयों में रंचमात्र भी सुख नहीं है।

थिर ह्वै तड़ित प्रकाश जो, तौहु देह थिर नाहिं।
देह नेह करिवो वृथा, यह चितवै मन माहिं।।1109।।

अर्थ :- शायद तड़ित (आकाश में चमकने वाली विद्युत) का प्रकाश कभी स्थिर हो जावे तो भी यह शरीर स्थिर रहने वाला नहीं है। शरीर के प्रति राग करना व्यर्थ है। इस प्रकार का मन में चिंतवन करना चाहिए।

इन्द्रजाल जो सत्य ह्वै, दैव जोग परवान।
तौ पनि संसारी जना, नाहिं कदे सुखवान।।1110।।

अर्थ :– कदाचित् दैवयोग से इन्द्रजाल भी सत्य हो जावे तो भी संसारी जीवों को कभी सच्चा सुख नहीं मिल सकता।

चहुँ गति में नहिं रम्यता, रम्य आतमाराम।
जाके अनुभव तें महा, है पंचमगति धाम।।1111।।

अर्थ :– चारों गतियों में कहीं सुख–शान्ति नहीं है। आत्मरमण में ही सुख है। आत्मानुभव से ही प्राणी पंचम गति रूप मोक्ष–स्थान को प्राप्त करते हैं।

इह विचार जाके भयौ, देहहु अपनी नाहिं।
सो कैसे परपंच करि, बढ़ै परिग्रह माहिं।।1112।।

अर्थ :– शरीर भी अपना नहीं है। इस प्रकार जो विचार करते हैं, वे जीव कभी भी बहुत परिग्रह को ग्रहण नहीं करते हैं।

सवैया तेईसा

हय गय पायक आदि परिग्रह, पुण्य उदै गृह होय विभौ अति।
पाय विभौ फुनि मोहित होत, सरूप विसारि करें पर सौ रति।।
नारहि पोषण कारण काज, रच्यौ बहु आरम्भ बाँधत दुर्गति।
ज्ञानि कहै हमकूं कबहूं मन, राम वहै फुनि देहहु द्यो मति।।1113।।

अर्थ :– पुण्य के उदय से इस जीव के हाथी, घोड़ा, रत्न आदि परिग्रह एवं घर आदि अत्यंत वैभवपूर्ण वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। इस वैभव को प्राप्त करके जीव पुन: उसमें मोहित हो कर, अपने स्वरूप को भूल कर पर–पदार्थों में रति करते हैं। स्त्री आदि कुटुम्ब–परिवार के पालन–पोषण के कारण यह जीव बहुत आरम्भ–परिग्रह करता है, जिसके फलस्वरूप दुर्गतियों का बंध करता है। बुद्धिमान कहते हैं कि हमें कब ऐसी बुद्धि प्राप्त हो कि सर्व आरम्भ–परिग्रह का त्याग करें।

नाहिं संतोष समान जु आन है, श्री भगवान प्रधान सुधर्मा।
है सुखरूप अनूप इहै गुण, कारण ज्ञान हरैं सब कर्मा।।
पापनि को यह बाप जु लोभ, करै अतिक्षोभ करै अति मर्मा।
धारि संतोष लहै गुणकोष, तजै सब दोष लहै निज–मर्मा।।1114।।

अर्थ :– संतोष के समान और कोई प्रधान धर्म नहीं है, ऐसा भगवान ने कहा है। यह गुण

अनुपम सुखदायक है। इसके कारण परम्परा से कर्मों का नाश होता है। लोभ को पाप का बाप कहा है। यह लोभ मानव मात्र को दुखित करने वाला है। संतोष रूपी गुण को धारण करने से अनेक गुणों की प्राप्ति होती हैं एवं सर्व दोषों का नाश हो करके आत्मबोध की प्राप्ति होती है।

रंक सबै जग राव रिषीसुर, जो हि धरै शुभ शील संतोषा।
सो हि लहै निज आतम भेद, करै अघ छेद हरें दुख दोषा।।
श्रावक धन्य तजे सहु अन्य, हुए जु अनन्य गहै गुण कोषा।
काम न मोह न लोभ न लेश, गहै नहिं भान दहै रति रोषा।।1115।।

अर्थ :– राजा, रंक, ऋषि, देव आदि जो भी शील एवं संतोष गुणों को धारण करते हैं, वे ही अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करते हैं एवं पापों का नाश करके दुख रूपी दोषों को दूर करते हैं। जिनके लेश मात्र भी काम, मोह और लोभ नहीं हैं; वे श्रावक धन्य हैं, जो इन दोषों का त्याग कर उपर्युक्त गुणों को धारण करते हैं।

लोभ समान न औगुण आन, नहीं चुगली सम पाप अरूपा।
सत्य हि बैन कहै मुख तें सुभ, तो सम व्रत्त न तथ्य निरूपा।।
पावन चित्त समान न तीरथ, आतम तुल्य न देव अनूपा।
सज्जनता सम और कहा गुण, भूषन और न कीरति रूपा।।1116।।

अर्थ :– लोभ के समान अन्य कोई अवगुण नहीं है। चुगली के समान अन्य कोई पाप नहीं है। जो मुख से शुभ सत्य वचन बोलते हैं, उनके समान अन्य कोई व्रत एवं तथ्यता नहीं है। पवित्र–निर्मल चित्त के समान अन्य कोई तीर्थ नहीं है। आत्मा के समान अन्य कोई अनुपम देव नहीं है। सज्जनता के समान अन्य कोई गुण नहीं है और कीर्ति के समान अन्य कोई आभूषण नहीं है।

ब्रह्म सुज्ञान समान कहा धन, औजस तुल्य न मृत्यु कहाई।
देवनि को गुरु देव दयानिधि, ता सम कोई न है सुखदाई।।
रोष समान न दोष कहैं बुध, मोक्ष समान न आनन्द भाई।
तोष समान न कारण मोक्ष, कहें भगवन्त कृपा उर लाई।।1117।।

अर्थ :– आत्मज्ञान के समान अन्य कोई धन नहीं है। अपयश के समान मृत्यु नहीं है। दयानिधान देवाधिदेव के समान अन्य कोई सुखदायक देव नहीं है। ज्ञानियों ने कहा है कि क्रोध के समान कोई दोष नहीं है और हे भाई! मोक्ष के समान कोई आनन्दधाम नहीं है। संतोष के समान अन्य कोई मोक्ष का कारण नहीं है – ऐसा करुणानिधान भगवन्तों ने कहा है।

अंग प्रसंग भये बहु संग, तिनौ महिं नाहिं अभंग जु कोई।
शुद्ध निजातम भाव अखंडित, ता महिं चित्त धरै बुध सोई।
बंध-विदारण, दोष-निवारण, लोक-उधारण और न होई।
जा सम कोई न जान महामति, टारइ राग विरोध जु दोई।।1118।।

अर्थ :- अनेक बार चिरकाल तक शरीर का प्रसंग हुआ, पर उसमें से कोई भी अभंग नहीं रहा अर्थात् शाश्वत नहीं रहा। शुद्ध निजात्मा की भावना ही अखंडित है। ज्ञानी जन उस भावना को ही हृदय में धारण करते हैं। शुद्ध आत्मा की भावना के अतिरिक्त अन्य कोई बंध का नाश करने वाला, दोषों को दूर करने वाला एवं संसार से पार उतारने वाला नहीं है। जो महामति इस भावना के समान अन्य किसी को नहीं जानते हैं, वे राग-द्वेष आदि सब दोषों का नाश करते हैं।

दोहा

धन्य धन्य श्रावक व्रती, जो समकित धर धीर।
तन धन आतम भाव तें, न्यारे देखै वीर।।1119।।

अर्थ :- उन व्रती श्रावकों को धन्य-धन्य है, जो सम्यक्त्व को धारण करने वाले हैं तथा शरीर और धन को आत्मा से भिन्न जानते हैं।

तन धन को अनुराग नहिं, एक धर्म को राग।
संतोषी समता धरा, करै लोभ को त्याग।।1120।।

अर्थ :- उन श्रावकों को शरीर और धन से राग नहीं होता है, एक मात्र धर्म से राग होता है। संतोष एवं समता भाव को धारण करके, वे लोभ का त्याग करते हैं।

मोह तनी ग्यारह प्रकृति, शांत होय जब वीर।
तब धारै श्रावक व्रता, तृष्णा वर्जित घोर।।1121।।

अर्थ :- मोहनीय कर्म की 11 प्रकृतियाँ जब शांत हो जाती हैं, तब भयानक तृष्णा को छोड़कर श्रावक के व्रतों को धारण करना चाहिए।

तीन मिथ्यात कषाय वसु, ये ग्यारह परवान।
पंचम ठानें श्रावका, इनतें रहित सुजान।।1122।।

अर्थ :- पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक दर्शन मोहनीय की 3 एवं अनन्तानुबन्धी-अप्रत्याख्यान की 8 कषाय - इन 11 प्रकृतियों से रहित होते हैं।

गई चौकरी द्वय प्रबल, जै दुरगति दुखदाय।
रह्यौ चौकरी द्वय अबै, तिनको नाश उपाय।।1123।।

अर्थ :- दुखदायी दुर्गतिदायक आठों प्रबल कषायें चली जाने से अब जो शेष दो चौकड़ी रही हैं (प्रत्याख्यान-4, संज्वलन-4), उनको नाश करने का उपाय करना चाहिए।

चितवै मन में सासती, है जौलग अवसाय।
तौ लग तीजी चौकरी, उदै धरै रहवाय।।1124।।

अर्थ :- मन में निरन्तर यही भावना भानी चाहिए कि तीसरी चौकड़ी रूप प्रत्याख्यान कषाय का उदय है तो उसको नाश करने का प्रयत्न करूँ।

अल्प परिग्रह धारई, जाके अल्पारम्भ।
अवसर पाय सिताब ही, त्यागै सर्वारम्भ।।1125।।

अर्थ :- अल्प आरंभ और परिग्रह को धारण करके अवसर प्राप्त होते ही सर्व आरंभ-परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

मुनिव्रत के परसाद शिव, ह्वै अथवा अहमिन्द्र।
श्रावकवरत प्रभाव तें, सुर ह्वै तथा सुरिन्द्र।।1126।।

अर्थ :- मुनिव्रत के प्रसाद से मोक्ष की पदवी अथवा अहमिन्द्र का पद प्राप्त होता है। श्रावक व्रत के प्रभाव से देव अथवा देवेन्द्र का पद प्राप्त होता है।

परिग्रह को परमाण करि, जयकुमार गुणधार।
सुर नर कर पूजित भयौ, लह्यौ भवोदधि पार।।1127।।

अर्थ :- भरत चक्रवर्ती के सेनापति जयकुमार ने परिग्रह का परिमाण किया। उनके प्रभाव से गुणों को धारण करते हुए वे देव-मनुष्यों के द्वारा पूजा को प्राप्त हुए एवं संसार-समुद्र के पार हुए।

परिग्रह की तृष्णा करे, लुब्धदत्त गुणवीत।
गयौ दुरगती दुख लहे, ज्यों समश्रु नवनीत।।1128।।

अर्थ :- लुब्धदत्त नामक गुणरहित सेठ परिग्रह की लालसा के कारण दुर्गतियों के दुखों को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार श्मश्रुनवनीत भी दुर्गति गया।

करै जु संख्या संग की, हरै देह तें नेह।
अति न भ्रमावे नर पसू, गिनै आप सम तेह।।1129।।

अर्थ :– जो परिग्रह का परिमाण करते हैं और शरीर से राग नहीं रखते हैं, वे बहुत काल तक मनुष्य एवं तिर्यंच योनियों में भ्रमण नहीं करते हैं। वे अपने समान ही दूसरों को जानते हैं।

बोझ बहुत नहिं लादिवाँ, करनों बहुत न लोभ।
अति संग्रह तजिवौ सदा, करनों बहुत न क्षोभ।।1130।।

अर्थ :– किसी भी मनुष्य एवं तिर्यंच पर अत्यन्त – बहुत बोझ नहीं लादना चाहिए। ज्यादा लोभ नहीं करना चाहिए। परिग्रह का ज्यादा संग्रह नहीं करना चाहिए एवं ज्यादा दुख भी नहीं करना चाहिए। (आर्तध्यान आत्मस्वरूप का घातक है)।

अति विस्मय नहिं धारिवाँ, रहनों निस्संदेह।
झूठी माया जगत की, अचिरज नाहिं गनेह।।1131।।

अर्थ :– अत्यन्त आश्चर्य नहीं करना चाहिए। निस्संदेह रहना चाहिए। संसार की झूठी माया को देखकर अचरज – विस्मय नहीं करना चाहिए।

परिग्रह संख्या वरत के, अतीचार हैं पंच।
तिनकूँ त्यागें जे व्रती, तिनके पाप न रंच।।1132।।

अर्थ :– परिग्रहपरिमाणव्रत के पाँच अतीचार हैं। जो व्रती श्रावक इन अतीचारों का त्याग करते हैं, उनके रंचमात्र भी पाप नहीं होता है।

क्षेत्र वास्तु संख्या करी, ताको करै उलंघ।
अतीचार है प्रथम यह, भाषै चउविधि संघ।।1133।।

अर्थ :– क्षेत्र (जमीन आदि) और वास्तु (मकान आदि) की मर्यादा – सीमा करके उस सीमा का उल्लंघन करना चतुर्विध संघ ने प्रथम अतीचार कहा है।

काहु प्रकारै भूलि करि, जोहि उलंघे नेक।
अतीचार ताकों लगै, भाषै पंडित एम।।1134।।

अर्थ :– किसी प्रकार की भूल से भी यदि थोड़ी मर्यादा का उल्लंघन हो जावे तो अतीचार का दोष लगता है। ऐसा विद्वानों ने कहा है।

द्विपद चतुष्पद संग को, करि प्रमाण जो वीर।
अभिलाषा अधिकी धरै, सो न लहै भव–तीर।।1135।।

अतीचार दूजौ इहै, सुनि तीजो अघरास।
धन्य धान्यादिक वस्तु को, करि प्रमाण गुरु पास।।1136।।

चित संकोचि सकै नहीं, मन दौरावे मूढ़।
सो न लहै व्रत शुद्धता, होय न ध्यानारूढ़।।1137।।

अर्थ :– द्विपद और चतुष्पद परिग्रह का परिमाण करके जो उससे अधिक की अभिलाषा करते हैं, वे संसार से पार नहीं हो सकते हैं। यह दूसरा अतीचार है। धन-धान्यादि वस्तुओं का गुरु के पास प्रमाण कर जो मूढ़, मन को नहीं रोककर मर्यादा के बाहर मन को दौड़ाते हैं, उनके तीसरा अतीचार लगता है। इन अतीचारों से व्रत शुद्धता को प्राप्त नहीं होता है एवं ध्यान की सिद्धि भी नहीं होती है।

हम राख्यौ परिग्रह अलप, सरै न एते माहिं।
ऐसे विकलप जो करै, वर्तमान सो नाहिं।।1138।।

अर्थ :– हमने परिग्रह बहुत थोड़ा रखा है, अब इतने परिग्रह से हमारा काम नहीं चलता है। इस प्रकार के विकल्प से व्रत में दोष लगता है।

कुप्य भांड परिग्रह तनौं, करि प्रमाण तन धारि।
चित्त चाहि मेटै नहीं, सो चौथो अतिचार।।1139।।

अर्थ :– कुप्य और भांड का प्रमाण करके उससे अधिक की लालसा रखना, चित्त की चाह नहीं मिटना, यह चौथा अतीचार है।

शयन नाम सेज्या तनों, आसन द्वय विधि होय।
थिर आसन चर आसना, करै प्रमाण जु कोय।।1140।।

अर्थ :– शयन परिग्रह से शय्या आदि ग्रहण करना चाहिए। आसन दो प्रकार के कहे हैं। स्थिर आसन और अस्थिर आसन के भेद से उन दोनों का प्रमाण करना चाहिए।

पुनि अधिको अभिलाष धरि, लावै व्रत में दोष।
अतीचार सो पाँचमों, रोकै मारग मोष।।1141।।

अर्थ :– प्रमाण करने के बाद अधिक की अभिलाषा करने से व्रत में दोष लगता है। यह उपर्युक्त पाँचवाँ अतीचार है, जो कल्याण मार्ग को रोकने वाला है।

थिर आसन सिंहासनों, ताहि आदि बहु जानि।
त्यागै चक्री मंडली, जिन आज्ञा उर आनि।।1142।।

अर्थ :– स्थिर आसन से सिंहासन आदि नाना प्रकार के आसनों को ग्रहण करना चाहिए।

जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को हृदय में धारण करके चक्रवर्ती, मंडलीक आदि राजाओं ने भी इन आसनों का त्याग किया है।

स्यन्दन कहिये रथ प्रकट, शिविका है सुखपाल।
ए थल के चर आसना, त्यागै भव्य भूपाल।।1143।।

अर्थ :– स्यन्दन से रथ और शिविका से पालकी (सुखपाल)। ये जमीन पर चलने वाले अस्थिर आसन हैं। भव्य राजाओं ने इस आसनों का भी त्याग किया है।

बहुरि विमानादिक जिके, चर आसन शुभ रूप।
ते आकाश के जानिये, त्यागें खेचर भूप।।1144।।

अर्थ :– विमान आदि जो प्रशस्त अस्थिर आसन रूप हैं, वे आकाश में चलने वाले हैं। विद्याधर राजाओं ने इन आसनों का त्याग किया है।

नाव जिहाजादिक गिनें, चर आसन जल माहिं।
चर आसन कों पंडिता, यान कहैं सक नाहिं।।1145।।

अर्थ :– नौका, जहाज आदि जल में चलने वाले अस्थिर आसन हैं। पंडित लोग अस्थिर आसन को यान नहीं कह सकते।

सकल परिग्रह त्यागिवौ, सो मुनि मारग होय।
किंचित् मात्र जु राखिवौ, व्रत श्रावक को सोय।।1146।।

अर्थ :– समस्त परिग्रह का त्याग करने से मुनिव्रत का पालन होता है। किंचित्मात्र भी परिग्रह रखने से श्रावक के व्रत का पालन होता है।

व्याधि न तृष्णा सारखी, तृष्णा सी न उपाधि।
नहिं संतोष समान है, कारण परम समाधि।।1147।।

अर्थ :– तृष्णा के समान अन्य कोई व्याधि नहीं है, उपाधि नहीं है। संतोष के समान परम समाधि का अन्य कोई कारण नहीं है।

तृष्णा करि भव वन भ्रमै, तृष्णा त्यागें सन्त।
गृह परिग्रह बन्धन गिनैं, ते निर्वाण लहंत।।1148।।

अर्थ :– तृष्णा – लालसा के कारण जीव भव-वन में भ्रमण करते हैं। संत पुरुष तृष्णा का त्याग करते हैं। जो घर आदि परिग्रह को बंधन के समान गिनते हैं, वे ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

व्रत पाँचमों इह कह्यौ, सम सन्तोष स्वरूप।
धन्य धन्य ते धीर हैं, त्यागें लोभ विरूप।।1149।।

अर्थ :– समता और संतोष रूप यह पाँचवाँ व्रत कहा है। जो लोभ कषाय का त्याग करते हैं, वे ही धीर पुरुष धन्य-धन्य हैं।

जे सीझे ते लोभ हरि, और न मारग होय।
मोह प्रकृति में लोभ सो, और न परबल कोय।।1150।।

अर्थ :– जिन जीवों ने लोभ कषाय का नाश कर दिया है, उन जीवों का ही कल्याण होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई सुख का मार्ग नहीं है। मोहनीय कर्म में लोभ प्रकृति के समान अन्य कोई प्रबल प्रकृति नहीं है।

सर्व गुणनि को शत्रु है, लोभ नाम बलवन्त।
ताहि निवारें व्रत्त ए, करै कर्म को अन्त।।1151।।

अर्थ :– लोभ कषाय समस्त गुणों के शत्रु रूप है। लोभ कषाय को छोड़ने से, ये व्रत कर्मों का नाश करते हैं।

नमस्कार संतोष कों, जाहि प्रशंसें धीर।
जाकि महिमा अगम है, जा सम और न वीर।।1152।।

अर्थ :– संतोष रूपी व्रत को नमस्कार हो। धैर्यवान पुरुषों ने इस व्रत की प्रशंसा की है। इसकी महिमा अपार है। संतोषी के समान और कोई वीर पुरुष नहीं है।

जानैं श्री जिनराय जू, या व्रत के गुण जेह।
और न पूरन ना लखै, गणधर आदि जिकेह।।1153।।

अर्थ :– इस व्रत के गुणों को जिनेन्द्र भगवान जैसा जान सकते हैं। वैसे गणधर आदि भी इस व्रत को पूर्ण रूप से नहीं जान सकते हैं।

हमसे अलपमती कहाँ, कैसें कहैं बनाय।
नमों नमों या व्रत्त कों, जो भव पर कराय।।1154।।

अर्थ :– मुझ जैसा अल्प मति कैसे इस व्रत की महिमा का बखान कर सकता है? संसार से पार उतारने वाले इस व्रत को बारम्बार नमस्कार हो।

संतोषी जीवनि कों, बार-बार परणाम।
जिन पायौ संतोष धन, सर्व सुखनि को धाम।।1155।।

अर्थ :– संतोषी जीवों को बारम्बार प्रणाम हो। जिन जीवों ने संतोष धन को प्राप्त किया है, उन्होंने मानो सर्व सुखों का स्थान ही प्राप्त किया है।

नहिं संतोष समान गुरु, धन नहिं या सम और।
निर विकलप नहिं या समा, इह सबको सिरमौर।।1156।।

अर्थ :– संतोष के समान अन्य कोई गुरु नहीं है। संतोष समान दूसरा कोई धन नहीं है। संतोष के समान अन्य कहीं निर्विकल्पता नहीं है। यह संतोष व्रत सब व्रतों में श्रेष्ठ है।

दया सत्य असतेय अर, ब्रह्मचर्य संतोष।
इन पांचनि कों कर प्रणति, छट्ठम व्रत निरदोष।।1157।।

अर्थ :– अहिंसा (दया), सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और संतोष (परिग्रह परिमाण) – इन पाँचों व्रतों को नमस्कार करके छठे दोषरहित दिग्व्रत को कहता हूँ।

भाषों दिसि परिमाण शुभ, लोभ नासिवे काज।
जीवदया के कारणों, उर धरि श्री जिनराज।।1158।।

अर्थ :– लोभ का नाश करने के लिए दशों दिशाओं के परिमाण रूप दिग्व्रत को कहता हूँ। जिनेन्द्र भगवान को हृदय में धारण करके जीवदया के कारणभूत व्रतों को कहता हूँ।

द्वादश व्रत में पंच व्रत, सप्त शील परवानि।
सप्त शील में तीन गुण, चउ शिक्षा व्रत जानि।।1159।।

अर्थ :– बारह व्रतों में पाँच अणुव्रतों को एवं सात शीलों को लिया जाता है। सात शील से तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत लेने चाहिए।

जैसे कोट जु नगर के, रक्षा कारण होय।
तैंसे व्रत रक्षा निमित, शीत सप्त ये जोय।।1160।।

अर्थ :– जैसे नगर की रक्षा के लिए कोट होता है, वैसे ही व्रतों की रक्षा के लिए ये सात प्रकार के शील कहे गये हैं।

वरत शील धारें सुधी, ते पावें सुखराशि।
कहैं व्रत्त अब शील के, भेद कहाँ परकाशि।।1161।।

अर्थ :– जो बुद्धिमान व्रत और शील को धारण करते हैं, वे सुखमय अवस्था को प्राप्त होते हैं अर्थात् अनंत सुख को प्राप्त होते हैं। अब शील के भेदों का कथन करता हूँ।

पहलो गुणव्रत, गुणमई, छट्ठा व्रत सो जानि।
दसों दिशा परमाण करि, श्री जिन आज्ञा मानि।।1162।।

अर्थ :– छठवाँ व्रत प्रथम गुणव्रत रूप जानना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को मानकर दशों दिशाओं का परिमाण करना चाहिए।

तीन गुणव्रत में प्रथम, दिग्व्रत कह्यौ जिनेस।
ताहि धरे श्रावक व्रती, त्यागें दोष असेस।।1163।।

अर्थ :– तीन गुणव्रतों में प्रथम गुणव्रत दिग्व्रत है – ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है। व्रती श्रावक इस व्रत को धारण करके शेष समस्त दोषों को छोड़ते हैं।

लोभादिक नाशन निमित, परिग्रह को परिमाण।
कीयौ तैंसे ही करौ, दिशि परमाण सुजाण।।1164।।

अर्थ :– लोभ आदि के नाश के कारण जैसे परिग्रह का परिमाण करते हैं, वैसे दिशाओं में भी मर्यादा करना चाहिए।

बेसरी छन्द

पूरब आदि दिशा चउ जानों, ईशानादि विदिश चउ मानों।
अध ऊरध मिलि दस दिशि होई, करै प्रमाण व्रती है सोई।।1165।।

अर्थ :– पूर्व आदि चार दिशा, ईशान आदि चार विदिशा, नीचे और ऊपर – इस प्रकार दशों दिशाओं में मर्यादा करनी चाहिए।

शीलवान व्रत धारक भाई, जाके दरशन तें अघ जाई।
या दिशि कों एतो ही जाऊँ, आगे कबहुँ न पाँव धराऊँ।।1166।।

या विधिसों जु दिशा को नेमा, करै सुबुद्धि धरि व्रतसों प्रेमा।
मरजादा न उलंघै जोई, दिग्व्रत धारक कहिये सोई।।1167।।

अर्थ :– शीलवान, व्रतधारियों के दर्शन करने से पापों का नाश होता है। इस दिशा में इतना ही जाऊँगा, उससे आगे एक पैर भी नहीं रखूँगा। इस प्रकार से दिशाओं में आन-जाने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए। बुद्धिमान श्रावक इस प्रकार व्रतों से प्रेम रखते हैं। जो की हुई मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते, वे ही दिग्व्रत को धारण करने वाले हैं।

दसों दिशा की संख्या धारे, जिती दूर लौ गमन विचारै।
आगै गये लाभ ह्वै भारी, तौ पनि जाय न दिग्व्रत धारी।।1168।।

अर्थ :– दशों दिशाओं की मर्यादा करके उससे आगे गमन नहीं करना चाहिए। मर्यादा के बाहर बहुत लाभ मिलने वाला हो तो भी दिग्व्रत के धारी को मर्यादा के बाहर नहीं जाना चाहिए।

संतोषी समभावी होई, धन कूँ गिनै धूरि–सम सोई।
गमनागमन तज्यो बहु जाने, दया धर्म धार्यो उर तानै।।1169।।

अर्थ :– संतोषी समताभावी श्रावक धन को धूलि के समान मानते हैं। दया धर्म को हृदय में धारण कर, वे अधिक गमनागमन नहीं करते।

लगै न हिंसा तिनको अधिकी, त्यागी जिन तृष्णा धन निधि की।
कारण हेत चालनों परई, तो प्रमाण माफिक पग धरई।।1170।।

अर्थ :– जिन्होंने धन–सम्पत्ति की तृष्णा को छोड़ दिया है, उनको ज्यादा हिंसाजन्य दोष नहीं लगते। आवश्यकता के अनुसार वे गमनागमन करते हैं। बिना प्रयोजन एक पैर भी आगे नहीं रखते।

मेरु डिगै परि पैंड न एका, जय सुबुद्धी परम विवेका।
व्रत करि नाश करै अघ कर्मा, प्रगटै परम सरावक धर्मा।।1171।।

अर्थ :– बुद्धिमान परम विवेकी श्रावक मेरु पर्वत डिग जाये तो भी आगे एक डग भी नहीं जाते। व्रतों को धारण कर वे पाप कर्मों का नाश करके श्रावक धर्म को प्रकट करते हैं।

बिना प्रतिज्ञा फल नहिं कोई, रहै बात परगट अवलौई।
अतीचार पाँचौ तजि वीरा, छट्ठों व्रत धारौ चित धीरा।।1172।।

अर्थ :– प्रतिज्ञा के बिना फल की प्राप्ति नहीं होती। यह बात तो प्रत्यक्ष ही है। पाँचों अतीचारों का त्याग करके हे धीर–वीर! इस छठे व्रत को धारण करो।

पहली ऊरध व्यतिक्रम होइ, ताको त्याग करौ श्रुति जोई।
गिरि परि अथवा मंदिर ऊपरि, चढ़नो परई ऊरध भूपरि।।1173।।

अर्थ :– पहला व्यतिक्रम ऊर्ध्व व्यतिक्रम है। आगम के अनुसार इस व्यतिक्रम का त्याग करना चाहिए। पर्वत अथवा मंदिर के ऊपर अथवा जमीन से ऊपर चढ़ने को ऊर्ध्व कहते हैं।

ऊरध की संख्या ह्वै जेती, ऊँची भूमि चढ़ै बुध तेती।
आगै चढिवो कौ जो भावा, अतीचार पहलो सु कहावा।।1174।।

अर्थ :– ऊर्ध्व दिशा में जितना प्रमाण किया है, बुद्धिमान उतनी सीमा तक ही ऊपर चढ़ते हैं। की गई मर्यादा से अधिक ऊपर चढ़ने के जो भाव होते हैं, उन्हें प्रथम ऊर्ध्व व्यतिक्रम जानना चाहिए।

दूजो अध–व्यतिक्रम तजि मित्रा, जा तजिये व्रत होइ पवित्रा।
वापी कूप खानि अर खाई, नीची भूमि माहिं उतराई।।1175।।

अर्थ :– हे मित्र! दूसरे अधो व्यतिक्रम को छोड़ कर व्रत को निर्मल करना चाहिए। बावड़ी, कुआँ, खान, खाई आदि नीची भूमियों में उतरने को अध: व्यतिक्रम कहते हैं।

तौ परमाण उलंघि न उतरौ, अधिकी भू उतर्या व्रत खतरौ।
अधिक उतरने को जो भावा, अतीचार दूजो सु कहावा।।1176।।

अर्थ :– नीचे की ओर जितना प्रमाण किया है, उस मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। की गई मर्यादा से अधिक नीचे उतरने से व्रत नष्ट हो जाता है। अधिक नीचे उतरने के जो भाव हैं, उन्हें अध:व्यतिक्रम जानना चाहिए।

तीतो तिर्यंग व्यतिक्रम त्यागौ, तब छट्ठे व्रत माहीं लागौ।
अष्ट दिशा जे दिशि विदिशा है, तिरछे गमने माहिं गिना है।।1177।।

अर्थ :– तीसरे तिर्यक् व्यतिक्रम को छोड़ने से छठे दिग्व्रत का पालन होता है। चार दिशाओं एवं चार विदिशाओं – इन आठों को तिर्यक् दिशा में ही लिया गया है।

बहुरि सुरंगादिक में जावौ, सोऊ तिरछे गमन गिनावौ।
चउ दिशि चउ विदिशा परमाणा, ताको नाहिं उलंघ बखाणा।।1178।।

अर्थ :– प्राय: सुरंग आदि में गमनागमन को तिर्यक् दिशा में लिया है। चारों दिशाओं एवं चारों विदिशाओं में गमनागमन की मर्यादा करके उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

जो अधिके जावे को भावा, अतीचार तीजो सु कहावा।
चौथो क्षेत्रवृद्धि है दूषन, ताको त्याग करें व्रत भूषन।।1179।।

अर्थ :– तिर्यक् दिशाओं में की गई मर्यादा से अधिक जाने के जो भाव हैं, उसे तीसरा तिर्यक् व्यतिक्रम जानना चाहिए। चौथा क्षेत्रवृद्धि नाम का अतिचार है। व्रती श्रावक उसका भी त्याग करते हैं।

जेती दूर जान का नेमा, सो स्वक्षेत्र भाषें श्रुति–प्रेमा।
जो स्वक्षेत्र तें बाहिर ठौरा, सो परक्षेत्र कहावे औरा।।1180।।

अर्थ :– जितने क्षेत्र में गमनागमन की प्रतिज्ञा की है, उतने क्षेत्र को आचार्यों ने स्वक्षेत्र कहा है। जो स्वक्षेत्र से बाहर का स्थान है, वह परक्षेत्र कहलाता है।

जो परक्षेत्र थको इह संधा, राखै सठमति हिरदे अंधा।
ह्वातें क्रय विक्रय जो राखै, क्षेत्रवृद्धि दूषण गुरु भाखें।।1181।।

अर्थ :– जो परक्षेत्र तक की मर्यादा करते हैं, वे मूर्ख हृदय से अंधे माने गये हैं। परक्षेत्र में अर्थात् मर्यादा के बाहर जो लेन-देन करते हैं, उसको आचार्यों ने क्षेत्रवृद्धि नाम का दूषण बतलाया है।

पंचम अतीचार कों नामा, स्मृत्यंतर भासें श्रीरामा।
ताको अर्थ सुनों मनलाई, करि परमाण भूलि जो जाई।।1182।।

जानत और अजानत मूढ़ा, सो नहिं होई व्रत आरूढ़ा।
ए पाँचूं दोषा जे ठारें, ते व्रत निर्मल निश्चिल धारें।।1183।।

अर्थ :– श्री भगवान ने स्मृत्यन्तर नाम का पाँचवाँ अतीचार बतलाया है। हे भाई! अतीचार का अर्थ सुनो। की गई मर्यादा को जो भूल जाते हैं, वे मूर्ख व्रत आरूढ़ नहीं माने गये हैं। इन पाँचों अतीचारों को जो टालते हैं, वे निर्मल निश्चल व्रत का पालन करते हैं।

श्री कहिये निज ज्ञान विभूति, शुद्ध चेतना निज अनुभूती।
केवल सत्ता शुद्ध स्वभावा, आतम परिणति-रहित विभावा।।1184।।

अर्थ :– आत्मज्ञान की विभूति को श्री कहते हैं। आत्मानुभूति शुद्ध चेतना है। यह आत्मा की सत्ता शुद्ध स्वभाव रूप है। आत्म-परिणति समस्त विभावों से रहित है।

ता परणति सों रमिया जोई, कर्म-रहित श्रीराम जु होई।
तिनकी आज्ञारूप जु धर्मा, धारें ते नाशें सब भर्मा।।1185।।

अर्थ :– आत्मपरिणति में जो रमण करते हैं, लीन होते हैं; वे कर्मों का नाश करके सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं। उनकी आज्ञा के अनुसार जो धर्म को धारण करते हैं, वे सब प्रकार के भ्रमों का नाश करते हैं।

अब सुनि व्रत्त सातमों भाई, जो दूजो गुणव्रत्त कहाई।
दिशा तणों कीयौ परिमाणा, तामें देश प्रमाण बखाणा।।1186।।

अर्थ :– हे भाई! अब सातवें व्रत को सुनो, जिसको दूसरा अणुव्रत कहते हैं। दशों दिशाओं में की गई मर्यादा के अंतर्गत देश आदि का प्रमाण करना चाहिए।

देश नगर अर गाँव इत्यादी, अथवा पाटक हाट जु आदी।
पाटक कहिये अर्ध जु ग्रामा, करै प्रमाण व्रती गुण-धामा।।1187।।

अर्थ :– देश, नगर, गाँव, पाटक, बाजार आदि का प्रमाण करना चाहिए। पाटक शब्द से आधा गाँव ग्रहण करना चाहिए। गुणवान व्रतियों को इन सबको प्रमाण करना चाहिए।

जिन देशनि में धर्म जु नाहीं, जाय नहीं तिन देशनि माहीं।
जब यह बहु देशनि तें छूटे, तब यासों अति लोभ जु टूटे।।1188।।

अर्थ :– जिन देशों में धर्म का पालन नहीं हो सकता, श्रावकों को उन देशों में नहीं जाना चाहिए। जब बहुत देशों में आना–जाना छूट जाएगा, तब इस संबंधी लोभ की लालसा भी छूट जाएगी।

बहु हिंसा आरंभ निवर्त्या, जीव दया मन माहिं प्रवर्त्या।
दिश अरु देशनिको जु प्रमाणा, लोभ नाशने निमित्त बखाना।।1189।।

अर्थ :– बहुत हिंसा और आरंभ से छूटकर मन में जीवों के प्रति दयाभाव धारण करना चाहिए। लोभ को नष्ट करने के लिए ही दिशाओं का एवं देश आदि का प्रमाण करना चाहिए।

जिनवर मुनिवर अर जिन धामा, जिनप्रतिमा अर तीरथ ठामा।
यात्रा काज गमन निरदोषा, द्वीप अढ़ाई लौ व्रत पोंसा।।1190।।

अर्थ :– जिनेन्द्र देव, साधु, जिनायतन (जिनालय आदि), जिनप्रतिमा, तीर्थस्थान और यात्रा के निमित्त गमन करने में दोष नहीं है। अढ़ाई द्वीप के अन्तर्गत इन सबको निमित्त गमन करके भी इस व्रत का पालन कर सकते हैं।

अतीचार पाँचों तजि धीरा, जाकरि देशव्रत्त ह्वै धीरा।
चित परसन–रोकन के कारन, मन वच तन मरजादा धारन।।1191।।

अर्थ :– पाँचों अतीचारों का त्याग करने से देशव्रत का पालन होता है। चित्त की चंचलता को रोकने के लिए मन, वचन और शरीर को सीमित रखना चाहिए।

कबहूँ नाहिं उलंघि सु जाई, अर ह्यातैं आसा न धराई।
प्रेष्य नाम है सेवक को जी, ताहिं पठावौं जी अधिको जी।।1192।।
वस्तु भेजिवौ लोभ निमित्ता, प्रेष्य प्रयोग दोष है मित्ता।
तातें जेतौ देश जु राख्यौ, मृत्य भेजिवौ ह्वां तक भाख्यौ।।1193।।

अर्थ :– कभी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। मर्यादा से अधिक की आशा नहीं करनी चाहिए। प्रेष्य शब्द से सेवक अर्थ लेना चाहिए। सेवक – नौकर को मर्यादा से आगे भेजना, लोभ के कारण मर्यादा के बाहर वस्तु भेजना – ये सब प्रेष्य–प्रयोग अतीचार हैं। इसलिए जितनी

मर्यादा रखी है, वहीं तक नौकर आदि को भेजना कहा है।

आगै वस्तु पठैवौ नाहीं, इह बातें धारौ उर माहीं।
दूजो दोष आनयन त्यागै, तब हि व्रत विधानहिं लागै।।1194।।

अर्थ :– मर्यादा के बाहर वस्तु भी नहीं भेजनी चाहिए। इन बातों को हृदय में धारण करना चाहिए। दूसरा अतीचार आनयन है। इसका त्याग करने से व्रत का पालन होता है।

परक्षेत्र जु तें वस्तु मँगावै, सो गुणव्रत को दूषण लावै।
जो परमाण बाहिरा ठौरा, सो परक्षेत्र कहै वृष मौरा।।1195।।

अर्थ :– परक्षेत्र से जो वस्तु मँगवाते हैं, उससे गुणव्रत में दोष लगता है। धर्मप्रमुख आचार्यों ने मर्यादा के बाहर के स्थान को परक्षेत्र कहा है।

तीजो दोष शब्दविनिपाता, ताको भेद सुनों तुम भ्राता।
जाय नहीं परि शब्द सुनावै, सो निरदूषण व्रत न पावै।।1196।।

अर्थ :– तीसरा शब्दविनिपात नामक अतीचार है। हे भाई! तुम इसके भेद सुनो। मर्यादा के बाहर से जो आवाज देकर बुलवाते हैं, उनके व्रत का निर्दोष पालन नहीं होता है।

चौथा दूषण रूपनिपाता, रूप दिखावण जोगि न बाता।
पंचम पुद्गलक्षेप कहावै, कंकर आदिक जोहि बगावै।।1197।।

अर्थ :– चौथा रूपनिपात नामक अतीचार है। रूप आदि दिखाने से व्रत में दोष लगता है। पाँचवाँ पुद्गलक्षेप नामक अतीचार है। मर्यादा के बाहर कंकर आदि फेंकने से भी इस व्रत में दोष लगता है।

भावार्थ (वचनिका) :– दिशा और देश को जाव जीव नियम कियो छै; ताहू में वर्ष, छ मासी, दु मासी, मासी, पाखी नेम धार्यो छै, तीमें भी निति नेम करै छै। सो निति नेम मरजादा में क्षेत्र निपट थोड़ा राख्यो, सो गमन तो मरजादा बाहिर क्षेत्र में न करै। परि हेलौ मारि सबद सुनावै अथवा जिंह तरफ जिंह प्रानी सों प्रयोजन होय, तिंह तरफ झांकि झरोकादिक में बैठि करि तिंह प्राणी ने आपनो रूप दिखाय प्रयोजन जणावें अथवा कंकर इत्यादि बगाय पैलाने मतलब जतावै, सो अतीचार लगाय व्रत ने मलीन करै।

बेसरी छन्द

अब सुनि वरत आठमो भाई, तीजौ गुणव्रत अति सुखदाई।
अनरथदण्ड पापको त्यागा, यह व्रत धारें ते बड़भागा।।1198।।

अर्थ :– हे भाई! अब आठवाँ व्रत सुनो। तीसरा गुणव्रत अत्यन्त सुखदायक है। अनर्थदण्ड पाप का त्याग करके जो इस गुणव्रत को धारण करते हैं, वे बड़े भाग्यशाली हैं।

पंच भेद हैं अनरथ दोषा, महापाप के जानहु पोषा।
पहला दुर्ध्यान जु दुखदाई, ताको भेद सुनों मन लाई।।1199।।

अर्थ :– महापाप के पोषक इस अनर्थदण्ड के पाँच भेद हैं। दुर्ध्यान नामक प्रथम भेद है, जो दुखदायक है। अब मन लगाकर उसके भेद सुनो।

पर औगुण गहनो उर माहीं, पर लक्ष्मी अभिलाष धराहीं।
पर नारी अवलोकन इच्छा, इन दोषनि तें सुधी अनिच्छा।।1200।।

अर्थ :– दूसरों के अवगुणों को ग्रहण करना, दूसरे के धन की अभिलाषा करना, दूसरे की स्त्री को देखने की इच्छा करना, बुद्धिमान लोग इन सब दोषों से दूर रहते हैं।

कलह करावन करन जु चाहै, बहुरि अहेरा करन उमाहै।
हारि जीति चितवै काहूका, करै नहीं भक्ति जु साहु की।।1201।।

चौर्यादिक चितवे मनमाहिं, सो दुरगति पावै शक नाहीं।
दूजौ पाप तनों उपदेशा, सो अनरथ तजि भजौ जिनेशा।।1202।।

अर्थ :– जो लड़ाई-झगड़ा करवाने की इच्छा करते हैं, हेरा-फेरी करने को उत्साहित रहते हैं, किसी की हार-जीत का चिन्तवन करते हैं, जो साधुओं की भक्ति नहीं करते हैं, चोरी आदि पाप का जो मन में चिन्तन करते हैं, वे नियम से दुर्गति को पाते हैं। इसमें कोई शंका नहीं है। यह दूसरा पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड है। इसका त्याग करके जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करनी चाहिए।

कृषि पशु धंधा वणिज इत्यादि, पुरुष नारि संजोग करा दी।
मंत्र यंत्र तन्त्रादिक सर्वा, तजो पापकर वचन सगर्वा।।1203।।

सिंगारादिक लिखन लिखावन, राज-काज उपदेश बतावन।
सिलपि करम आदिक उपदेशा, तजो पाप कारिज आदेशा।।1204।।

अर्थ :– खेती, पशु-पालन, व्यापार आदि संबंधी उपदेश, स्त्री-पुरुषों का संबंध (विवाह) आदि कराना, दूसरों के बुरे चिंतवन संबंधी मंत्र-यंत्र-तंत्र आदि सभी का त्याग करना चाहिए। शृंगार रस के शास्त्र लिखना-लिखवाना, राजकार्य संबंधी उपदेश देना, शिल्प कर्म संबंधी उपदेश देना - इन सब पापकारी कार्यों का त्याग करना चाहिए।

तजहू अनरथ विफला चर्या, सो त्यागौ श्री गुरु ने वर्ज्या।
भूमि–खनन अरु पानी ढारन, अगनि–प्रजालन पवन विलोरन।।1205।।

वनस्पती छेदन जो करनों, सो विफला चर्या कों धरनों।
हरित तृणांकुर दल फल फूला, इनको छेदन अघ को मूला।।1206।।

अर्थ :– निष्प्रयोजन चर्चा नहीं करनी चाहिए। श्रीगुरु ने जिसको वर्जित किया है, उसका त्याग करना चाहिए। जमीन खोदना, पानी ढोलना, अग्नि जलाना, हवा करना (पंखा आदि), वनस्पति का छेदन करना – ये सब अनर्थदण्ड व्रत के दोष हैं। हरित तृण, अंकुर, पत्र, फल, फूल – इन सबका छेदन करना, ये सब पाप के मूल हैं।

अब सुनि चौथी अनरथदण्डा, जा करि पावौ कुगति प्रचण्डा।
हिंसादान नाम है जाको, त्याग करो तुम बुधजन ताको।।1207।।

अर्थ :– अब अनर्थदण्ड का चौथा भेद सुनो। इसके निमित्त से भयंकर कुगति की, दुर्गतियों की प्राप्ति होती है। हिंसा–दान यह अनर्थदण्ड का चौथा भेद है। हे बुद्धिमान! तुम इसका त्याग करो।

दयादान करिवा जु निरन्तर, इह वार्ता धारौ उर अन्तर।
छुरी कटारी खडग रु भाला, जुति आदिक देहि न लाला।।1208।।

अर्थ :– निरंतर दयाभाव रखना चाहिए। इस बात को हृदय में धारण करना चाहिए। हे भाई! छुरी, कटारी (तलवार), खड्ग, भाला, जुति आदि पदार्थ दूसरे को नहीं देने चाहिए।

विष नहिं देवौ अगनि न देनी, हल फाल्यादिक दे नहिं जैनि।
धनुषबान नहिं देनों काकों, जो दे अघ लागै अति ताकों।।1209।।

अर्थ :– विष, अग्नि, हल, फाल, धनुष–बाण आदि हिंसक साधनों को जैन लोग दूसरों को नहीं देते हैं। जो हिंसा के इन साधनों को दूसरों को देते हैं, वे पाप का उपार्जन करते हैं।

हिंसाकारक जैती वस्तु, सो देवौ तो नाहिं प्रसस्तू।
वध बन्धन छेदन उपकरणा, तिनकों दान दया को हरणा।।1210।।

अर्थ :– हिंसाकारक जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन वस्तुओं को दूसरे को देना प्रशस्त नहीं है। मारने के, बाँधने के और काटने के – छेदन करने के उपकरणों का दान करने से दया का नाश होता है।

पाप वस्तु माँगी नहिं देवै, जो देवे सो शुभ नहिं लेवै।
जामें जीवनि को उपकारी, सो देवौ सबकौ हितकारी।।1211।।

अर्थ :– हिंसा के उपकरण माँगने पर भी नहीं देने चाहिए। जो हिंसा के उपकरण माँगने पर देते हैं, उनको हिंसा का दोष लगता है, जिससे जीवों का उपकार होता है और जो सबके हितकारी हैं। ऐसे उपकरणों को देना चाहिए।

अन्न वस्त्र जल औषध आदी, देवौ श्रुत में कह्या अनादी।
दान समान न आन जु कोई, दया दान सबके सिर होई।।1212।।

अर्थ :– अन्न, वस्त्र, जल, औषधि आदि दूसरों को देना चाहिए, ऐसा अनादि से आगम में कहा है। दान के समान अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं है। दान में भी दया दान सबसे प्रमुख कहा गया है।

मंजारादिक दुष्ट सुभावा, मांस अहारी मलिन कुभावा।
तिनको धारन कबहुं न करनों, जीवनि की हिंसा तें डरनों।।1213।।

अर्थ :– बिल्ली आदि दुष्ट स्वभावी मांसाहारी मलिन भाव वाले पशुओं को कभी नहीं पालना चाहिए। हमेशा जीव हिंसा से दूर रहना चाहिए।

नखिया पखिया हिंसक जेही, धर्मवन्त पालै नहिं तेही।
आयुध को व्यापार न कोई, जाकरि जीवनि कौ बध होई।।1214।।

अर्थ :– नाखून वाले, पंखों वाले – ऐसे हिंसक पशुओं को धर्मात्मा जीवों को नहीं पालना चाहिए। श्रावक को शस्त्र, आयुध आदि का व्यापार नहीं करना चाहिए। जिनके निमित से जीवों का वध हो – ऐसे उपकरणों का व्यापार कभी नहीं करना चाहिए।

सीसा लौह लाख साबुन ए, बनिज जाग नहिं अध कारन ए।
जेती वस्तु सदोष बताई, तिनको बनिज त्यागवौ भाई।।1215।।

अर्थ :– सीसा, लोहा, लाख, साबुन आदि पापकारी वस्तुओं का व्यापार नहीं करना चाहिए। हे भाई! जितनी सदोष वस्तुएँ हैं, इन वस्तुओं के व्यापार का त्याग करना चाहिए।

धान पान मिष्टादि रसादिक, लवण हींग घृत तेल इत्यादि।
दल फल तृण पहुपादिक कंदा, मधु मादिक बिणिजै मतिमन्दा।।1216।।

अर्थ :– अनाज, पानी, मिठाई, तेल, घृत आदि रसादिक, लवण, हींग, पत्र, फल, तृण, पुष्प आदि कंद, मधु, मादक पदार्थ आदि का व्यापार नहीं करना चाहिए।

अतर फुलेल सुगन्ध समस्ता, इनको बिणज न होइ प्रशस्ता।
तथा अजोग्य मोम हरतारें, हिंसाकारन उद्यम टारै।।1217।।

अर्थ :– इत्र-फुलेल आदि समस्त सुगंधित पदार्थों का व्यापार नहीं करना चाहिए। मोम, हरताल आदि अयोग्य पदार्थों का तथा हिंसा में निमित्तभूत पदार्थों का व्यापार भी नहीं करना चाहिए।

बध बन्धन के कारिज जेते, त्यागहु पाप बिणज तुम तेते।
पशु पंखी नर नारी भाई, इनके बिणज महा दुखदाई।।1218।।

अर्थ :– वधकारी और बन्धनकारी, ऐसे सब पापयुक्त व्यापारों का त्याग करना चाहिए। हे भाई! पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष आदि का व्यापार नहीं करना चाहिए। इनका व्यापार महा दुखदायी है।

काष्ठादिक को बिणज न करै, धर्म अहिंसा उर में धरै।
ए सब कुबिणज छांडै जोई, धरम सरावक धारै सोई।।1219।।

अर्थ :– अहिंसा धर्म को हृदय में धारण करके, काष्ठ-लकड़ी आदि का व्यापार नहीं करना चाहिए। श्रावक धर्म को धारण करते हुए इन सब खोटे व्यापारों का त्याग करना चाहिए।

मूलगुणनि में निंदै एई, अष्टम व्रत में निंदे तेई।
बार बार यह बिणज जु निंद्या, इनकूं त्यागें ते नर वंद्या।।1220।।

अर्थ :– मूलगुणों में इनकी निंदा की गई है। आठवें व्रत में भी इन सबको दोषयुक्त कहा है। अनेक स्थानों पर इनकी निंदा की गई है। जो इन सब का त्याग करते हैं, वे मनुष्य वंदनीय हैं।

सुवरण रूपा रतन प्रसस्ता, रुई कपरा आदि सुवस्ता।
बिणज करै तो ए करि मित्रा, सबै तजौ अति ही अपवित्रा।।1221।।

अर्थ :– सोना, चाँदी, रत्न, रुई, कपड़ा आदि पदार्थों का व्यापार करना हे मित्र! प्रशस्त कहा है। जो भी अति अपवित्र पदार्थ हैं, उन सबके व्यापार का त्याग करना चाहिए।

सुनो पाँचमों और अनर्था, जे शठ सुनहिं मिथ्यामत अर्था।
इह कुसूत्र सुणवौ अघ मोटा, और पाप सब यातें छोटा।।1222।।

अर्थ :– अब अनर्थदण्ड व्रत का पाँचवाँ भेद सुनो। जो मूर्ख मिथ्या मत का उपदेश सुनते हैं, खोटे शास्त्रों का श्रवण करते हैं; वह सबसे बड़ा पाप है। जितने और पाप हैं, वे सब पाप इस पाप से छोटे हैं।

पाप सकल उपजें या सेती, उपजै कुबुधि जगत में तेती।
भंडिम बात सुनों मति भाई, बशीकरण आदिक दुखदाई।।1223।।

अर्थ :– समस्त पापों की उत्पत्ति इस पाप से होती है। सब प्रकार की खोटी बुद्धि इस पाप से ही पैदा होती है। हे भाई! इन खोटी बातों को नहीं सुनना चाहिए। वशीकरण आदि बातें अत्यन्त दुखदायी हैं।

वशीकरण मनको करि संता, मन जीत्यौ है ज्ञान अनंता।
काम कथा सुनिवौ नहिं कबहू, भूलै घनें चेत परि अबहू।।1224।।

अर्थ :– संत महापुरुषों ने मन को वश में करके, मन को जीत कर अनन्त ज्ञान को प्राप्त किया है। कभी भी काम–संबंधी कथा नहीं सुननी चाहिए। इसके कारण अनेक जीव मार्ग भूले हुए हैं। उन्हें अब भी चेत जाना चाहिए।

पर निंदा सुनियां अति पापा, निंदक लहै नरक सन्तापा।
कबहुं न करिवौ राग अलापा, दोष त्यागिवौ होय निपापा।।1225।।

अर्थ :– दूसरों की निंदा सुनने से महान पाप होता है। निंदा करने वाले नरक के दुख प्राप्त करते हैं। कभी भी निरन्तर राग का अलाप नहीं करना चाहिए। सारे दोषों को छोड़कर पाप रहित होना चाहिए।

विकथा करिवो जोगि न वीरा, धर्म कथा सुनिवौ शुभ धीरा।
आलवाल बकिवौ नहिं जोग्या, गालि काढिवौ महा अजोग्या।।1226।।

अर्थ :– हे भाई! विकथा नहीं करनी चाहिए। हे धीर! धर्मकथा सुननी चाहिए। उल्टी–सीधी बकवास करनी योग्य नहीं है। गाली–गलौच करना सर्वथा अनुचित है।

बिना जैनवानी सुखदानी, और चित्त धरिवौ नहिं प्रानी।
केवलिश्रुत केवलि की आणा, ताको लागै परम सुजाणा।।1227।।

अर्थ :– जिनवाणी के अतिरिक्त कोई सुखदायी नहीं है। हे प्राणी! जिनवाणी के अतिरिक्त और बात को मन में धारण नहीं करना चाहिए। केवली, श्रुतकेवली की आज्ञा, उनकी वाणी व्रती पुरुष को भली लगती है।

ते पावें निर्वाण मुनीशा, अजरा होवें जोगीखशा।
सीख श्रवण रचना कुकथाको, नहीं करौ जु कदापि वृथा को।।1228।।

अर्थ :– केवलियों की वाणी धारण करके वे मुनिराज निर्वाण पद, अजर–अमर पद को प्राप्त करते हैं। कुकथाओं को सीखना, उनको सुनना, उनकी रचना करना आदि निरर्थक काम नहीं करने चाहिए।

जीव दयामय जिनवर-पंथा, धारै श्रावक अर निरग्रन्था।
काम क्रोध मद छल लोभादी, टारै जैनी जन रागादि।।1229।।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान का मार्ग जीव-दया रूप है। इस मार्ग को श्रावक और मुनि धारण करते हैं। जैन लोग काम, क्रोध, मद, छल, लोभ, राग, द्वेष आदि का नाश करते हैं।

आगम अध्यातम जिनबानी, जाहि निरूपें केवलज्ञानी।।
ताकी श्रद्धा दृढ़ धरि धीरा, करणगोचरी कर वर वीरा।।1230।।

अर्थ :- आगम, अध्यात्म और जिनवाणी जिनका निरूपण केवलज्ञानी ने किया है; हे धीर पुरुष! उस पर दृढ़ श्रद्धा धारण कर, उसे ही कर्ण-गोचर बनाओ अर्थात् उसी का श्रवण करो।

जाकरि छूटै सर्व अनर्था, लहिये केवल आतम अर्था।
धर्म धारणा धारि अखण्डा, तजौ सर्व ही अनरथदण्डा।।1231।।

अर्थ :- जिनेन्द्र वाणी के माध्यम से समस्त अनर्थ छूट जाते हैं। मात्र आत्मप्रयोजन की सिद्धि होती है। अखंड धर्म को धारण करके समस्त अनर्थदण्डों को छोड़ना चाहिए।

इन पंचनि के भेद अनेका, त्यागौ सुबुधी धारि विवेका।
बड़ों अनर्थदण्ड है जूवो, यातें सर्व पाप महिं डूबौ।।1232।।

अर्थ :- इन पाँच भेदों के पुन: अनेक भेद होते हैं। हे बुद्धिमान! विवेक धारण करके इन सबका त्याग करना चाहिए। जुआ सबसे बड़ा अनर्थदण्ड पाप है। इसके कारण जीव सब पापों में डूब जाता है।

या सम और न अनरथ कोई, सकल वरत को नाशक होई।
द्यूत कर्म के विसन न लागै, तब सब पाप पन्थ तें भागै।।1233।।

अर्थ :- इसके समान अन्य कोई अनर्थ नहीं है, यह समस्त व्रतों का नाशक है। जो कभी जुआ, सट्टा आदि खेल नहीं खेलते, वे सब पाप-मार्ग से दूर ही रहते हैं।

द्यूत कर्म में माहिं बढ़ाई, जाकरि बूढ़े भव में भाई।
अनरथ तजिवौ अष्टम वत्ता, तीजो गुणव्रत पाप निवृत्ता।।1234।।

अर्थ :- जुआ खेलने में बड़प्पन नहीं है। जुआ खेलने से प्राणी संसार में डूबता है। सर्व अनर्थों का त्याग कर आठवें व्रत को धारण करना चाहिए। यही तीसरा गुणव्रत पापों का नाश करने वाला है।

ताके अतीचार तजि पंचा, तिन तजियां अघ रहे न रंचा।
पहलो अतीचार कन्दर्पा, ताको भेद सुनों तजि दर्पा।।1235।।

अर्थ :– इस अनर्थदण्डव्रत के पाँचों अतिचारों का त्याग करना चाहिए। इन अतिचारों का त्याग करने से रंचमात्र भी पाप नहीं रहता है। कन्दर्प नामक प्रथम अतिचार है। अहंकार का त्याग करके इसके भेद सुनो।

कामोद्दीपक कुकथा जोई, ताहि तजै बुधजन है सोई।
कौतकुच्य है दोष द्वितीया, ताको त्याग व्रतनि नें कीया।।1236।।

अर्थ :– काम को उत्तेजित करने वाली खोटी कथाओं के श्रवण का बुद्धिमानों को त्याग करना चाहिए। कौत्कुच्य नामक दूसरा दोष है। व्रतियों को इसका त्याग करना चाहिए।

बदन मोरिवौ बांको करिवौ, भौंह नचैवो मच्छर धरिवौ।
नयनादिक को जो हि चलावौ, विषयादिक में मन भटकावौ।।1237।।

इत्यादिक जे भंडिम बातें, तजौ व्रती जे सुव्रत घातें।
कौतकुच्य को अर्थ बखानों, पुनि सुनि तीजा दोष प्रवानों।।1238।।

अर्थ :– बदन को मोड़ना, शरीर को टेढ़ा करना, भौंह ऊपर–नीचे करना, मात्सर्य भाव धारण करना, आँखें चलाना अर्थात् आँखें तिरछी करके इशारा करना, विषयों में मन भटकाना आदि जो भी बुरी क्रियाएँ हैं। व्रती श्रावकों को इन सबका त्याग करना चाहिए; क्योंकि ये सब बातें व्रत को नष्ट करने वाली है। कौत्कुच्य नामक अतिचार में ये सब बातें गर्भित हो जाती हैं। अब तीसरा दोष सुनो।

भोगानर्थक है अति पापा, जाकरि पड़ये दुर्गति तापा।
ताकों सदा सर्वदा त्यागौ, श्री जिनवर के मारग लागौ।।1239।।

अर्थ :– ये भोग अनर्थकारी हैं, अत्यन्त पापरूप हैं। इन विषय–भोगों के निमित्त प्राणी दुर्गतियों के पापों को भोगते हैं; इसलिए इन विषय–भोगों का हमेशा त्याग करना चाहिए और श्री जिनेन्द्र भगवान के मार्ग पर चलना चाहिए।

बहुत मोल दे भोगुपभोगा, सेवै सो पावे दुख रोगा।
भोगुपभोग–थकी यह प्रीती, सो जानों अधि की विपरीती।।1240।।

अर्थ :– जो बहुत धन खर्च करके भोग और उपभोग का सेवन करते हैं, वे अनेक दुखों एवं रोगों को पाते हैं। भोगोपभोग संबंधी यह प्रीति अत्यधिक अप्रशस्त है।

बहुरि भूख तें अधिको भोजन, जल पीवौ जो विनहि प्रयोजन।
शक्ति नहीं अह नारी सेवौ, करि उपाय मैथुन उपजैवौ।।1241।।

अर्थ :– भूख से अधिक भोजन करना, बिना प्रयोजन बार-बार पानी पीना, शक्ति नहीं होते हुए भी स्त्री का सेवन करना और किसी उपाय से मैथुन सेवन करना। ये सब अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार हैं।

वृथा फूल फल पानादिक जे, बाधा करै लहैं शठ अघ जे।
इत्यादिक जे भोगै अर्था, जो सेवौं सो लहै अनर्था।।1242।।

अर्थ :– बिना प्रयोजन जो फूल, फल, पत्र आदि को तोड़ते हैं, बाधा पहुँचाते हैं; वे मूर्ख पाप को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जो पदार्थों को भोगते हैं या सेवन करते हैं, वे सब अनर्थों को ग्रहण करते हैं।

है मौखर्य चतुर्था दोषा, ताहि तजै श्रावक व्रत-पोषा।
जो बाचालपना को भावा, सो मौखर्य कहै मुनिरावा।।1243।।

अर्थ :– अनर्थदण्ड व्रत का चौथा अतीचार मौखर्य है। श्रावक इस अतीचार को छोड़कर व्रत का निर्दोष पालन करते हैं। जो वाचालपने का - यद्वा-तद्वा बोलने का भाव है, उसको मुनिराजों ने मौखर्य कहा है।

बिना विचार्यो अधिको बकिबौ, झूठे वाग्-जाल में छकिवौ।
असमीक्षित अधिकरण जु वीरा, अतीचार पंचम तजि धीरा।।1244।।

अर्थ :– बिना विचारे अधिक बकवास करना, झूठे वाग्-जाल में दूसरों को छकाना। ये सब मौखर्य के अन्तर्गत हैं। हे वीर! असमीक्षित अधिकरण नामक पाँचवें अतीचार को छोड़ना चाहिए।

विन देख्यौ विन पूछ्यौ कोई, घट्टी मूसल उखली जोई।
कछु भी उपकरणा बिन देख्या, बिन पूंछ्यां गृहिवौ न असेखा।।1245।।

अर्थ :– बिना देखे, बिना पोंछे घट्टी, मूसल, उखली आदि उपकरणों को ग्रहण नहीं करना चाहिए एवं काम में नहीं लेना चाहिए। (वर्तमान समय के अनुसार मिक्सी, गैस स्टोव आदि अन्य उपकरण जानना चाहिए। इन्हें जीव-दया पालते हुए, साफ करके काम में लेना चाहिए।)

तब हिंसा टरिहै परवीना, हिंसा-तुल्य अनर्थ न लीना।
ए सब अष्टम व्रत के दोषा, करै जु पापी व्रत कों सोखा।।1246।।

अर्थ :– हे प्रवीण पुरुष! जो सब उपकरणों को देख-शोधकर काम में लेते हैं, वे ही हिंसा

को टाल सकते हैं। हिंसा के समान और कोई अनर्थ नहीं हे। ये सब आठवें अनर्थदण्डव्रत के दोष हैं। इन पापों को करने वाले व्रत को नष्ट करते हैं।

इन तजि से व्रत निर्मल होई, तातें तजै धन्य हैं सोई।
गुणव्रत काहेतें जु कहाये, ताकों अर्थ सुनों मन लाये।।1247।।

अर्थ :– इन अतीचारों का त्याग करने से व्रत निर्मल होता है। जो श्रावक इनका त्याग करते हैं, वे धन्य हैं। इनको गुणव्रत क्यों कहते हैं? मन लगाकर इसके अर्थ को सुनो।

।। अथ चार शिक्षाव्रत वर्णन ।।

पंच अणुव्रत कों गुणकारी, तातें गुणव्रत नाम जु धारी।
जैसें नगर–तनें ह्वै कोटा, तैसें व्रत–रक्षक ए मोटा।।1248।।

अर्थ :– पाँच अणुव्रतों को वृद्धिंगत करने वाले होने से इनको गुणव्रत कहते हैं। जैसे नगर की रक्षा के निमित्त चारों तरफ कोट होता है, वैसे ही पाँच अणुव्रतों की रक्षा ये तीन गुणव्रत करते हैं।

क्षेत्रनि होय बाड़ि जो जैसे, पंचनि के ए तीनूं तैसें।
अब सुनि चउ शिक्षाव्रत मित्रा, जिन करि होवें अष्ट पवित्रा।।1249।।

अर्थ :– जैसे खेत की रक्षा के निमित्त उसके चारों तरफ बाड़ होती है, वैसे ही पाँचों अणुव्रतों की रक्षा के निमित्त ये गुणव्रत होते हैं। हे मित्र! अब चार शिक्षाव्रतों को सुनो। जिनके निमित्त से ये आठों व्रत निर्मलता को प्राप्त होते हैं।

अष्टनि कों शिक्षा–दायक ए, ज्ञानमूल तप व्रत नायक ए।
नवमों व्रत पहिलो शिक्षाव्रत, चित्त धीर धर धारहु अणुव्रत।।1250।।

अर्थ :– आठों व्रतों को शिक्षित करने वाले ये शिक्षाव्रत ज्ञान के मूल और तप–व्रत के नायक हैं। हे भव्य! हृदय में धैर्य धारण कर अणुव्रतों को धारण करो। पहला शिक्षाव्रत नववाँ व्रत है।

सामायिक है नाम जु ताको, धारन करत सुधीजन याकों।
सामायिक शिवदायक होई, या सम नाहिं क्रिया निधि कोई।।1251।।

अर्थ :– सामायिक नामक प्रथम शिक्षाव्रत है। बुद्धिमान इस व्रत को धारण करते हैं। सामायिक व्रत मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है। सामायिक के समान और कोई महान क्रिया नहीं है।

।। सामायिक हेतु सात शुद्धि निरूपण ।।

दोहा

प्रथम हि सातों शुद्धता, भासों श्रुत अनुसार।
जिन करि सामायिक विमल, होय महा अविकार।।1252।।

अर्थ :– आगम के अनुसार पहले सातों शुद्धियों को कहते हैं। इन सात शुद्धियों के निमित्त से सामायिक व्रत निर्मल और विकार रहित होता है।

क्षेत्र काल आसन विनय, मन वच काय गनेहु।
सामायिक की शुद्धता, सात चित्त धरि लेहु।।1253।।

अर्थ :– क्षेत्रशुद्धि, कालशुद्धि, आसनशुद्धि, विनयशुद्धि, मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि – इन सात शुद्धियों के निमित्त से सामायिक व्रत शुद्धता को प्राप्त होता है। इन सात शुद्धियों को चित्त में धारण करना चाहिए।

जहां शब्द कलकल नहीं, बहु जन को न मिलाप।
दंसादिक प्राणी नहीं, ता क्षेत्रे करि जाप।।1254।।

अर्थ :– जिस क्षेत्र में किसी प्रकार की कलकल ध्वनि – आवाज नहीं हो, जहाँ ज्यादा भीड़–भाड़ नहीं हो, जहाँ दंशमशक – मच्छर आदि जीव न हों, ऐसे क्षेत्र में सामायिक–जाप करना चाहिए।

क्षेत्र–शुद्धता इह कही, अब सुनि काल–विशुद्धि।
प्रात दुपहरां सांझ कों, करै सदा सद्बुद्धि।।1255।।

अर्थ :– इस प्रकार क्षेत्रशुद्धि बतलाई गई है। अब कालशुद्धि कहते हैं। प्रातः, मध्याह्न और संध्या काल – इन समयों में निरन्तर सद्बुद्धि को धारण करना चाहिए।

षट् षट् घटिका जो करै, सो उतकृष्टी रीति।
चउ चउ घटिका मध्य है, करै शुद्धि धरि प्रीती।।1256।।

अर्थ :– इन तीनों कालों में जो शुद्धिसहित, प्रीतिपूर्वक छह–छह घड़ी सामायिक करते हैं, वे उत्कृष्ट सामायिक करते हैं। जो चार–चार घड़ी सामायिक करते हैं, वे मध्यम सामायिक करते हैं।

द्वै द्वै घटिका जघनि है, जेती थिरता होइ।
तेती बेला योग्य है, या सम और न होइ।।1257।।

अर्थ :– इन तीनों कालों में जो दो–दो घड़ी सामायिक करते हैं, वे जघन्य सामायिक करते हैं। जितने समय तक परिणामों में स्थिरता रहती है, उतने समय तक सामायिक का काल योग्य माना जाता है। इसके समान और कोई महान व्रत नहीं है।

धरै सुधी एकाग्रता, मन लावै जिन–माहिं।
यहै शुद्धता काल को, समय उलंघै नाहिं।।1258।।

अर्थ :– बुद्धिमान ज्ञानीजन जिन–वचनों में मन लगाकर, मन में एकाग्रता को धारण करते हैं, समय का उल्लंघन नहीं करना, यही कालशुद्धि है।

तीजी आसन–शद्धता, ताको सुनहु विचार।
पल्यंकासन धारिकै, ध्यावै त्रिभुवन सारि।।1259।।

अर्थ :– तीसरी आसनशुद्धि है। विचारपूर्वक उसको सुनो। पल्यंकासन धारण करके तीन लोक में उत्तम – सारभूत जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करना चाहिए।

अथवा कायोत्सर्ग करि, सामायिक करतव्य।
तजि इंद्रिय–व्यापार सहु, ह्वै निश्चल जन भव्य।।1260।।

अर्थ :– हे भव्य प्राणी! पंचेन्द्रियों के विषयभूत समस्त व्यापारों को छोड़कर निश्चल मन से एकाग्रता पूर्वक कायोत्सर्ग मुद्रा को धारण करके सामायिक करनी चाहिए।

विनय–शुद्धता है भया, चौथी जिनश्रुति माहिं।
जिनवचनें एकाग्रता और विकल्पा नाहिं।।1261।।

हाथ जोड़ि आधीन ह्वै, शिर नवाय दे ढोक।
तन मन करि दासा भयौ, सुमरै प्रभु तजि शोक।।1262।।

अर्थ :– जिनागम में चौथी विनयशुद्धि कही है। समस्त विकल्पों को छोड़कर जिन–वचनों में मन को एकाग्र करके, हाथ जोड़कर, सिर नवा कर नमस्कार करना चाहिए। तन और मन से जिनेन्द्र प्रभु का दास–सेवक बन कर शोक छोड़ प्रभु का स्मरण करना चाहिए।

विनय समान न धर्म कोउ, सामायिक को मूल।
अब सुन मन की शुद्धता, ह्वै व्रतसों अनुकूल।।1263।।

अर्थ :– विनय के समान और कोई धर्म नहीं है। यह सामायिक का मूल है। अब जो व्रत के अनुकूल परिणाम हैं, ऐसी मन की शुद्धि सुनो।

मन लावै जिन-रूपसों, अथवा जिन-पद माहिं।
सो मन-शुद्धि जु पंचमों, या में संशय नाहीं।।1264।।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान के स्वरूप का मन में चिन्तवन करना अथवा जिन-चरणों में मन लगाना, यह पाँचवीं मनशुद्धि है। इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है।

छट्ठी वचन-विशुद्धता, बिन सामायिक और।
वचन कदापि न बोलिये, यह भाषें जगमौर।।1265।।

अर्थ :- छठी वचनशुद्धि में सामायिक के अतिरिक्त और कोई वचन नहीं बोलना चाहिए, ऐसा जग-नायक जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

काय-शुद्धता सातमीं, ताको सुनहु विचार।
काय-कुचेष्टा नहिं करै, हस्त-पदादिक सार।।1266।।

अर्थ :- सातवीं कायशुद्धि ध्यानपूर्वक सुनो। सामायिक के समय शरीर संबंधी अन्य कोई क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए। हाथ-पैर आदि अंग-उपांगों को नहीं हिलाना चाहिए।

क्षेत्र-प्रमाण कियौ जितौ, तजे पाप के जोग।
मुनि सम निश्चय होयकै, करै जाप भविलोक।।1267।।

अर्थ :- क्षेत्र की मर्यादा के बाहर पाप के छूट जाने से भव्य प्राणी सामायिक के समय मुनिराज के समान निश्चिंत होकर जाप-ध्यान आदि करते हैं।

राग द्वेष के त्यागतें, समता सब परि होइ।
ममता को परिहार जो, सामायिक है सोइ।।1268।।

अर्थ :- राग-द्वेष का त्याग करने से सब तरफ से समता-मय परिणाम हो जाता है। ममत्व भाव का त्याग कर आत्मा में लीन होना सामायिक है।

सामायिक अहनिशि करें, ते पावें भव-पार।
सामायिक सम दूसरों, और न जग में सार।।1269।।

अर्थ :- जो रात-दिन सामायिक - समताभाव धारण करते हैं, वे संसार से पार होते हैं। सामायिक के समान अन्य कोई इस संसार में सारभूत उत्तम नहीं है।

राति दिवस करनों उचित, बहु थिरता नहिं होय।
तौ हु त्रिकाल न टारिवौ, यह धारै बुध सोय।।1270।।

अर्थ :– सामायिक रात-दिन करना योग्य है। बहुत काल तक स्थिरता - एकाग्रता नहीं रह पाती है तो भी तीन काल की सामायिक को नहीं टालना चाहिए। ज्ञानी जन त्रिकाल सामायिक को अवश्य धारण करते हैं।

सो सामायिक के समय, थिरता गहै सुजान।
अणुव्रत धारै सो सुधि, तौ पनि साधु समान।।1271।।

अर्थ :– जो संत पुरुष सामायिक के समय एकाग्रता को धारण करते हैं, वे ही बुद्धिमान अणुव्रतों को धारण करते हैं। उस समय वे श्रावक साधु के समान हैं।

चाल छन्द

सामायिक सो नहिं मित्रा, दूजो व्रत सोई पवित्रा।
गृहपति कों जतिपति तुल्या, करई इह व्रतजु अतुल्या।।1272।।

अर्थ :– सामायिक के समान और कोई उपकारी नहीं है। इसके समान दूसरा कोई पवित्र व्रत नहीं है। यह अतुल्य-अनुपम व्रत सामायिक के समय गृहस्थ को भी मुनिराजवत् बना देता है।

तसु अतीचार तजि पंचा, जब होई सामायिक संचा।
मन वच तन दु:प्रणिधाना, तिनको सुनि भेद बखाना।।1273।।

अर्थ :– इस व्रत के पाँचों अतीचारों का त्याग करने से सामायिक व्रत का निर्दोष पालन होता है। मन, वचन और काय संबंधी जो दु:प्रणिधान अर्थात् अन्यथा प्रवृत्ति है, उनके भेद कहता हूँ।

जो पाप काज चिंतवना, सो मन को दूषण गिनना।
पुनि पाप वचन को कहिवौ, सो वचन व्यतिक्रम लहिवौ।।1274।।

अर्थ :– पाप-कार्य संबंधी खोटे चिंतवन को मन संबंधी दोष गिनना चाहिए। पापरूप खोटे वचन को बोलना वचन संबंधी दोष समझना चाहिए।

सामायिक समये भाई, जो कर चरणादि चलाई।
सो तन को दोष बतायो, सतगुरु ने ज्ञान दिखायो।।1275।।

अर्थ :– हे भाई! सामायिक के समय जो हाथ-पैरों को चलाता है, वह काय संबंधी दोष बताया है। आचार्यों ने इस प्रकार का कथन किया है।

चौथो जु अनादर नामा, है अतीचार अघ-धामा।
आदर नहिं सामायिक को, निश्चय नहिं जिन-नायक को।।1276।।

अर्थ :– पाप के स्थानभूत अनादर नाम का इस व्रत का चौथा अतीचार है। सामायिक के समय उत्साह – आदरभाव नहीं है तो जिनेन्द्र भगवान के प्रति भी आदरभाव नहीं है।

समरण अनुपस्थाना है, इह पंचम दोष गिना है।
ताको सुनि अर्थ विचारा, सुमरण में भूलि प्रचारा।।1277।।

अर्थ :– स्मृति–अनुपस्थान नामक सामायिक व्रत का पाँचवाँ अतीचार है। चित्त की एकाग्रता नहीं होने से सामायिक पाठ भूल जाना, यह स्मृति–अनुपस्थान नामक अतीचार है।

नहिं पूरो पाठ पढ़ै जो, परिपूरण नाहिं जपै जो।
कछुको कछु बोलै बाल, सो सामायिक नहिं काल।।1278।।

अर्थ :– सामायिक के समय जो पूरा पाठ नहीं पढ़ते, पूरा जाप नहीं करते हैं, कुछ का कुछ बोलते हैं; वह सामायिक नहीं है।

ए पंच अतीचारा हैं, सामायिक में टारा हैं।
समता सब जीवन सेती, संयम शुभ भावनि लेती।।1279।।

अर्थ :– सामायिक के समय इन पाँचों अतीचारों को टालना चाहिए। सब जीवों के प्रति समता भाव धारण करके संयम की शुभ भावना भानी चाहिए।

आरति अरु रौद्र जु त्यागा, सो सामायिक बड़भागा।
सामायिक धारौं भाई, जाकरि भव–पार लहाई।।1280।।

अर्थ :– आर्त–रौद्र ध्यान छोड़कर सामायिक करना यही सच्ची सामायिक है। हे भाई! जो सामायिक व्रत को धारण करते हैं, वे संसार से पार हो जाते हैं।

बेसरी छन्द

क्षमा करौ हमसों सब जीवा, सबसों हमरी क्षमा सदीवा।
सर्व भूत हैं मित्र हमारे, वैर–भाव सब ही सों टारे।।1281।।

अर्थ :– सब जीव मुझे क्षमा करें और मैं सब जीवों को निरन्तर क्षमा करता हूँ। संसार के समस्त प्राणी मेरे मित्र हैं। मैं सभी जीवों से वैरभाव को छोड़ता हूँ।

सदा अकेलो मैं अविनाशी, ज्ञान–सुदर्शनीरूप प्रकाशी।
और सकल हैं जो परभावा, ते सब मोतें भिन्न लखावा।।1282।।

अर्थ :– मैं हमेशा अकेला, अविनाशी हूँ। ज्ञान–दर्शनरूप प्रकाशमान हूँ। समस्त अन्य परभाव मेरी आत्मा से भिन्न रूप ही हैं।

शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अखंडा, गुण अनन्तरूपी परचंडा।
कर्मबन्धते रुलै अनादि, भटको भव–वन माहिं जु वादि।।1283।।

अर्थ :– मैं शुद्ध–बुद्ध, अविरुद्ध, अखंडरूप हूँ। मेरी आत्मा अनन्त गुणों की भंडार है, परन्तु कर्मबंध के कारण यह अनादि से संसार में भटक रही है।

जब देखै अपनों निजरूपा, तब होवो निर्वाण–सरूपा।
या संसार असार मंझारे, एक न सुख की ठौर करारे।।1284।।

अर्थ :– जब अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करेंगे, तब निर्वाण की प्राप्ति होगी। इस असारभूत संसार में सुखरूप एक भी स्थान नहीं है।

यहै भावना नित भावंतो, लहै आपनों भाव अनंतो।
अब सुनि पोसह की विधि भाई, जो दशमो व्रत है सुखदाई।।1285।।

अर्थ :– इस प्रकार की भावना निरंतर भानी चाहिए और आत्मा के अनंत गुणों को प्राप्त करना चाहिए। हे भाई! अब प्रोषधोपवास व्रत की विधि सुनो। यह दसवाँ व्रत सुखदायी है।

दूजा शिक्षाव्रत अति उत्तम, याहि धरें तेई जु नरोत्तम।
न्हावन लेपन भूषन नारी–संगति गंध धूप नहिं कारी।।1286।।

अर्थ :– यह दूसरा शिक्षाव्रत अत्यन्त उत्तम है। जो मनुष्य इस व्रत को धारण करते हैं, वे मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं। इस व्रत के दिन स्नान, लेप, आभूषण, स्त्री आदि की संगति नहीं करनी चाहिए। इत्र, गंध (इत्र आदि सुगंधित पदार्थ), धूप आदि का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए।

दीपादिक उद्योत न होई, जानहु पोसह की विधि सोई।
एक मास में उच उपवासा, द्वै अष्टमि द्वै चउदसि भासा।।1287।।

अर्थ :– दीपादिक का उद्योत नहीं करना चाहिए। यह प्रोषधोपवास की विधि जाननी चाहिए। एक मास में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी के हिसाब से चार उपवास करने चाहिए।

षोडस पहर धारनो पोसा, विधि पूर्वक निर्मल निर्दोसा।
सामायिक की सो जु अवस्था, षोडश पहर धारनी स्वस्था।।1288।।

अर्थ :– सोलह पहर का प्रोषधोपवास धारण करना – इस व्रत की यह विधि निर्मल एवं निर्दोष कही गई है। सामायिक के समय की अवस्था (समता भाव) 16 पहर तक स्वस्थ मन से धारण करनी चाहिए।

पोसह करि निश्चल सामायिक, होवै यह भासे जगनायक।
पोसह सामायिक को जोई, पोसह नाम कहावै सोई।।1289।।

अर्थ :– प्रोषधोपवास करके निश्चल–एकाग्रता से सामायिक होती है। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। जो सामायिक का पोषक है, उसी का नाम पोषह: – प्रोषध है।

जे शठ चउ उपवास न धारें, ते पशु–तुल्य मनुष–भव हारें।
बहुत करै तो बहुत भला है, पोसा तुल्य न और कला है।।1290।।

अर्थ :– जो मूढ़ (महीने में) 4 उपवास नहीं करते हैं, वे पशु के समान अपना मनुष्य भव बिगाड़ते हैं। अगर अधिक व्रत–उपवास करें तो बहुत अच्छा है; क्योंकि प्रोषधोपवास के समान और कोई आत्मकल्याण की कला नहीं है।

चउ टारै चउगति के माहिं, भरमें यामें संशय नाहीं।
द्वै उपवासा पखवारे में, इह आज्ञा जिनमत भारे में।।1291।।

अर्थ :– जो महीने में चार उपवास नहीं करते हैं, वे चारों गतियों में भ्रमण करते हैं। इसमें कोई संशय नहीं है। जिनेन्द्र भगवान के मत की यह आज्ञा है कि एक पक्ष में दो उपवास करने चाहिए।

व्रत की रीति सुनों मन लाये, जाकरि चेतन तत्त्व लखाये।
सप्तमि तेरसि धारन धारै, करि जिनपूजा पातक टारै।।1292।।

अर्थ :– इस व्रत की विधि ध्यानपूर्वक सुनो, जिसके निमित्त से आत्मतत्त्व का दर्शन होता है। सप्तमी और तेरस के दिन इस व्रत की धारणा करके, जिनेन्द्र भगवान की पूजा करके पाप का नाश करना चाहिए।

एक भुक्ति करि दो पहरा तें, तजि आरम्भ रहै एकांते।
नहीं ममता देहादिक सेती, धरि समता बहु गुणहि समेती।।1293।।

अर्थ :– इस दिन दो पहर के बाद एक बार भोजन अर्थात् एकाशन करना चाहिए। आरम्भ का त्याग करके एकांत स्थान में रहना चाहिए। शरीर आदि के प्रति ममत्व भाव नहीं रखना चाहिए। समताभाव धारण करके अनंत गुणों को प्राप्त करना चाहिए।

चउ अहार चउ विकथा टारै, चउ कषाय तजि समता धारै।
धरमो ध्याना रूढ़मती सो, जगत उदास शुद्ध वरती सो।।1294।।

अर्थ :– चारों प्रकार का आहार, चार प्रकार की विकथा एवं चार कषायों को त्याग कर, समताभाव को धारण करना चाहिए। धर्मध्यान में आरूढ़ और संसार से उदासीन ही शुद्ध व्रती माने गये हैं।

स्त्री पशु षंढ बालकी संगति, तजि करि उर में धारे सन्मति।
जिनमन्दिर अथवा वन उपवन, तथा मसान भूमि में इक तन।।1295।।

अर्थ :– स्त्री, पशु, नपुंसक और अज्ञानी की संगति को छोड़कर हृदय में सद्बुद्धि धारण करनी चाहिए। इस व्रत के दिन जिनमन्दिर, वन, उपवन या श्मशानभूमि के समान एकान्त स्थान में रहना चाहिए।

अथवा और ठौर एकान्ता, भजै एक चिद्रूप महंता।
सर्व पाप जोगनि तें न्यारा, सर्व भोग तजि पोसह धारा।।1296।।

अर्थ :– अथवा अन्य किसी एकान्त स्थान में एक आत्मा का चिंतन करना चाहिए। सर्व पाप योगों से भिन्न सर्व भोगों को छोड़कर प्रोषधोपवास व्रत को धारण करना चाहिए।

मन वच काय गुप्ति धरि ज्ञानी, परमातम सुमरे निरमानी।
या विधि धारण दिन करि पूरा, संध्या करै साँझ की सूरा।।1297।।

अर्थ :– हे ज्ञानी! मन, वचन और काया को वश में करके अभिमान रहित होकर परमात्मा का स्मरण करना चाहिए। इस प्रकार की विधि से धारणा के दिन को पूरा करना चाहिए और संध्या में संध्याकालीन सामायिक करनी चाहिए।

पवित्र संस्तरण पद

सुचि संथारे रात्रि गुमावै, निद्रा को लवलेश न आवै।
कै अपनों निजरूप चितारै, कै जिनवर चरणा चित धारै।।1298।।

अर्थ :– परमात्मा का स्मरण करते हुए पवित्र संस्तरण पर रात्रि व्यतीत करनी चाहिए। लेशमात्र भी निद्रा नहीं लेनी चाहिए। रात्रि में आत्मस्वरूप का चिन्तवन करना चाहिए अथवा जिनेन्द्र देव के चरणों में मन लगाना चाहिए।

कै जिनबिम्ब निरखई मन में, भूल न ममता धरई तन में।
अथवा ओंकार अपारा, जपै निरन्तर धीरज धारा।।1299।।

अर्थ :– अथवा जिनबिम्ब का मन में ध्यान करना चाहिए। भूल से भी शरीर में ममत्व भाव धारण नहीं करना चाहिए। अथवा धैर्यपूर्वक निरन्तर ओंकार का जाप करना चाहिए।

नमोकार ध्यावै वर मित्रा, भयो भर्म तें रहित स्वतंत्रा।
जग–विरक्त जिनमत आसक्तो, सकल–मित्र जिनपति अनुरक्तो।।1300।।

अर्थ :– अथवा हे मित्र! णमोकार मंत्र का ध्यान करके भ्रम बुद्धि से रहित स्वतंत्र होना चाहिए। संसार से विरक्त होकर जिनमत में आसक्त होना चाहिए। समस्त प्राणियों के उपकारी जिनेन्द्र देव के चरणों में अनुरक्त होना चाहिए।

कर्म शुभाशुभ को जु विपाका, ताहि विचारै नाथ क्षमाका।
निज कों जानै सबतें भिन्ना, गुण–गुणौ कों मानै जु अभिन्ना।।1301।।

अर्थ :– संसारी प्राणी अपने किये हुए शुभ–अशुभ कर्मों के फलों को भोगते हैं, ऐसा विचार कर क्षमा भाव धारण करना चाहिए। अपनी आत्मा को सबसे भिन्न समझ कर गुण–गुणी के भेद से उस आत्मा को अभिन्न समझना चाहिए।

इम चितवन तें परमसुखी जो, भववासिन सो नाहिं दुखी जो।
पंच परमपद को अति दासा, इन्द्रादिक पद तें हु उदासा।।1302।।

अर्थ :– इस प्रकार के चिन्तवन द्वारा परम सुख को प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि संसारी प्राणी के समान अन्य कोई दुखी नहीं है। इन्द्रादिक पद की भी अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। पंच परम पद को पाने की भावना रखनी चाहिए।

रात्रि धारना की या विधि सों, पूरी करै भयों व्रत निधि सों।
पुनि प्रभात संध्या करि वीरा, दिन उपवास ध्यान धरि धीरा।।1303।।

अर्थ :– धारणा के दिन की रात्रि को इस विधि से व्रत की निधि से परिपूर्ण होकर व्यतीत करनी चाहिए। पुन: हे भाई! प्रात:कालीन सामायिक आदि करके उपवासपूर्वक उस दिन को धर्मध्यान पूर्वक बिताना चाहिए।

पूरो करै धर्मसों जोई, संध्या करै सांझ कों सोई।
निशि उपवास तणी व्रतधारी, पूरी करै ध्यान सों सारी।।1304।।

अर्थ :– उपवास का दिन धर्मध्यान पूर्वक व्यतीत करके सायंकालीन सामायिक आदि करनी चाहिए। उपवास की रात्रि भी ध्यानपूर्वक व्यतीत करनी चाहिए।

करि प्रभात सामायिक सुबुधि, जाके घट में रंच न कुबुधी।
पारण दिवस करै जिनपूजा, प्रासुक द्रव्य और नहिं दूजा।।1305।।

अर्थ :– बुद्धिमान पुन: प्रभात के समय सामायिक करते हैं। जिनके हृदय में रंचमात्र भी खोटी बुद्धि नहीं है, वे पारणा के दिन प्रासुक द्रव्य से जिनेन्द्र भगवान की पूजन करते हैं

अष्ट द्रव्य ले प्रासुक भाई, श्री जिनवर की पूजा रचाई।
पात्र–दान करि दो पहरां जे, करै पारणूं आप घरां जे।।1306।।

अर्थ :– हे भाई! प्रासुक अष्ट द्रव्य लेकर जिनेन्द्र देव की पूजन करनी चाहिए। आहार दान (पात्र–दान) देकर, दोपहर के बाद पारणा करना चाहिए।

ता दिन हू यह रीति बताई, ठौर अहार अल्प जल पाई।
धारन पारन अर उपवासा, तीन दिवस लों वरत निवासा।।1307।।

अर्थ :– पारणा का दिन भी इस विधि से व्यतीत करना चाहिए। एक स्थान में बैठकर अल्प आहार–जल लेना चाहिए। धारणा, पारणा और उपवास – इन तीनों दिनों में इस व्रत को धारण करना चाहिए।

भूमि–शयन शीलव्रत धारै, मन वच तन करि तजै विकारै।
इह उतकृष्टी पोसह विधि है, या पोसह सम और न निधि है।।1308।।

अर्थ :– इस व्रत में भूमि पर शयन करना चाहिए। शीलव्रत को धारण करना चाहिए। मन, वचन और काय संबंधी समस्त विकार भावों को छोड़ना चाहिए। इस प्रकार से यह उत्कृष्ट प्रोषधोपवास की विधि है। इस व्रत के समान अन्य कोई संपत्ति नहीं है।

मध्य जु पोसह बारह पहरा, जघनि आठ पहरा गुण गहरा।
अतीचार याके तजि पंचा, जाकरि छूटै सर्व प्रपंचा।।1309।।

अर्थ :– मध्यम प्रोषधोपवास बारह पहर का और जघन्य प्रोषधोपवास आठ पहर का जानना चाहिए। इस व्रत के पाँचों अतीचारों का त्याग करने से सर्व प्रपंच छूट जाते हैं।

बिन देखी बिन पूंछे वस्तु, ताकौ ग्रहिवौ नाहिं प्रशस्तू।
गहिवौ अतीचार पहलो है, ताकौ त्यागसु अति हि भलो है।।1310।।

अर्थ :– बिना देखे, बिना पूछे कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करनी चाहिए। बिना देखे, बिना पूछे वस्तुओं को ग्रहण करना – यह इस व्रत का प्रथम अतीचार है। इस अतीचार का त्याग करना अत्यन्त अच्छा है।

बिन देखे बिन पूंछे भाई, संथारे नहिं शयन कराई।
अतीचार छूटै तब दूजो, इह आज्ञा धरि जिनवर पूजो।।1311।।

अर्थ :– हे भाई! बिना देखे और बिना पूछे किसी भी जगह शयन नहीं करना चाहिए। यह दूसरा अतीचार छोड़ना चाहिए और जिनाज्ञा धारण कर जिनवर की उपासना करनी चाहिए।

बिन देखे बिन पूंछे जागा, मल मूत्रादि न कर बड़भागा।
करिवौ अतीचार है तीजौ, सर्व पाप तजि पोसह लीजो।।1312।।

अर्थ :– हे बड़भागी! बिना देखे, बिना पूछे किसी भी स्थान पर मल–मूत्रादि का क्षेपण नहीं करना चाहिए। बिना देखे, बिना पूछे मल–मूत्रादिक करने से तीसरे अतीचार संबंधी दोष लगते हैं। सर्व पापों को छोड़कर इस प्रोषधोपवास व्रत को धारण करना चाहिए।

पर्व दिना को भूल न चौथो, अतीचार यह गुणतें चौथो।
बहुरि अनादर पंचम दोषा, पोसह को नहिं आदर पोषा।।1313।।

अर्थ :– पर्व के दिनों का विस्मरण हो जाना, यह चौथा अतिचार है। प्रोषधोपवास व्रत में अनादर भाव होना, यह पाँचवाँ अतीचार है। इस अतीचार से व्रत का पालन नहीं हो सकता है।

ये पाँचों तजियाँ ह्वै पोषा, निरमल निश्चल अति निरदोषा।
सामायिक पोषह जयवन्ता, जिनकर पइये श्रीभगवन्ता।।1314।।

अर्थ :– इन पाँचों अतीचारों का त्याग करने से प्रोषधोपवास व्रत का निर्मल, निश्चल एवं निर्दोष रीति से पालन हो सकता है। सामायिक और प्रोषोधपवास व्रत जयवन्त होओ। इनके निमित्त से भगवत्ता उपलब्ध होती है।

मुनि होने को एहि अभ्यासा, इन सम और न कोई अभ्यासा।
भुक्ति मुक्ति दायक ये व्रत्ता, धन्य धन्य जे करहिं प्रवृत्ता।।1315।।

अर्थ :– मुनिव्रत धारण करने के लिए ये व्रत अभ्यासरूप हैं। इनके समान और कोई अभ्यासरूप व्रत नहीं है। ये व्रत भुक्ति और मुक्ति दोनों को देने वाले हैं। जो इन व्रतों का पालन करते हैं, वे श्रावक धन्य–धन्य हैं।

अब सुनि व्रत्त ग्यारमों मित्रा, तीजो शिक्षाव्रत्त पवित्रा।
जे भोगोपभोग हैं जग के, ते सहु बटमारे जिनमग के।।1316।।

अर्थ :– हे मित्र! ग्यारहवें व्रत रूप तीसरे पवित्र शिक्षाव्रत को सुनो। भोग–उपभोग संबंधी संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब जिनमार्ग पर चलने वालों के लिए लुटेरे हैं।

त्याग राग हैं सकल विनासी, जो शठ इनको होय विलासी।
सो रुलिहै भवसागर माहिं, या में कछु संदेहा नाहीं।।1317।।

अर्थ :– इन समस्त पदार्थों को विनाशीक जानकर इनके प्रति राग–भाव को छोड़ना चाहिए। जो मूर्ख इन भोगों को भोगते हैं, वे विलासी – प्रमादी बन जाते हैं। वे जीव संसार–सागर में परिभ्रमण करते हैं। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

एक अनंतो नित्य निजातम, रहित भोग उपभोग महातम।
भोजन तांबूलादिक भोगा, वनिता वस्त्र आदि उपभोगा।।1318।।

अर्थ :– अपना तो एक आत्मा ही है, जो अविनाशी अनन्तरूप है। यह आत्मा भोग और उपभोग से रहित महान है। भोजन, ताम्बूल आदि भोग हैं। स्त्री–वस्त्र आदि उपभोग हैं।

एक बार भोगन में आवै, ते सहु भोगा नाम कहावै।
बार बार जे भोगे जाई, ते उपभोगा जानहु भाई।।1319।।

अर्थ :– जो पदार्थ एक बार भोगने में आते हैं, वे सब भोग कहलाते हैं। हे भाई! जो बार–बार भोगने में आते हैं, उन्हें उपभोगरूप पदार्थ जानना चाहिए।

भोगुपभोग तनों यह अर्था, इन सम और न कोई अनर्था।
भोगुपभोग तनों परमाणा, सो तीजो शिक्षाव्रत जाणा।।1320।।

अर्थ :– यह भोग और उपभोग का अर्थ है। इनके समान और कोई अनर्थकारी नहीं है। भोग और उपभोग का परिमाण करना, इसको तीसरा शिक्षाव्रत जानना चाहिए।

छता भोग त्यागें बड़भागा, तिनकें इन्द्रादिक पद लागा।
अछता हू न तजें जे मूढ़ा, ते नहिं होय व्रत आरूढ़ा।।1321।।

अर्थ :– विद्यमान भोगों का जो त्याग करते हैं, वे बड़े भाग्यशाली पुरुष हैं। उनको इन्द्र आदि पदों की प्राप्ति होती है। भोगों के नहीं होते हुए जो मूर्ख उन भोगों का त्याग नहीं करते, वे इस व्रत का पालन नहीं कर सकते।

करि प्रमाण आजन्म इनूं का, बहुरि नित्य नियमादि तिनूं का।
गृहपति के थावर की हिंसा, इन करि ह्वै पुनि तज्या अहिंसा।।1322।।

अर्थ :– जीवन पर्यन्त के लिए इन भोग–उपभोग का परिमाण करना चाहिए। उनमें से पुन: प्रतिदिन थोड़ा–थोड़ा त्याग करना चाहिए। गृहस्थों के स्थावर जीवों की हिंसा इनके निमित्त से ही होती है। इनका त्याग करने से अहिंसा का पालन होता है।

त्याग बराबर धर्म न कोई, हिंसा को नाशक यह होई।
अंग विषें नहिं जिनके रंगा, तिनके कैसे होय अनंगा।।1323।।

अर्थ :– त्याग के बराबर अन्य कोई धर्म नहीं है। यह त्याग धर्म हिंसा का नाश करने वाला है। जिनको अपने शरीर में भी राग नहीं है, उनके अनंग की काम की बाधा कैसे हो सकती है।

मुख्य वारता त्याग जु भाई, त्याग समान न और बड़ाई।
त्याग बनै नहिं तोहु प्रमाणा, तामें इह आज्ञा परवाणा।।1324।।

अर्थ :– हे भाई! त्याग ही सर्वोपरि है। त्याग के समान और कोई महान नहीं है। सम्पूर्ण वस्तुओं का त्याग नहीं बन सके तो उनकी मर्यादा कर लेनी चाहिए। यह जिनेन्द्र देव की आज्ञा है।

भोग अजुक्त न करनें कोई, तजने मन वच तन करि सोई।
जुक्त भोग को करि परिमाणा, ताहू में नित नियम बखाणा।।1325।।

अर्थ :– अयोग्य भोगों को नहीं भोगना चाहिए। उनका मन–वचन–काय से त्याग करना चाहिए। योग्य भोगों की भी मर्यादा करनी चाहिए। उसमें भी प्रतिदिन नियम करना चाहिए।

नियम करौ जु घरी हि घरी को, त्याग करौ सबही जु हरी को।
जे अनंत–काया दुखदाया, ते साधारण त्याग कराया।।1326।।

अर्थ :– प्रतिदिन के नियम में भी घड़ी–घड़ी का नियम करना चाहिए। जो अनंतकायिक साधारण वनस्पतियाँ हैं, उन समस्त ही हरी वनस्पतियों का त्याग करना चाहिए।

पत्र जाति अर कन्द समूला, तजनें फूलजाति अघ थूला।
तजनें मद्य मांस नवनीता, सहत त्यागिवौ कहैं अजीता।।1327।।

अर्थ :– पत्ती वाली वनस्पति, मूल सहित कन्द अर्थात् कन्दमूल एवं समस्त फूल जाति जो महान पाप–दायक हैं, उन सबका त्याग करना चाहिए। मद्य, मांस, मक्खन और शहद का सम्पूर्ण त्याग करना चाहिए। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

तजनें कांजी आदि सबैही, अत्थाणा संघाण तजै ही।
तजनें परदारादिक पापा, तजिवौ परधन पर संतापा।।1328।।

अर्थ :– कांजी का त्याग करना चाहिए। सब प्रकार के अत्थाण और संधाण का त्याग करना चाहिए। पर–दारा सेवन रूप पाप का त्याग करना चाहिए। ताप–दायक पर–धन का त्याग करना चाहिए।

इत्यादिक जे वस्तु विरुद्धा, तिनकों त्यागै सो प्रतिबुद्धा।
सब ही तजिवो महा अशुद्धा, अर जे भोगा हैं अविरुद्धा।।1329।।

अर्थ :– ज्ञानीजनों को जो नियम विरुद्ध वस्तुएँ हैं, उन सबका त्याग करना चाहिए और जो भोग अविरुद्ध हैं; परन्तु महा अशुद्ध हैं, उनका भी त्याग करना चाहिए।

भोग भाव में नाहिं भलाई, भोग त्यागि हूजै शिवराई।
अपने गुण पर–जाय स्वरूपा, तिनमें राचै रहित विरूपा।।1330।।

अर्थ :– भोगों को भोगने के भाव में किसी प्रकार की भलाई नहीं है। भोगों का त्याग करके मोक्षमार्ग पर चलना चाहिए। विकार भाव रहित होकर अपने गुण, पर्याय और आत्मस्वरूप का ही विचार करना चाहिए।

वस्त्राभरण व्याहिता नारी, खान पान निरदूषण कारी।
इत्यादिक जे अविरुध भोगा, तिनहू को जाने ए रोगा।।1331।।

अर्थ :– वस्त्र, आभरण, विवाहिता स्त्री, निर्दोष खान–पान संबंधी वस्तुएँ आदि जो विरोध रहित हैं; उन वस्तुओं को भी रोग–तुल्य जानना चाहिए।

जो न सर्वथा तजिया जाइ, नौ परमाण करौ बहु भाई।
सर्व त्यागिवों कहें विवेकी, गृहपति के कछु इक अविवेकी।।1332।।

तौ लगि भोगुपभोगहि अल्पा, विधिरूपा धारै अविकल्पा।
मुनि के खान–पान इकवारा, सोहू दोष छियालिस टारा।।1333।।

अर्थ :– हे भाई! सर्वथा यदि वस्तुओं का त्याग न किया जाये तो उनका परिमाण तो अवश्य करना चाहिए। विवेकी जन तो उनका सम्पूर्ण त्याग कर देते हैं। गृहस्थियों में कोई–कोई अविवेकी भोग–उपभोग की अल्प सामग्रियों को उपयोग में ले करके, धीरे–धीरे परम्परा से विकल्प रहित अवस्था को प्राप्त करते हैं। मुनिराज दिन में एक ही बार आहार ग्रहण करते हैं। वह भी 46 दोषों को टालकर ग्रहण करते हैं।

और न एको है जु विकारा, तातैं महाव्रती अणगारा।
तजै भोग–उपभोग सबै ही, मुनिवर का शुभ विरद फबै ही।।1334।।

अर्थ :– मुनिराजों में एक भी विकार भाव नहीं होता। महाव्रती अनगार सर्व प्रकार के भोग–उपभोगों का त्याग करते हैं, इसलिए सब मुनि महाराज की उज्ज्वल कीर्ति का गान करते हैं।

शक्ति प्रमाण गृही हू त्यागैं, त्याग बिना व्रत में नहिं लागै।
राति दिवस के नेम विचारै, यम–नियमादिक धरै अघ टारै।।1325।।

अर्थ :– शक्ति के अनुसार गृहस्थी भी त्याग करते हैं। त्याग के बिना व्रत का पालन नहीं होता। रात-दिन के नियमपूर्वक यम-नियम को धारण कर पाप का नाश करना चाहिए।

यम कहिये आजन्म जु त्यागा, नियम नाम मरजादा लागा।
यम नियमादिक बिन नर देही, पसुहू तें मूरख गनि एही।।1336।।

अर्थ :– यम शब्द से आजीवन त्याग और नियम शब्द से काल की मर्यादापूर्वक त्याग समझना चाहिए। यम और नियम के बिना मानव जीवन को पशु से भी मूर्ख गिना गया है।

खान पान दिन ही को करनों, रात्रि चतुर्विध हार हि तजनों।
नारी सेवे रैनि विषें ही, दिन में मैथुन नाहिं फबै ही।।1337।।

अर्थ :– खान-पान दिन में ही करना चाहिए। रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना चाहिए। स्त्री-सेवन रात्रि में ही करना चाहिए। दिन में मैथुन सेवन करना उचित नहीं है।

निसि ही नितप्रति करनों नाहीं, त्याग विराग विवेक धराहीं।
नियम माहिं करनों नित नेमा, सीम माहिं सीमा को प्रेमा।।1338।।

अर्थ :– रात्रि में भी प्रतिदिन मैथुन सेवन नहीं करना चाहिए। इसको भी त्याग करके वैराग्य और ज्ञान को धारण करना चाहिए। नियम में भी और नियम करना चाहिए। की हुई मर्यादा में भी और मर्यादा करनी चाहिए।

करि प्रमाण भोगनिको भाई, इन्द्रिन को नहिं प्रबल कराई।
जैसै फणि कूं दूध जु प्यावौ, गुणकारी नहिं विष उपजावौ।।1339।।

अर्थ :– हे भाई! भोगों की मर्यादा कर इन्द्रियों को प्रबल नहीं होने देना चाहिए। सर्प को दूध पिलाना गुणकारी नहीं है; क्योंकि सर्प उसका विष ही उगलता है।

जो तजि भोग भाव अधिकाई, अलप भोग संतोष धराई।
सो बहुती हिंसा तें छूट्यौ, मोह वटें नहिं जाय जु लूट्यौ।।1340।।

अर्थ :– अधिक भोगों का त्याग करके अल्प भोगों में संतोष धारण करना चाहिए। इसमें बहुत हिंसा से बच जाते हैं तथा मोहरूपी बटमार से नहीं लूटे जाते हैं।

दया भाव उपजौ घट ताके, भोग भाव की प्रीति न जाके।
भोगुपभोग पाप के मूला, इन कूं सेवें ते भ्रम मूला।।1341।।

अर्थ :– जिनकी भोग-उपभोग के प्रति रुचि नहीं है, उनके हृदय में दयाभाव प्रकट होता है।

भोग-उपभोग पाप के मूल हैं। इनका सेवन करने वाले नियम से संसार में परिभ्रमण करते हैं।

दोहा

हिंसा के कारण कहे, सर्व भोग उपभोग।
इनको त्याग करै सुधी, दयावन्त भवि लोग।।1342।।

अर्थ :- समस्त भोग-उपभोग हिंसा के कारण हैं; इसलिए हे दयावान, भव्यप्राणी! बुद्धिमानों को इनका त्याग करना चाहिए।

सो श्रावक मुनि सारिखा, भोग अरुचि परणाम।
समता धरि सब जीव परि, जिनके क्रोध न काम।।1343।।

अर्थ :- जिन श्रावकों को भोगों के प्रति अरुचि परिणाम हैं, वे श्रावक मुनि के समान माने गये हैं। उनका सब जीवों के प्रति समता भाव होता है, क्रोध और काम नहीं होते।

भोगुपभोग प्रमाण सम, नहीं दूसरो और।
तृष्णा को क्षयकार जो, है व्रत्तनि सिरमौर।।1344।।

अर्थ :- भोगोपभोग परिमाण व्रत के समान और कोई व्रत नहीं है। यह व्रत सब व्रतों का सिरमौर है। यह व्रत तृष्णा का नाश करने वाला है।

अतीचार या व्रत्त को, तजो पंच दुखदाय।
तिन तजियां व्रत विमल ह्वै, लहियै श्री जिनराय।।1345।।

अर्थ :- इस व्रत के दुखदायक पाँचों अतीचारों का त्याग करना चाहिए। इन अतीचारों का त्याग करने से ही व्रत निर्मल होता है एवं परम्परा से जिनेन्द्र देव की पदवी प्राप्त होती है।

नियम कियौ जु सचित्त को, भूलि करै आहार।
सो पहलो दूषण भयो, तजि हूजे अविकार।।1346।।

अर्थ :- सचित्त पदार्थों का त्याग करने के बाद भूल से यदि उनको ग्रहण कर लेते हैं तो प्रथम अतीचार संबंधी दोष लगता है। इस अतीचार का त्याग करके विकार रहित होना चाहिए।

प्रासुक वस्तु सचित्त सों, मिश्रित कबहूँ होय।
उष्ण जले सीतल उदक, मिल्यो न लेवौ कोय।।1347।।

अर्थ :- कभी प्रासुक वस्तुएँ भी सचित्त पदार्थों से मिश्रित हो जायें तो दूसरे अतीचार संबंधी दोष लगता है। उष्ण जल में शीतल जल मिला हुआ हो तो उस जल को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

ग्रहें दोष दूजो लगे, अब सुनि तीजो दोष।
जो सचित्त सम्बन्ध ह्वै, तजो पाप को पौष।।1348।।

अर्थ :– यदि इस मिले हुए जल को ग्रहण करते हैं तो दूसरे अतीचार संबंधी दोष लगता है। अब तीसरा अतीचार सुनो। जो सचित्त पदार्थों से ढकी हुई वस्तुएँ हैं, उन पाप की पोषक वस्तुओं का भी त्याग करना चाहिए।

पातल दूनां आदि जे, वस्तु सचित्त अनेक।
तिन सों ढक्यौ अहार जो, जीमें सो अविवेक।।1349।।

अर्थ :– पत्तल, दोना आदि अनेक प्रकार के सचित्त पदार्थ हैं। इन सचित्त पदार्थों से ढके हुए आहार को जो ग्रहण करते हैं, वे अविवेकी प्राणी हैं।

सुनि चौथो दूषण सुधी, नाम जु अभिषव जास।
या को अर्थ अयोग्य है, ते न भखै जिनदास।।1350।।

अर्थ :– हे बुद्धिमान! अब चौथा अतीचार सुनो, जिसका नाम अभिषव है। अभिषव का अर्थ अयोग्य वस्तुएँ हैं। जिनचरण सेवक इन वस्तुओं का भक्षण नहीं करते हैं।

अथवा काम–उद्दीपका, भोजन अति हि अजोगि।
ते कबहूँ करने नहीं, वरजें देव अरोगि।।1351।।

अर्थ :– अथवा अभिषव का अर्थ गरिष्ठ पदार्थ है। ये पदार्थ काम को उत्तेजित करने वाले होने से भोजन के लिए अत्यन्त अयोग्य हैं। इन पदार्थों को काम में नहीं लेना चाहिए; क्योंकि रोग रहित जिनेन्द्र देव ने इन पदार्थों को वर्जनीय (त्याग करने योग्य) बताया है।

बहुरि तजौ बुध पंचमों, अतीचार अघरूप।
दु:पक्वों आहार जो, अव्रत को जु स्वरूप।।1352।।

अर्थ :– हे ज्ञानीजन! पापरूप पाँचवें अतीचार का भी त्याग करना चाहिए। अर्ध पके हुए, अधिक पके हुए भोजन को दु:पक्व आहार में गिना गया है, जो व्रतियों को ग्रहण करने योग्य नहीं है।

अति दुर्जर आहार जो, वस्तु गरिष्ठ सु होय।
नहीं योग्य जिनवर कहैं, तजें धन्य हैं सोय।।1353।।

अर्थ :– दु:पाच्य एवं गरिष्ठ वस्तुओं को जिनेन्द्र देव ने योग्य नहीं बतलाया है। जो इन अतीचारों का त्याग करते हैं, वे श्रावक धन्य हैं।

कछु पक्यो कछु अपक ही, दुख सों पचै जु कोय।
सो नहिं लेवो व्रतनि कों, यह जिन आज्ञा होय।।1354।।

अर्थ :– कुछ पके हुए एवं कुछ कच्चे भोजन का बड़ी कठिनाई से पाचन होता है, इसलिए व्रतियों को ऐसे भोजन को नहीं ग्रहण करना चाहिए। यह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा है। जो भोजन बहुत कठिनाई से पचे, वह भोजन नहीं लेना चाहिए।

अतीचार पाँचों तज्या, व्रत निर्मल ह्वै वीर।
निर्मल व्रत्त प्रभाव तैं, लहै ज्ञान गम्भीर।।1355।।

अर्थ :– हे भाई! इन पाँचों अतीचारों का त्याग करने से व्रत निर्मल होता है। पवित्र व्रत के प्रभाव से गम्भीर ज्ञान – केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

चाल छन्द

धरि वरत बारमो मित्रा, जो अतिथि–विभाग पवित्रा।
इह चौथो शिक्षाव्रत्ता, जे या कों करें प्रवृत्ता।।1356।।
ते पावें सुर शिव–भूती, वा भोगभूमि परसूती।
सुनि या व्रत की विधि भाई, जा विधि जिन सूत्र बताई।।1357।।

अर्थ :– हे मित्र! अतिथि–संविभाग रूप पवित्र बारहवें व्रत को धारण करना चाहिए। यह चौथा शिक्षाव्रत है। जो इनका पालन करते हैं, वे स्वर्ग एवं मोक्ष की संपदा को प्राप्त करते हैं अथवा भोगभूमि के सुखों को प्राप्त करते हैं। हे भाई! जैसी जिनागम में इस व्रत की विधि बताई है, उसके अनुसार सुनो।

त्रिविधा हि सुपात्रा जग में, जग को नौका जिन–मग में।
महाव्रत अणुव्रत समदृष्टि, जिनके घट अमृतवृष्टि।।1358।।

अर्थ :– जिनमार्ग में संसार–समुद्र को पार करने के लिए नौका–समान तीन प्रकार के सुपात्र बताये गये हैं – 1. महाव्रती, 2. अणुव्रती एवं 3. असंयत सम्यग्दृष्टि। इन जीवों के हृदय में धर्म रूपी अमृत की वर्षा होती है।

तिनको नवधा भक्ति तें, श्रद्धादि गुणनि जुक्ती तैं।
देवौ चउ दान सदा जो, सो व्रत द्वादशमो जो।।1359।।

अर्थ :– इन सुपात्रों को श्रद्धा आदि सात गुण युक्त नवधा भक्तिपूर्वक दान देना चाहिए।

प्रतिदिन इन सुपात्रों को चार प्रकार का दान देना चाहिए। यह बारहवाँ अतिथि-संविभाग नाम का व्रत जानना चाहिए।

चउ दान सबों में सारा, इनसे नहिं दान अपारा।
भोजन औषध अरु ज्ञाना, पुनि दान अभय परवाना।।1360।।

अर्थ :- ये चारों दान सब में श्रेष्ठ - साररूप हैं। इनके समान अन्य कोई अनुपम दान नहीं है। 1. आहारदान, 2. औषधदान, 3. ज्ञानदान, 4. अभयदान - ये चार दान कहे हैं।

भोजन-दानहिं धन पावै, औषधि करि रोग न आवै।
श्रुत-दान बोध जु लहाई, इह आज्ञा श्री जिन गाई।।1361।।

अर्थ :- आहारदान से धन-संपत्ति की प्राप्ति होती है। औषधदान से नीरोग शरीर की प्राप्ति होती है। ज्ञानदान से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। श्री जिनेन्द्र भगवान ने इन दानों की यह महिमा बताई है।

अभया है अभय प्रदाता, भाषें प्रभु केवल ज्ञाता।
इक भोजन दानें माहीं, चउ दान सधैं शक नाहीं।।1362।।

अर्थ :- अभयदान अभय अर्थात् भय रहित अवस्था को प्राप्त कराने वाला है, ऐसा केवलज्ञानी भगवान ने कहा है। एक आहारदान में चारों प्रकार के दान गर्भित हो जाते हैं। इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है।

नहिं भूख समान न व्याधी, भव माहिं बड़ी उपाधी।
तातें भोजन सों अन्या, नहिं दूजी औषध धन्या।।1363।।

अर्थ :- भूख के समान अन्य कोई व्याधि नहीं है। संसार में यह सबसे बड़ी उपाधि है, इसलिए भोजन के समान अन्य कोई औषधि नहीं है।

पुनि भोजन-बल करि साधू, करई जिन सूत्र अराधू।
भोजन तें प्राण अधारा, भोजन तें थिरता धारा।।1364।।
तातें चउ दान सधे हैं, दानें करि पुण्य बँधे हैं।
सो सहु बांछा तजि ज्ञानी, होवै दानी गुण-खानी।।1365।।

अर्थ :- पुन: भोजन के निमित्त से साधु ज्ञान की आराधना करते हैं। भोजन ही प्राणों का आधार है। भोजन से स्थिरता आती है। इस प्रकार आहारदान से चारों दान सध जाते हैं। चार प्रकार के दान से पुण्यबंध होता है। फिर भी ज्ञानीजन पुण्यबंध की वांछा नहीं करते हैं।

इह भव पर भव को भोगा, चाहै नहिं जानहिं रोगा।
दे भक्ति करि सुपात्रन कों, निजरूप ज्ञान गात्रनि कों।।1366।।

अर्थ :– दानी जीव इस भव और परभव में दान के फलस्वरूप भोगों को प्राप्त करते हैं, परन्तु उन भोगों को रोग के समान जानकर ज्ञानी जन उन भोगों की इच्छा नहीं करते हैं। भक्तिपूर्वक सुपात्रों को दान देकर आत्मस्वरूप का ज्ञान करना चाहिए।

तिंह रतनत्रय में संघो, थाप्यौ चउविधि को नर संघो।
सो पावै मुक्ति विमुक्ती, इह केवलि भाषित उक्ती।।1367।।

अर्थ :– इस प्रकार चतुर्विध संघ – मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका – रत्नत्रय के संघ से स्थापित होता है और फलस्वरूप भुक्ति (भोग) और मुक्ति (मोक्ष) वास करता है। यह केवली भाषित कथन है।

नहिं दान समान जु कोई, सब व्रत को मूल जु कोई।
या में भविजन चित धारों, संसारपार जो चाहो।।1368।।

अर्थ :– समस्त व्रतों की जड़ के समान दान–सदृश और कोई नहीं है। हे भव्य प्राणी! यदि तुम संसार से पार होना चाहते हो तो दान में मन को लगाओ।

जो भाषे त्रिविधा पात्रा, तिनिमें मुनि उत्तम पात्रा।
है मध्यम पात्र अणुव्रती, समदृष्टो जघन्य अव्रती।।1369।।

अर्थ :– जो तीन प्रकार के सुपात्र बताये हैं; उनमें मुनिराजों को उत्तम पात्र, अणुव्रती को मध्यम पात्र और अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र बताया है।

इन तीननि के नव भेदा, भाषैं गुरु पाप–उछेदा।
उत्तम में तीन प्रकारा, उत्कृष्ट मध्य लघु धारा।।1370।।

अर्थ :– इन तीन सुपात्रों के नौ भेद होते हैं। ऐसा पापनाशक गुरु ने बताया है। उत्तम पात्र के तीन भेद हैं – 1. उत्कृष्ट, 2. मध्यम और 3. जघन्य।

उत्तम तीर्थंकर साधू, मध्य सु गणधर आराधू।
तिनतें लघु मुनिवर सर्वे, जे तप व्रत सूं नहिं गर्वे।।1371।।

अर्थ :– उत्तम पात्र के उत्कृष्ट भेद में तीर्थंकर देव को, मध्यम भेद में गणधर को एवं जघन्य भेद में सर्व मुनिराजों को लिया गया है। जो तप, व्रत, आदि धारण करते हुए गर्व से रहित होते हैं।

ए त्रिविध उत्तमा पात्रा, तप संजम शील सुमात्रा।
तिनकी करि भक्ति सु वीरा, उतरै जा करि भव-नीरा।।1372।।

अर्थ :- ये तीन प्रकार के उत्तम पात्र हैं; जो तप, संयम और शील से युक्त होते हैं। उनकी भक्ति करने से भव-समुद्र से पार हो जाते हैं।

मुनिवर होवै निरग्रंथा, चालै जिनवर के पंथा।
जे विरकत भव-भोगनि तें, राग न द्वेष न लोगनि तें।।1373।।

अर्थ :- मुनिराज निर्ग्रन्थ होते हैं। वे जिनेन्द्र देव के मार्ग पर चलते हैं। वे संसार-भोगों से विरक्त होते हैं। उनको संसारी जनों के प्रति राग-द्वेष नहीं होता है।

विश्राम आप में पायौ, काहू में चित्त न लायौ।
रहनों नहिं एकै ठौरा, करनों नहिं कारिज औरा।।1374।।

अर्थ :- वे अपने आप में रहते हैं, निज स्वरूप में विश्राम करते हैं। उनका आत्मा के सिवाय और किसी में चित्त नहीं लगता है। वे एक स्थान पर नहीं रहते एवं अन्य कोई कार्य नहीं करते हैं।

धरनूं निज-आतम-ध्यान, हरनूं रागादि अज्ञान।
नहिं मुनि से जग में कोई, उतरें भव-सागर सोई।।1375।।

अर्थ :- वे मुनिराज आत्मध्यान द्वारा रागादि अज्ञान भावों का नाश करते हैं। मुनिराजों के समान संसार में अन्य कोई महान नहीं है। वे ही संसार-समुद्र से पार होते हैं।

दोहा

मोह कर्म की प्रकृति सहु, होय जु अट्ठाईस।
तिनमें पन्द्रह उपशमें, तब होवै जोगीस।।1376।।

अर्थ :- मोहनीय कर्म की 28 प्रकृतियाँ हैं। उनमें 14 प्रकृतियों के उपशम से मुनि अवस्था प्राप्त होती है।

पन्द्रा रोकें मुनिव्रतें, ग्यारा अणुव्रती रोध।
सात जु रोकैं पापिनी, सम्यकदरशन बोध।।1377।।

अर्थ :- 14 प्रकृतियों के रुकने से मुनिव्रत की प्राप्ति होती है। 11 प्रकृतियों के (अनन्तानुबन्धी 4, अप्रत्याख्यान 4, दर्शन मोहनीय की 3) रुकने से अणुव्रत की प्राप्ति होती है। 7 प्रकृतियों के (दर्शन मोहनीय 3, अ.नं. 4) रुकने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।

क्रोध मान छल लोभ ए, जीवों को दुखदाय।
सो चंडाल जु चौकरी, वरजें श्री जिनराय।।1378।।

अर्थ :– क्रोध, मान, माया और लोभ – ये जीवों को दुख देने वाले हैं। इस चंडाल–चौकड़ी को श्री जिनेन्द्र भगवान ने वर्जित किया है।

अनन्तानुबन्धी प्रथम, द्वितीय अप्रत्याख्यान।
प्रत्याख्यान जु तीसरी, अर चौथी संजुलान।।1379।।

तिनमें तीन जु चौकरी, अर तीन मिथ्यात।
ए पंदरा प्रकृत्तियाँ, तजि व्रत होई विख्यात।।1380।।

अर्थ :– अनन्तानुबन्धी 4 कषाय, अप्रत्याख्यान 4 कषाय, प्रत्याख्यान 4 कषाय, संज्वलन 4 कषाय – इस प्रकार 16 कषाय हैं। इन 16 कषायों में से प्रथम तीन चौकड़ी और दर्शन मोहनीय की 3 – इस प्रकार 15 प्रकृतियों का नाश करने से व्रत का पालन हो सकता है।

पहली दूजी चौकरी, बहुरी मिथ्यात जु तीन।
ए ग्यारा प्रकृती गया, श्रावक व्रत लवलीन।।1381।।

अर्थ :– दर्शन मोहनीय कर्म की 3 प्रकृति और अनन्तानुबन्धी 4 कषाय और अप्रत्याख्यान 4 कषाय – इन 11 प्रकृतियों के जाने से श्रावक व्रत का पालन होता है।

प्रथम चौकरी दूरि ह्वै, टरैं तीन मिथ्यात।
ए सातों प्रकृति टर्यां, उपजे समकित भ्रात।।1382।।

अर्थ :– दर्शन मोहनीय कर्म की 3 प्रकृति, अनन्तानुबन्धी 4 कषाय – इन 7 प्रकृतियों के जाने से हे भाई! सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।

तीन चौकरी मुनिव्रतें, द्वै अणुव्रत्त विधान।
पहली रोकें समकिती, चौथी केवलज्ञान।।1383।।

अर्थ :– कषाय संबंधी पहली तीन चौकड़ी जाने पर महाव्रत, पहली दो चौकड़ी जाने पर अणुव्रत, पहली चौकड़ी जाने पर सम्यग्दर्शन और चौथी चौकड़ी जाने के बाद केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

तीन मिथ्यात हतें महा, मुनिवर अर अणुव्रत्त।
अव्रत सम्यक् कूं हतें, करहिं अधर्म प्रवृत्त।।1384।।

अर्थ :– तीन मिथ्यात्व प्रकृतियाँ महाव्रत, अणुव्रत और सम्यक्त्व का घात करती हैं और अधर्म में प्रवृत्ति कराती हैं।

प्रथम मिथ्यात अबोध अति, जहां न निज–परबोध।
अघ अधर्म विचार नहिं, तीव्र लोभ अर क्रोध।।1385।।

अर्थ :– प्रथम मिथ्यात्व प्रकृति अत्यन्त अज्ञानदायक है। उस अवस्था में स्व और पर का बोध नहीं होता है, धर्म–अधर्म का विचार नहीं रहता है एवं तीव्र लोभ और तीव्र क्रोध विद्यमान रहता है।

दूजी मिश्र मिथ्यात है, कछु इक बोध प्रबोध।
तीजी सम्यक् प्रकृति जो, वेदक सम्यक बोध।।1386।।

अर्थ :– दूसरी सम्यग्मिथ्यात्व नामक प्रकृति है। इस प्रकृति के उदय में जीव के कुछ ज्ञानरूप एवं कुछ अज्ञानरूप परिणाम होते हैं। तीसरी सम्यक्त्व नामक प्रकृति है। इस प्रकृति के उदय में जीव को वेदक सम्यक्त्व होता है।

कछु चंचल कछु मलिन जो, सर्वघाति नहिं होइ।
तीन माहिं इह शुभ तहूँ, वरजनीक है सोई।।1387।।

अर्थ :– यह सम्यक्त्व प्रकृति सर्वघाति प्रकृति नहीं होने से इसके उदय में सम्यग्दर्शन तो होता है, परन्तु इसके निमित्त से सम्यग्दर्शन में चल, मल और अगाढ़ दोष लगते हैं। दर्शन मोहनीय की 3 प्रकृतियों में यह सम्यक्त्व प्रकृति शुभ है, परन्तु फिर भी तीनों छोड़ने योग्य ही हैं।

ए मिथ्यात जु तीन विधि, कहे सूत्र अनुसार।
सुनों चौकरी बात अब, चारि चारि परकार।।1388।।

अर्थ :– दर्शन मोहनीय कर्म के ये तीन भेद आगम के अनुसार कहे हैं। अब कषाय रूप चौकड़ियों को कहते हैं, जिनमें सबके चार–चार भेद हैं।

क्रोध जु पाहन–रेख सो, पाहन–थंभ जु मान।
माया बांस जु जड़–समा, अति परपंच बखान।।1389।।

अर्थ :– कषाय की प्रथम चौकड़ी के अन्तर्गत पहला अनन्तानुबन्धी क्रोध पाषाण में उकेरी गई रेखा–समान है, जो कभी मिटती नहीं है। दूसरा अनन्तानुबन्धी मान पत्थर के स्तंभ–समान है, जो टूट तो जाये, पर झुकता नहीं है। तीसरी अनन्तानुबन्धी माया बाँस की जड़–समान है, जो अत्यन्त छल युक्त बताई गई है।

लोभ जु लाखा रंग सो, नरक-योनि दातार।
भरमावै जु अनंत भव, प्रथम चौकरी भार।।1390।।

अर्थ :- चौथा अनन्तानुबन्धी लोभ लाख के रंग-समान है, जो कभी मिटता नहीं है। ये चारों कषाय नरक गति को प्राप्त कराने वाली है एवं अनन्त भवों तक भटकाने वाली हैं। इस प्रकार प्रथम चौकड़ी रूप अनन्तानुबन्धी 4 कषाय महान दुखदायी हैं।

हल रेखा सम क्रोध है, अस्थि-थंभसम मान।
माया मीढा सींग सी, तिथि षट् मास प्रमान।।1391।।

अर्थ :- कषाय की दूसरी चौकड़ी के अन्तर्गत पहला अप्रत्याख्यान क्रोध हल-रेखा के समान है। दूसरा अप्रत्याख्यान मान हड्डी के स्तम्भ-समान है। तीसरी अप्रत्याख्यान माया मेढ़े के सींग-समान है। इन 4 कषायों की अवधि छह माह तक बताई है।

रंग आल के सारखो, लोभ पशुगति दाय।
इह दूजी है चौकरी, अप्रत्याख्यान कहाय।।1392।।

अर्थ :- चौथा अप्रत्याख्यान लोभ हरताल के रंग-समान है। ये चारों कषाय तिर्यंच गति को प्राप्त कराने वाली हैं। अप्रत्याख्यानरूप 4 कषायों को कषाय की दूसरी चौकड़ी कही गई है।

रथ रेखा सम क्रोध है, काठथंभ-सो मान।
गोमूत्र की वक्रता, ता सम माया जान।।1393।।

अर्थ :- कषाय की तीसरी चौकड़ी के अन्तर्गत पहला प्रत्याख्यान क्रोध धूल की रेखा समान है। दूसरा प्रत्याख्यान मान लकड़ी के स्तम्भ-समान है। तीसरी प्रत्याख्यान माया गोमूत्र की वक्रता-समान है।

लोभ कसूमा रंगसो, नरभव-दायक होय।
दिन पंदरा लग वासना, तृतीय चौकरी सोई।।1394।।

अर्थ :- चौथा प्रत्याख्यान लोभ कुसुम्भी रंग से रँगे हुए वस्त्र-सदृश है। इन चारों कषायों के निमित्त से मनुष्य भव की प्राप्ति होती है। तीसरी चौकड़ी रूप प्रत्याख्यान कषायों का वासना काल 15 दिन बताया गया है। इससे आगे यह कषाय नहीं रह सकती है।

जलरेखा सो रोस है, बेंत लता सो मान।
माया सुरभि चमर सी, लोभ पतंग समान।।1395।।

अर्थ :– कषाय की चौथी चौकड़ी के अन्तर्गत पहला संज्वलन क्रोध जलरेखा–सदृश है। दूसरा संज्वलन मान बेंत की लकड़ी के समान है। तीसरी संज्वलन माया चमरी गाय के बालों के समान है। चौथा संज्वलन लोभ पतंग–समान है।

तथा हरिद्रा रंग सो, सुरगति–दायक जेह।
एक मुहूरत वासना, अन्त चौकरी लेह।।1396।।

अर्थ :– तथा हल्दी के समान है (लोभ) संज्वलन संबंधी 4 कषायों के निमित्त से देव गति की प्राप्ति होती है। संज्वलन संबंधी इन 4 कषायों का वासना काल एक मुहूर्त का है।

कही चौकरी चारि ये, च्यार हि गति कों मूल।
चारि चौकरि परिहरै, करै करम निरमूल।।1397।।

अर्थ :– कषायों की चार चौकड़ियों का कथन किया। ये चारों प्रकार की कषायें चार गतियों की कारण हैं। चार चौकड़ियों का नाश करने से कर्मों का जड़–मूल से नाश हो जाता है।

मुनि नें तीन जु परिहरीं, धरी शांतता सार।
चौथी हू को नाश करि, पावै भवजल पार।।1398।।

अर्थ :– मुनिराजों ने कषायों की तीन चौकड़ियों को दूर करके शांत भाव, समता भाव को धारण किया है। पुन: चौथी चौकड़ी का नाश करके वे संसार–समुद्र से पार हो जाते हैं।

सकल कर्म की प्रकृति सौ, अर ऊपरि अड़ताल।
मुनिवर सर्व खपावहिं, जीवनि के रिछपाल।।1399।।

अर्थ :– समस्त कर्मों की कुल 148 प्रकृतियाँ हैं। जीवों की रक्षा करने वाले मुनिराज ही समस्त कर्मों का नाश करते हैं।

मुनिपद बिन नहिं मोक्षपद, यह निश्चय उर–धारि।
मुनिराजनि की भक्ति करि, अपनो जन्म सुधारि।।1400।।

अर्थ :– मुनिपद के बिना मोक्ष–पद की प्राप्ति नहीं होती है, ऐसा निश्चय से हृदय में धारण करो। मुनिराजों की भक्ति–वैयावृत्त्य करके अपने जन्म को सुधारो।

चाल छन्द

मुनि हैं निर्भय वनवासी, एकान्त वास सुखरासी।
निज ध्यानी आतमरामा, जग की संगति नहिं कामा।।1401।।

अर्थ :– मुनिराज निर्भयता से जंगल में निवास करते हैं; क्योंकि एकान्त–वास सुख का पुंज है। वे मुनिराज अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं। वे संसारी जनों की संगति नहीं करते।

जे मुनि रहने को थाना, वन में कारहिं मतिवाना।
ते पावें शिव सुर थाना, यह सूत्र–प्रमाण वखाना।।1402।।

अर्थ :– बुद्धिमान मनुष्य मुनियों के रहने का स्थान जंगल में – एकान्त स्थान में बनवाते हैं। वे मुनिराज मोक्ष अथवा स्वर्गादि स्थान को प्राप्त होते हैं। ऐसा आगम में कहा है।

मुनि लेइ अहारइ मित्रा, लघु एक बार कर–पात्रा।
जे मुनि कों भोजन देहिं, ते सुरपुर शिवपुर लेहीं।।1403।।

अर्थ :– मुनिराज दिन में एक बार कर–पात्र में अल्प आहार करते हैं। जो मुनिराज को आहार देते हैं, वे स्वर्ग अथवा मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

जौ लग नहिं केवलभावा, तौ लग आहार धरावा।
केवल उपजें न अहारा, भागें भव–दूषण सारा।।1404।।

अर्थ :– जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है, तब तक मुनिराज आहार ग्रहण करते हैं। केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद आहार नहीं करते हैं। केवलज्ञान उत्पन्न होने से संसार के सारे दूषण – दोष समाप्त हो जाते हैं।

नहिं भूख तृषादि सबै ही, जब केवलज्ञान फबै ही।
केवल पायें जिनराजा, केवल पद ले मुनिराजा।।1405।।

अर्थ :– केवलज्ञान उत्पन्न होते ही क्षुधा–तृषा आदि सबका नाश हो जाता है। मुनिराज को केवलज्ञान होते ही वे केवली–जिन हो जाते हैं।

मुनि की सेवा सुखकारी, बड़भाग करें उरधारी।
पुस्तक मुनि पै ले जावें, मुनि सूत्र अर्थ ते आवें।।1406।।

अर्थ :– कोई भाग्यशाली ही अपने हृदय में मुनि–महिमा को धारण कर मुनि की सुखकारी सेवा करते हैं। मुनिराज को शास्त्र आदि भेंट करें तो उनसे उपदेश का श्रवण कर सूत्र का अर्थ ज्ञात होता है।

ते पावें आतम ज्ञाना, ज्ञानहिं करि ह्वै निरवाना।
भेषज भोजन में युक्ता, मुनि कों लखि रोग प्रव्यक्ता।।1407।।

अर्थ :– इससे वे आत्मज्ञान को प्राप्त करते हैं और ज्ञान से निर्वाण की प्राप्ति होती है। मुनिराज के रोग को अच्छी तरह समझ कर उनके योग्य औषधि आहार में देनी चाहिए।

देवें ते रोग नसावें, कर्मादिक फेरि न आवें।
मुनि के उपसर्ग निवारें, ते आतम भवदधि तारें।।1408।।

अर्थ :– मुनिराज को औषधदान देने से भव–भ्रमण का रोग मिटता है, पुन: कर्म–बन्धन नहीं होता। मुनियों पर आये हुए उपसर्ग का निवारण करने वाला भव्यात्मा संसार–सागर से पार हो जाता है।

मुनिराज समान न दूजा, मुनि पद त्रिभुवन करि पूजा।
मुनिराज त्रिवर्णा होवै, शूद्दर नहिं मुनिपद जोवै।।1409।।

अर्थ :– मुनिराज के समान और कोई महान नहीं है। मुनिपद तीन भुवन में पूजनीय हैं। तीन वर्ण वाले ही मुनिपद धारण कर सकते हैं। शूद्र मुनिपद धारण नहीं कर सकते हैं।

मुनि आर्या एल महा ए, ह्वै क्षत्री द्विज वणिजा ए।
अब मध्य पात्र के भेदा, त्रिविधा सुनि पाप उछेदा।।1410।।

अर्थ :– क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य – ये तीन वर्ण वाले ही मुनि, आर्यिका एवं ऐलक के पद को धारण कर सकते हैं। अब पाप का नाश करने वाले मध्यम पात्र के तीन भेदों का कथन करते हैं।

उत्कृष्ट रु मध्य जघन्या, जिनसे नहिं जग में अन्या।
पहली पडिमा सों लेई, छट्ठी तक श्रावक जेई।।1411।।

अर्थ :– उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से मध्यम पात्र के तीन भेद हैं। पहली प्रतिमा से लेकर छठी प्रतिमा तक के श्रावक मध्यम पात्र के जघन्य भेद में माने गये हैं।

मध्यनि में जघन कहावै, गुरु धर्म देव उर लावै।
जे पंचम ठाणें भाई, अणुवृत्ती नाम धराई।।1412।।

अर्थ :– मध्यम पात्र के जघन्य श्रावक देव, गुरु और धर्म को हृदय में धारण करते हैं। ये पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक अणुव्रती श्रावक कहलाते हैं।

पहली पडिमा धर बुद्धा, सम्यक् दरसन गुण शुद्धा।
त्यागें जे सातों बिसना, छांडै विषयनि की तृष्णा।।1413।।

अर्थ :– पहली प्रतिमा को धारण करने वाले श्रावक का सम्यग्दर्शन गुण और विशुद्ध होता है। ये सप्त व्यसन के त्यागी और विषयों की तृष्णा से रहित होते हैं।

जे अष्ट मूलगुण धारें, तजि अभख जीव न संघारें।
दूजी पडिमा धर धीरा, व्रत धारक कहिये वीरा।।1414।।

अर्थ :– पहली प्रतिमाधारी अष्ट मूलगुण को धारण करते हैं। अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करते हैं एवं जीवों की हिंसा नहीं करते हैं। दूसरी प्रतिमा को धारण करने वाले व्रती कहलाते हैं।

बारा व्रत पालै जोई, सेवै जिनमारग सोई।
जे धारें पंच गुणव्रत, त्रय अणुव्रत चउ शिक्षाव्रत।।1415।।

अर्थ :– जो बारह व्रत धारण करते हैं, वे जिनमार्ग को धारण करते हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत – ये बारह व्रत हैं।

चौपाई

तीजी पडिमा धरि मतिवंत, सामायिक में मुनि से संत।
पौसा में आरूढ़ विशाल, सो चौथी पडिमा प्रतिपाल।।1416।।

अर्थ :– तीसरी प्रतिमा को धारण करने वाले बुद्धिमान सामायिक के समय मुनि महाराज के समान महान माने गये हैं। प्रोषधोपवास को धारण करने वाले चौथी प्रतिमा को पालन करने वाले कहे गये हैं।

पंचम पडिमा धर नर धीर, त्याग सचित्त वस्तु वर वीर।
पत्र फूल फल कूंपल आदि, छालि मूल अंकुर बीजादि।।1417।।
मन वच तन कर नीली हरी, त्यागै उर में दृढ़ व्रत धरो।
जीवदया को रूप निधान, षट् काया को पीहर जान।।1418।।

अर्थ :– पाँचवीं प्रतिमा को धारण करने वाले धैर्यवान मनुष्यों को सचित्त वस्तुओं का त्याग करना चाहिए। पत्ते, फूल, फल, कोपल, छाल, मूल, अंकुर, बीज आदि का मन, वचन, काय से त्याग करना चाहिए। दृढ़ता से इस व्रत को हृदय में धारण करना चाहिए। यह व्रत जीव-रक्षा के निधान रूप है। इस व्रत को छह काय के जीवों का निज घर कहा है।

पाल्यौ जैन वचन जिन धीर, सर्व जीव की मेटी पीर।
छट्ठी प्रतिमा धारक सोई, दिवस नारि को परस न होई।।1419।।

रात्रि विषें अनसन व्रत धरैं, चउ अहार जल कों परिहरै।
गमनागमन तजै निशि माहिं, मन वच तन दिन शील धाराहिं।।1420।।

अर्थ :– जिसने धीरतापूर्वक जैन वचनों का पालन किया है, उसने सब जीवों की पीड़ा दूर की है। छठवीं प्रतिमाधारी श्रावक वह है, जो दिन में स्त्री का स्पर्श भी नहीं करता। रात्रि में चारों प्रकार के आहार–जल का त्याग करता है। रात्रि में गमनागमन भी नहीं करता। दिन में मन–वचन–काय से शीलव्रत का पालन करता है।

ए पहली सों छट्ठी लगें, जघन्य श्रावक के व्रत जगें।
पतिव्रता व्रत वन्ती नारी, मध्यम पात्र जघन्य विचारी।।1421।।
श्रावक और श्राविका जेह, घरवारी व्रतचारी तेह।
मध्यम पात्तर कहे जघन्य, इनकी सेव करे सो अन्य।।1422।।

अर्थ :– इस प्रकार पहली प्रतिमा से लेकर छठवीं प्रतिमा तक मध्यम पात्र के जघन्य श्रावक का कथन किया। पतिव्रता व्रती स्त्री भी मध्यम पात्र के जघन्य श्रावक में गिनी गई है। घर में रहने वाले व्रती श्राविका मध्यम पात्र के अन्तर्गत जघन्य श्रावक–श्राविका हैं। इनकी सेवा करने वाला भी धन्य है।

वस्त्राभरण अन्न जल आदि, थान मान औषध दानादि।
देवें श्रुत सिद्धान्त जु वीर, हरनी तिनकी सब ही पीर।।1423।।

अर्थ :– इन्हें भी वस्त्राभरण, अन्न–जल, स्थान, सम्मान, औषध, दान आदि देना चाहिए। शास्त्र–दान देकर सब तरह से इनकी पीड़ा को दूर करना चाहिए।

अभय दान देवो गुणवान, करनी भगति कहैं भगवान।
भवजल के द्रोहण ए पात्र, पार उतारें दरसन मात्र।।1424।।

अर्थ :– इन श्रावकों को अभयदान देना चाहिए। इनकी भक्ति भी करनी चाहिए। संसार रूपी समुद्र में तैरने के लिए ये नाव–समान हैं। इन व्रती श्रावकों के दर्शन मात्र से संसार–समुद्र पार हो जाता है।

दोहा

सप्तम प्रतिमा धारका, ब्रह्मचर्य व्रत धार।
नारी कों नागिन गिनें, लख्यौ तत्त्व अविकार।।1425।।

अर्थ :– निर्विकार (आत्म) तत्त्व का चिन्तन करने वाले सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं और नारीमात्र को नागिन के सदृश समझते हैं।

मन वच तन करि शीलधर, कृत कारित अनुमोद।
निज नारीहू कूं तजै, पावै परम प्रमोद।।1426।।

अर्थ :– ऐसे श्रावक मन, वचन, काय से एवं कृत, कारित, अनुमोदना से शीलव्रत धारण करते हुए अपनी स्व-स्त्री का भी त्याग कर परम प्रमोद को प्राप्त करते हैं।

जैसे ग्यारम दशम नव, अष्टम पड़िमा धार।
मन वच तन करि शील धरि, तैसे ए अविकार।।1427।।

अर्थ :– जैसे ग्यारह, दसम, नवम एवं अष्टम प्रतिमाधारी श्रावक मन, वचन एवं काय से शीलव्रत को धारण करते हैं, उसी प्रकार ये सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक भी निर्विकार भाव से शीलव्रत धारण करते हैं।

तिनतें एतो आंतरो, ते आरंभ वितीत।
इनके अलपारंभ है, क्रोध लोभ छल जीत।।1428।।

अर्थ :– उपरिम प्रतिमाधारी श्रावकों से सप्तम, प्रतिमाधारी श्रावक में मात्र इतना अन्तर है कि वे सर्वारम्भ से रहित हैं, किन्तु सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक क्रोध, लोभ एवं छल-कपट आदि के विजेता होते हुए भी अल्प आरम्भ के त्यागी नहीं होते हैं।

लख्यौ आपनों तत्त्व जिन, नहिं मायासों मोह।
तजै राग दोषादि सब, काम क्रोध पर द्रोह।।1429।।

अर्थ :– आत्मद्रोही काम, क्रोध को एवं यथाशक्य राग-द्वेष को छोड़कर सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक अपने आत्मतत्त्व का चिन्तन करते हैं, वे माया (धन-दौलत) से भी मोह नहीं करते।

कछु इक धन को लेस है, तातें घर में वास।
जे इनकी सेवा करें, ते पावें सुख-रास।।1430।।

अर्थ :– सर्व परिग्रह का त्याग न कर सकने के कारण ही ऐसे श्रावक घर में रहते हैं। जो श्रावक-श्राविकाएँ ऐसे व्रती पुरुषों की सेवा करते हैं, वे विशेष सुख-समूह को प्राप्त करते हैं।

चाल छन्द

अब सुनि अष्टम पड़िमा ए, त्रस थावर जीवदया ए।
कछु हि धंधा नहिं करनों, आरंभ सबै परिहरनों।।1431।।

अर्थ :– अब अष्टम प्रतिमा का स्वरूप कहते हैं। अष्टम प्रतिमाधारी श्रावक त्रस एवं स्थावर जीवों की दया में तत्पर रहते हैं। कुछ भी व्यापार नहीं करते और सर्वारम्भ के त्यागी होते हैं।

भजनों जिनकों जगदीसा, तजनों जगजाल गरीसा।
तनसों नहिं स्वामित धरनों, हिंसा सों अतिही डरनों।।1432।।

अर्थ :– ऐसे श्रावक जगत के भयंकर जंजाल का त्याग कर भगवान जिनेन्द्र देव का ध्यान करते हैं। हिंसादि कार्यों से भयभीत रहते हैं और अपने शरीर से भी ममत्व नहीं रखते हैं।

श्रावक के भोजन करई, नवमी सम चेष्टा धरई।
नवमी तें एतो अंतर, ए हैं कछुयक परिग्रह–धर।।1433।।

अर्थ :– ऐसे श्रावक अन्य श्रावकों के घर जाकर भोजन करते हैं और नवमी प्रतिमा के समान चेष्टा करते हैं। नवम प्रतिमाधारी श्रावक से इनमें केवल इतना अन्तर है कि ऐसे श्रावक कुछ परिग्रह रखते हैं।

वन माहिं थोरो रहनों, शीतोष्ण जु थोरो सहनों।
जे नवमी पड़िमावंता, जग के त्यागी विकसंता।।1434।।

अर्थ :– नवमी प्रतिमाधारी श्रावक सामायिक आदि करने के निमित्त वन का आश्रय लेते हैं, समय–समय पर शीतोष्ण की बाधा भी सहन करते हैं, जग के जंजाल से परांगमुख होकर आत्म–विकास का उद्यम करते हैं।

जिन धातु मात्र सब नांखे, कपड़ा कछुयक ही राखे।
श्रावक के भोजन भाई, नहिं माया मोह धराई।।1435।।

अर्थ :– माया–मोह के साथ–साथ चाँदी–पीतल आदि सर्व प्रकार की धातुओं का त्याग कर देते हैं। कुछ वस्त्रों का परिग्रह रखते हैं और श्रावकों के घर भोजन करने जाते हैं।

आवै जु बुलायें जीवा, जिनको नहिं माया छीवा।
है दशमी तें कछु नूना, परिकीय कर्म अघ चूना।।1436।।

अर्थ :– जो श्रावक बुलाने आते हैं, उनके यहाँ ही भोजन करने जाते हैं। ऐसे श्रावकों को माया स्पर्श नहीं करती। अन्य दूसरों के द्वारा किये हुए पाप कार्यों में भी इनका उपयोग नहीं होता। ये दशम प्रतिमाधारी श्रावकों से किंचित् ही न्यून होते हैं।

एतौ ही अन्तर उन तें, कबहुँक लौकिक वच जन तें।
बोलें परि विरकत भावा, धन को नहिं लेश धरावा।।1437।।

अर्थ :– दशम प्रतिमाधारी से इनमें इतना ही अन्तर होता है कि विरक्त भाव होते हुए भी ये लौकिक जनों से वार्तालाप कर लेते हैं। इनके पास लेशमात्र भी धन नहीं होता है।

आते कों आरूकारा, जाते को हल भल धारा।
दसमी ते अतिहि उदासा, नहिं लौकिक वचन प्रकाशा।।1438।।

अर्थ :– दशम प्रतिमाधारी श्रावक लौकिक जनों से वार्तालाप नहीं करते। ये अति उदास रहते हैं, अत: अपने घर पर आने वाले अतिथि से सम्मान आदि के शब्द नहीं कहते और जाने वाले श्रावकों का भी शिष्टाचार नहीं निभाते।

सप्तम अष्टम अर नवमा, ए मध्य सरावग पड़िमा।
मध्यनि में मध्य जु पात्रा, व्रत शील ज्ञान गुण गात्रा।।1439।।

अर्थ :– सप्तम, अष्टम और नवम प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक कहलाते हैं। व्रत, शील और ज्ञानादि गुण ही जिनका शरीर है – ऐसी महिलाएँ मध्यम में भी मध्यम पात्र कहलाती हैं।

अथवा हो श्राविका शुद्धा, व्रत धारक शील प्रबुद्धा।
जो ब्रह्मचारिणी बाला, आजनम शील गुण माला।।1440।।

सो मध्यम पात्रा मध्या, जानों व्रत शील अवध्या।
अथवा निजपति कों त्यागै, सो ब्रह्मचर्य अनुरागै।।1441।।

सो परम श्राविका भाई, मध्यनि में मध्य कहाई।
इनको जो देय अहारा, सो ह्वै भवसागर पारा।।1442।।

अर्थ :– अथवा जो श्राविकाएँ देश, कुल, जाति से शुद्ध हैं, व्रती हैं और शीलवृद्ध हैं, जिन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लेकर बाल्यावस्था में ही शीलगुण रूपी अनुपम माला पहन ली है और जिनके व्रत एवं शील अखण्ड हैं, वे भी मध्यम में मध्यम पात्र हैं। अथवा जो ब्रह्मचर्यव्रत की अनुरागता से अपने पति का भी त्याग कर देती हैं, वे श्रेष्ठ श्राविकाएँ मध्यम में मध्यम पात्र कहलाती हैं। जो श्रावक-श्राविकाएँ इन्हें आहार आदि देते हैं, वे भवसागर से पार हो जाते हैं।

दोहा

अन्न वस्त्र जल औषधी, पुस्तक उपकरणादि।
थान ज्ञान दान जु करें, ते भव तिरें अनादि।।1443।।

अर्थ :– जो (मुनि, आर्यिका एवं व्रती श्रावक-श्राविकाओं को) आहार, वस्त्र, जल, औषधि,

पीछी-कमण्डलु आदि उपकरण, वसतिका तथा ज्ञान के साधनभूत पुस्तक आदि का दान देते हैं, वे अनादिकालीन इस संसार से पार हो जाते हैं।

हरें सकल उपसर्ग जे, ते निरुपद्रव होंहिं।
सुर-नर पति ह्वै मोक्ष में, राजे अति सुख सों हिं।।1444।।

अर्थ :- जो साधुओं के सर्व उपसर्गों का निवारण करते हैं, वे कभी उपद्रवों से पीड़ित नहीं होते और देवेन्द्र एवं चक्रवर्ती आदि के सुख भोग कर, मोक्ष में चिरकाल पर्यन्त सुख से आसीन रहते हैं।

चाल छन्द

जो दशमी पड़िमा धारा, श्रावक सु विवेकी चारा।
जग धंधा को नहिं लेशा, नहिं धंधा को उपदेशा।।1445।।

अर्थ :- विवेकपूर्ण आचरण करने वाले दशम प्रतिमाधारी श्रावक आजीविका के साधनभूत सर्व प्रकार के व्यापार का त्याग कर देते हैं। यहाँ तक कि वे व्यापार आदि करने का उपदेश भी नहीं देते हैं।

वन में हु रहै वर वीरा, ग्रामे हु रहै गुणधीरा।
आवै श्रावक घरि जीवा, नहिं कनकादिक कछु छींवा।।1446।।

अर्थ :- वे धैर्यशाली एवं गुणज्ञ श्रावक वन में भी रहते हैं और ग्राम-नगरादि में भी रहते हैं। वे भोजन आदि के लिए श्रावकों के घर पर आते हैं, किन्तु स्वर्णादि का स्पर्श नहीं करते हैं।

एकादशमी तें छोटे, परि और सकल तें मोटे।
जिनवानी बिन नहिं बोलें, ते कितहूँ चित न डोलें।।1447।।

अर्थ :- ये दशम प्रतिमाधारी श्रावक ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावकों से तो छोटे होते हैं, किन्तु अन्य प्रतिमाधारियों से ज्येष्ठ होते हैं। इनका चित्त स्थिर रहता है और ये आगमानुसार ही सम्भाषण करते हैं।

मुनिवर के तुल्य महा नर, दशमी एकादशमी धर।
एकादशमी द्वै भेदा, एलक छुल्लक अघ छेदा।।1448।।

अर्थ :- दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी महापुरुष मुनिराज की तुल्यता से कुछ लघु होते हैं। क्षुल्लक और ऐलक के भेद से ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक दो प्रकार के होते हैं।

इनसे नहिं श्रावक कोई, सबमें उत्कृष्टे होई।
त्यागौ जिन जगत असारा, लाग्यौ जिन रंग अपारा।।1449।।

अर्थ :– ये सबसे उत्कृष्ट श्रावक हैं। श्रावकों में इनसे उत्कृष्ट और कोई श्रावक नहीं होता है। इन पर जिनेन्द्र देव का अद्वितीय रंग चढ़ जाता है, अत: ये (खण्ड वस्त्र के अतिरिक्त) इस आधारभूत जगत का त्याग कर देते हैं।

पायौ जिनराज सुधर्मा, छांडे मिथ्यात अधर्मा।
जिनके पंचम गुणठाणा, पूरणता रूप विधाना।।1450।।

अर्थ :– ये मिथ्या धर्म को छोड़कर जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित धर्म का पूर्ण विधि से पालन करते हैं। इनके पंचम गुणस्थान होता है।

द्वय माहिं महंत जु ऐला, निश्चलता करि सुरशैला।
जिनके परिग्रह कोपीना, अर कमण्डलु पीछी तीना।।1451।।

अर्थ :– इन दोनों (क्षुल्लक और ऐलक) में ऐलक बड़े होते हैं। ये अपने ऐलक धर्म में सुमेरुवत् निश्चल रहते हैं। परिग्रह में मात्र एक कोपीन होती है। ये पीछी और कमण्डलु रखते हैं।

जिनशासन को अभ्यासा, भव भोगनि सूं जु उदासा।
श्रावक के घर अविकारा, ले आप उदंड अहारा।।1452।।

अर्थ :– ये संसार और भोगों से उदासीन रहते हैं। जिनशासन (जिनागम) का निरन्तर अभ्यास करते हैं और अविकार भावों से श्रावक के घर जाकर अनुद्दिष्ट आहार लेते हैं।

गुणवान साध सारी सा, लुंचित केसा विन रीसा।
ए ऐलि त्रिवर्णा होई, शूद्रा नहिं ऐलि जु कोई।।1453।।

अर्थ :– ये गुणज्ञ साधक, अपने धर्म का सुचारु-रीत्या साधन करते हैं, क्रोधादि भावों से रहित होते हैं, अपने हाथों से लोच करते हैं। क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण – इन तीनों वर्णों में उत्पन्न मनुष्य ही ऐलक पद ग्रहण करते हैं। शूद्र ऐलक नहीं बन सकते।

इनतें छुल्लक कछु छोटे, परि और सकल तें मोटे।
इक खंडित कपरा राखें, तिनको छुल्लक जिन भाखें।।1454।।

अर्थ :– जो कोपीन के साथ खण्ड वस्त्र भी धारण करते हैं, उन्हें क्षुल्लक कहते हैं। ये ऐलक से छोटे और अन्य प्रतिमाधारियों से ज्येष्ठ होते हैं।

कमण्डलु पीछी कोपीना, इन बिन परिग्रह तजि दीना।
जिनश्रुत-अभ्यास निरंतर, जान्यूं है निज पर अंतर।।1455।।

अर्थ :- ये कोपीन पीछी और कमण्डलु के अतिरिक्त अन्य सर्व परिग्रह का त्याग कर देते हैं। निरन्तर जिनागम का अभ्यास करते हैं और शरीर एवं आत्मतत्त्व की भिन्नता को भलीभाँति जानते हैं।

जे हैं जु उदंड विहारा, ले भाजन माहिं अहारा।
कातरिका केस करावै, ते क्षुल्लक नाम कहावै।।1456।।

अर्थ :- जो अनुद्दिष्ट आहार ग्रहण करते हैं, बर्तन में भोजन करते हैं और कैंची से बाल कतरते हैं; वे भी क्षुल्लक कहलाते हैं।

चारों हैं वर्ण जु क्षुल्लक, राखें नहिं जग सूं तल्लुक।
आनंदी आतमरामा, सम्यकदृष्टि अभिरामा।।1457।।

अर्थ :- जगत से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध न रखने वाले ऐसे (उपर्युक्त प्रकार से) क्षुल्लक क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र - इन चारों वर्णों के जीव बन सकते हैं। ये भी सम्यग्दृष्टि होते हैं और आत्मा के आनन्द में लवलीन रहते हैं।

ए द्वै है भेद बड़ भाई, ग्यारम पड़िमा जु कहाई।
वन-माहिं रहै वर वीरा, निरभय निरव्याकुल धीरा।।1458।।

अर्थ :- इस प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद होते हैं। निर्भय और निराकुल चित्त वाले ये धैर्यवान वीर पुरुष (गुरुओं के साथ) वन में भी रहते हैं।

तिनके करि सेव जु भाया, जो जीवनि कों सुखदाया।
तिनके रहने कों थाना, वन में करने मतिवाना।।1459।।

भोजन भेषज जिनग्रन्था, इनकों दे सो निजपंथा।
पावै अर दे उपकरणा, सो हरै जनम जर मरणा।।1460।।

अर्थ :- जो श्रावक इन ऐलक-क्षुल्लक की सेवा करते हैं, जो इनको सुख-सुविधा प्रदान करते हैं, जो वन में भी इनके ठहरने आदि के लिए अनुकूल स्थान की व्यवस्था करते हैं, जो जिनधर्मी इन्हें आहारदान, औषधिदान और शास्त्रदान देते हैं, इन्हें पीछी-कमण्डलु आदि उपकरण देते हैं; वे जन्म-मरण के दुखों से छूट जाते हैं।

उपसर्ग उपद्रव टारै, ते निरभय थान निहारै।
दसमी अर ग्यारस दोऊ, मध्यम उतकृष्टे होऊ।।1461।।

अर्थ :– जो जन इनके उपसर्गों एवं उपद्रवों को दूर करते हैं, वे निरंतर निर्भय स्थान को प्राप्त करते हैं। दशम और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक मध्यम पात्र में उत्कृष्ट होते हैं।

अथवा आर्या व्रतधारी, अणुव्रत में श्रेष्ठ अपारी।
आर्या घर–बार जु त्यागै, श्री जिनवर के मत लागै।।1462।।

अर्थ :– अथवा पंच महाव्रत आदि धारण करने वाली आर्यिका इन अणुव्रत धारण करने वाले ऐलक आदि उत्कृष्ट श्रावकों से भी उत्कृष्ट होती हैं। आर्यिकाएँ भी सम्पूर्ण घर–बार का त्याग कर जिनेन्द्र देव के कहे हुए मार्ग में संलग्न रहती हैं।

राखै इक वस्त्र हि मात्रा, तप करि है क्षीण जु गात्रा।
कमंडलु पीछी अर पोथी, ले भूति तजी सहु थोथी।।1463।।

अर्थ :– ये मात्र एक वस्त्र धारण करती हैं। कठिन–कठिन तप करके अपने शरीर को क्षीण करती हैं तथा शास्त्र, कमण्डलु और पिच्छिका के अतिरिक्त अन्य सब परिग्रह का त्याग कर देती हैं।

थावर जंगम तनवाना, जानें सब आप समाना।
जे मुनि कर–पात्र अहारा, सिर लोंच करें तप धारा।।1464।।

अर्थ :– थावर और जंगम – इन सर्व जीवों को अपने समान समझती हैं तथा तप धारण कर मुनिराजों के सदृश कर पात्र में आहार करती हैं और केशलोंच करती हैं।

तिनकी सो रीति जु धारै, जग सों ममता नहिं कारै।
द्विज क्षत्री वणिक कुला ही, ह्वै आर्या अति विमला ही।।1465।।

अर्थ :– सर्व जगत से ममता छोड़कर मुनिराजों के सदृश अन्य सर्व समाचर्या को धारण करती हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलोत्पन्न निर्मल हृदय वाली नारियाँ ही आर्यिका के व्रत धारण कर सकती हैं।

अणुव्रत परि महाव्रत तुल्या, नारिन में एहि अतुल्या।
माता त्रिभुवन की भाई, परमेसुर सों लवलाई।।1466।।

अर्थ :– इनके द्वारा धारण किये हुए व्रत महाव्रत तुल्य होते हैं। नारी जाति की सीमा का यह

आर्यिका पद अतुल्य पद है। ये आर्यिकाएँ जिनेन्द्र के ध्यान में लवलीन रहती हैं और जगत माता कहलाती हैं।

आर्या कों वस्त्र जु भोजन, देनें भक्ति करि भो जन।
पुस्तक औषधि उपकरणा, देनें सहु पाप जु हरणा।।1467।।

अर्थ :– जो जन इन आर्यिकाओं की भक्ति करते हैं तथा इन्हें आहार, वस्त्र औषधि, शास्त्र एवं पीछी–कमण्डलु आदि उपकरण देते हैं; वे पाप से मुक्त हो जाते हैं।

उपसर्ग हरै बुधिवाना, रहने कों उत्तम थाना।
देवे पुन अविनासी, लेवै अति आनंदरासी।।1468।।

अर्थ :– जो बुद्धिमान जन इन आर्यिकाओं के उपसर्ग आदि का निवारण करते हैं, उन्हें उत्तम निवास स्थान प्राप्त होते हैं और उनका यह पुण्य उन्हें परम्परा से अविनाशी मोक्ष–पद देता है, जहाँ वे अनन्त सुख भोगते हैं।

दोहा

छै पड़िमा जानों जघनि, मध्य जु नवमी ताइ।
दस एकादसमी उभय, उतकृष्टि कहवाइ।।1469।।

अर्थ :– ग्यारह प्रतिमाओं में से छठी प्रतिमा पर्यन्त धारण करने वाले जघन्य श्रावक, सातवीं से नवमी प्रतिमा पर्यन्त धारण करने वाले मध्यम श्रावक और दशवीं एवं ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहे जाते हैं।

पतिव्रता जो श्राविका, मध्यम माहिं जघन्य।
ब्रह्मचारिणी मध्य है, आर्या उत्तम धन्य।।1470।।

अर्थ :– पात्र के मध्यम भेद में पतिव्रता श्राविकाएँ जघन्य, ब्रह्मचारिणी बाईयाँ मध्यम और आर्यिकाएँ उत्कृष्ट कहलाती हैं और वे धन्य हैं।

पंचम गुणठाणें व्रती, श्रावक मध्य जु पात्र।
छठें सातवें ठाण मुनि, महापात्र गुणगात्र।।1471।।

अर्थ :– पंचम गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक मध्यम पात्र और गुण ही जिनका शरीर है – ऐसे छठे–सातवें गुणस्थान में विचरण करने वाले महा मुनिराज महा पात्र (उत्तम पात्र) कहलाते हैं।

कहे मध्य के भेद त्रय, अर उतकष्टे तीन।
सुनों जघन्य जु पात्र के, तीन भेद गुणलीन।।1472।।

अर्थ :– इस प्रकार मैंने मध्यम पात्र के तीन भेद और उत्कृष्ट पात्र के तीन भेद कहे हैं। अब मैं गुणों को धारण करने वाले जघन्य पात्र के तीन भेद कहता हूँ।

चौथे गुणठाणे महा, क्षायिक सम्यकवन्त।
सो उतकृष्टे जघनि में, भाषें श्री भगवंत।।1473।।

अर्थ :– भगवान जिनेन्द्र ने चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षायिक सम्यग्दृष्टि श्रावक को जघन्य पात्रों में उत्कृष्ट कहा है।

क्रोध मान छल लोभ खल, प्रथम चौकरी जानि।
मिथ्या अर मिश्रहि तथा, सम्यक् प्रकृति पर वानि।।1474।।

सात प्रकृति ए खय गई, रह्यौ अलप संसार।
जीवनमुक्त दशा धरै, सो क्षायिक सम धार।।1475।।

अर्थ :– प्रथम चौकड़ी अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ एवं मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व (मिश्र) तथा सम्यक्प्रकृति – इन सात प्रकृतियों का क्षय हो जाने से जिनका संसार अल्प रहा है और जो जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त हो रहे हैं, वे क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं।

सातों जाके उपसमों, रमैं आप में धीर।
सो उपसम सम्यक धनी, जघनि माहिं मधि वीर।।1476।।

अर्थ :– जिनके उपर्युक्त सातों प्रकृतियों का उपशम हो जाता है और जो धीर-वीर अपनी आत्मा की श्रद्धा में दृढ़ हैं, वे उपशम सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। ये उपशम सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्रों में मध्यम कहे जाते हैं।

सात माहिं षट् उपसमें, एक तृतिय मिथ्यात।
उदै होय है जा समें, सो वेदक विख्यात।।1477।।

अर्थ :– उपर्युक्त सात प्रकृतियों में से जिनके प्रारम्भ से लेकर छह प्रकृतियों का उपशम हो जाता है और मिथ्यात्व के तीसरे भेद स्वरूप सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहता है, उसे वेदक सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

वेदक सम्यकवन्त जो, जघनि जघनि में जानि।
कहे तीन विधि जघनि ए, जिन आज्ञा उर आनि।।1478।।

अर्थ :– ये वेदक सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्रों में जघन्य कहे जाते हैं। जिनेन्द्र-आज्ञा हृदय में धारण करके, जघन्य पात्र के ये तीन भेद कहते हैं।

जघनि पात्र कूं अन्न जल, औषध पुस्तक आदि।
वस्त्राभूषण आदि शुभ, थान मान दानादि।।1479।।

अर्थ :– इन जघन्य पात्रों को भी आहार, जल, औषधि, शास्त्र तथा उत्तम शुभ स्थान आदि का दान देना चाहिए तथा वस्त्राभूषण आदि देकर इनका सम्मान करना चाहिए।

देवो गुरु भाषैं भया, करनों बहु उपगार।
हरनी पीरा कष्ट सहु, धरनों नेह अपार।।1480।।

अर्थ :– देव (जिनेन्द्र देव) एवं गुरु की आज्ञा–अनुसार इन जघन्य पात्रों का भी सर्व प्रकार से उपकार करना चाहिए। इनके कष्ट हरण करना चाहिए और इनसे अपार स्नेह करना चाहिए।

सब ही सम्यकधारका, सदा शांत रस–लीन।
निकट भव्य जिनधर्म के, धारी परम प्रवीन।।1481।।

अर्थ :– सभी सम्यग्दृष्टि जीव शान्त रस में सदा लवलीन रहते हैं, निकट भव्य होते हैं और जैनधर्म को धारण करने में परम प्रवीण होते हैं।

नव भेदा सम्यक्त के, तामें उत्तम एक।
सात भेद गनि मध्य के, जघनि एक सुविवेक।।1482।।

अर्थ :– सम्यक्त्व के नव भेदों में एक उत्तम है, सात मध्यम हैं और एक जघन्य है।

वेदक एक जघन्य है, उत्तम क्षायिक एक।
और सबै गनि मध्य ए, इह धारौ जु विवेक।।1483।।

अर्थ :– वेदक सम्यक्त्व जघन्य है, क्षायिक सम्यक्त्व उत्तम है और शेष सात सम्यक्त्व मध्यम है। सम्यक्त्व धारण करने वाले जीव विवेकी (सम्यग्ज्ञानी) होते हैं।

क्षयोपसम वरते त्रिविध, वेदक चारि प्रकार।
क्षायिक उपसम जुगल जुत, नवधा समकित धार।।1484।।

अर्थ :– क्षयोपशम सम्यक्त्व तीन प्रकार का है – 1. प्रथम चौकड़ी की विसंयोजना और तीनों मिथ्यात्व का उपशम। 2. प्रथम चौकड़ी और मिथ्यात्व का क्षय शेष दो मिथ्यात्व का उपशम। 3. प्रथम चौकड़ी और दो मिथ्यात्व का क्षय तथा तीसरे मिथ्यात्व का उपशम। ये क्षयोपशम के तीन भेद हैं) और वेदक सम्यक्त्व चार प्रकार का है। (1. प्रथम चौकड़ी का क्षय, दो मिथ्यात्वों का उपशम और एक मिथ्यात्व का उदय। 2. प्रथम चौकड़ी और मिथ्यात्व का क्षय, दूसरे मिथ्यात्व

का उपशम और तीसरे मिथ्यात्व का उदय। 3. प्रथम चौकड़ी और दो मिथ्यात्वों का क्षय और अंतिम एक मिथ्यात्व का उदय। 4. प्रथम चौकड़ी और दो मिथ्यात्वों का उपशम और एक मिथ्यात्व का उदय। ये वेदक के चार भेद हैं) तथा क्षायिक सम्यक्त्व एक और उपशम सम्यक्त्व एक। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के कुल (3 + 4 + 1 + 1) = नौ (9) भेद होते हैं।

वेदक कछुयक चंचला, तौ पनि मर्म-उछेद।
लखै आपकी शुद्धता, जानें निज पर भेद।।1485।।

अर्थ :- (सम्यक्त्व प्रकृति के उदय के कारण) वेदक सम्यक्त्व कुछ चंचल है, फिर भी वह मर्म का उच्छेद करनेवाला है। निज और पर के भेद को जानता हुआ अपनी आत्मा की शुद्धता को देखता है अर्थात् अपनी शुद्ध आत्मा की प्रतीति करता है।

सेवा जोग्य सुपात्र ए, कहे जिनागम माहिं।
भक्ति सहित जे दान दें, ते भवभ्रांति नसाहिं।।1486।।

अर्थ :- जिनागम में ये उपर्युक्त सभी सुपात्र सेवा के योग्य कहे गये हैं। जो इन सुपात्रों को भक्ति सहित दान आदि देता है, उसका भव-भ्रमण नाश हो जाता है।

त्रिविध पात्र के भेद नव, कहे सूत्र-परवान।
मुनि को नवधा भक्ति करि, देहि दान बुधिमान।।1487।।

अर्थ :- उत्तम, मध्यम और जघन्य - इन तीन प्रकार के पात्रों के आगमानुसार नौ भेद कहे हैं। हे बुद्धिमान जन! मुनिराजों को नवधा भक्तिपूर्वक दान दो।

विधिपूर्वक शुभ वस्तु कों, स्व पर अनुग्रह हेत।
पातर कों दान जु करै, सो शिवपुर को लेत।।1488।।

अर्थ :- जो जन स्व और पर के कल्याण हेतु पात्रों को उत्तम वस्तुओं का दान देते हैं, वे मोक्ष-नगर को प्राप्त कर लेते हैं।

नवधा भक्ति जु कौन सी, सो सुनि सूत्र-प्रवानि।
मिथ्या मारग छांड़ि करि, निज श्रद्धा उर आनि।।1489।।

अर्थ :- नवधा भक्ति कौन-कौन सी हैं? उन्हें आगम प्रमाण से सुनो और उनकी श्रद्धा हृदय में धारण कर मिथ्या मार्ग छोड़ो।

आवौ आवौ शब्द कहि, तिष्ठ तिष्ठ भासेहि।
सो संग्रह जानों बुधा, अघ-संग्रह टारेहि।।1490।।

अर्थ :– (पात्र को सम्मुख आते देख कर) ''आओ-आओ'' शब्द कह कर, पश्चात् यहाँ ''ठहरिये-ठहरिये'' शब्द कहना चाहिए। यह संग्रह रूप में एक भक्ति है। हे बुद्धिमानो! यह एक संग्रह रूप भक्ति ही पाप-समूह का नाश करने वाली है।

ऊँचौ आसन देय शुभ, पात्रनि कों परवीन।
पग धोवै अरचै बहुरि, होय बहुत आधीन।।1491।।

अर्थ :– हे बुद्धिमान जन! पात्रों को शुभ एवं उच्च आसन देना (दूसरी भक्ति है)। फिर अत्यन्त समर्पित भाव से पात्रों के चरणों का प्रक्षालन करना (तीसरी भक्ति है)। पश्चात् पूजन करना (यह चौथी भक्ति है) चाहिए।

करै प्रमाण विनय करी, त्रिकरण शुद्धि धरेहि।
खान-पान की शुद्धता, ये नव भक्ति करेहि।।1492।।

अर्थ :– विनयपूर्वक प्रणाम करना (पाँचवीं भक्ति है), पश्चात् मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, आहार-जल शुद्ध है (ये चार भक्तियाँ हैं)। इस प्रकार बोलना – ये नव भक्तियाँ हैं। आहार देने के पूर्व प्रत्येक पात्र की ये नव भक्तियाँ यथायोग्य करना चाहिए।

सुनों सात गुण पंडिता, दातारनि के जेह।
धारै धरमी धीर नर, उधरै भव-जल तेह।।1493।।

अर्थ :– हे विद्वद्जन! अब दाता के सात गुण सुनो। जो धर्मात्मा धीर-वीर पुरुष इन सात गुणों को धारण कर आहार देते हैं, वे भव-समुद्र से पार हो जाते हैं।

इह भव फल चाहै नहीं, क्रियावान अति होय।
कपट-रहित ईर्षा-रहित, धरै विषाद न सोय।।1494।।

हुइ उदारता गुण सहित, अहंकार नहिं जानि।
ए दाता के सप्त गुण, कहे सूत्र-परवानि।।1495।।

अर्थ :– दाता इस भव में दान के फल को न चाहता हो, अत्यन्त क्रियावान हो, कपट रहित हो, ईर्ष्या भाव से रहित हो, खेद-विषाद रहित हो, उदार गुण युक्त हो और अहंकारी न हो। आगमानुसार ये सात गुण दाता के हैं।

श्रद्धा धरि निज शक्तिजुत, लोभ रहित ह्वै धीर।
दया क्षमा दृढ़ चित्त करि, देय अन्न अर नीर।।1496।।

अर्थ :– पात्र को आहार–जल देने वाला दाता श्रद्धावान हो, अपनी शक्ति–प्रमाण आहार देने वाला हो, निर्लोभी हो, धैर्यवान हो, दयालु हो, क्षमावान हो और दृढ़चित्त हो अर्थात् चंचल चित्त वाला न हो।

राग द्वेष मद भोग भय, निद्रा मन्मथ पीर।
उपजावै जु असंजमा, सो देवौ नहिं वीर।।1497।।

अर्थ :– पात्र को ऐसा कोई दान नहीं देना चाहिए; जो राग–द्वेष, मद, भोगाकांक्षा, भय, निद्रा एवं काम–पीड़ा को उत्पन्न करने वाला अथवा इन दोषों की वृद्धि करने वाला हो। असंयम–उत्पादक पदार्थ भी विवेकी पुरुषों द्वारा नहीं दिये जाने चाहिए।

यह आज्ञा जिनराज की, तप स्वाध्याय सु ध्यान।
वृद्धि–करण देवौ सदा, जाकरि लहिये ज्ञान।।1498।।

अर्थ :– भगवान जिनेन्द्र की आज्ञा है कि पात्र को आहार, जल एवं उपकरण आदि ऐसे ही पदार्थ देने चाहिए; जो उनके स्वाध्याय एवं ध्यान की वृद्धि में कारण हों तथा जिनसे उन पात्रों की ज्ञान–वृद्धि हो।

मोक्ष कारणा जे गुणा, पात्र गुणनि के धीर।
तातें पात्र पुनीत ए, भाषें श्री जिनवीर।।1499।।

अर्थ :– मोक्ष प्राप्ति के लिए जितने गुणों की आवश्यकता होती है, वे सब गुण इन धीर–वीर पात्रों में होते हैं; इसलिए जिनेन्द्र देव ने इन पात्रों को पवित्र कहा है।

संविभाग अतिथीन को, व्रत्त बारमों सोइ।
दया तनों कारण इहै, हिंसा नाशक होइ।।1500।।

अर्थ :– श्रावकों के बारह व्रतों में अतिथिसंविभाग नाम का बारहवाँ व्रत है, जो दया का कारण है और हिंसा का नाश करने वाला है।

हिंसा के कारण महा, लोभ अजस की खानि।
दान करै नासै भया, इह निश्चय उर आनि।।1501।।

अर्थ :– हिंसा का कारण तीव्र लोभ है। यह लोभ अपयश का खजाना है, दान देने से इस लोभ का नाश हो जाता है। ऐसा निश्चय हृदय में धारण करो।

भोग–रहित निज जोग धरि, परमेश्वर के लोग।
जिनके दर्शन मात्र ही, मिटै सकल दुख सोग।।1502।

अर्थ :– जिनेश्वर के गुणों में अनुरक्त रहने वाले मुनिराज, भोग छोड़कर योग धारण करते हैं; अत: इन मुनिराजों के दर्शन करने मात्र से सर्व दुख और शोक नाश हो जाते हैं।

मधुकर–वृत्ति धारें मुनी, पर पीड़ा न करेय।
पुण्य जोग आवे घरै, जिन आज्ञा जु धरेय।।1503।।

अर्थ :– मुनिराज आहार आदि के लिए किसी को भी पीड़ा नहीं देते। भगवान जिनेन्द्र की आज्ञा–अनुसार भ्रामरी वृत्ति को धारण करने वाले वे मुनिराज कोई महान पुण्य योग से श्रावक के घर आहारार्थ आते हैं।

तिनकौं जो सु अहार दे, ता सम और न कोइ।
दान–धर्म तें रहित जे, किरपण कहिये सोइ।।1504।।

अर्थ :– जो ऐसे मुनिराजों को आहार–दान देते हैं, उनके समान (पुण्यवान) और अन्य कोई नहीं होता है। जो श्रावक दान–धर्म से रहित होते हैं, वे कृपण कहलाते हैं।

कियौ आपने अर्थ जो, सो ही भोजन भ्रात।
मुनि कों अरति विषाद तजि, दे भवपार लहात।।1505।।

अर्थ :– हे भ्रात! आपने अपने लिए जो आहार बनाया हो, अरति एवं विषाद छोड़कर वही आहार मुनिराज को देना चाहिए। ऐसे दाता संसार से पार हो जाते हैं।

शिथिल कियौ जिंह लोभ कों, परम पंथ के हेत।
तेई पात्रनि कों सदा, विधि करि दान जु देत।।1506।।

अर्थ :– जिन श्रावकों ने परमार्थ के लिए अपनी लोभ कषाय को मन्द किया है, वे ही श्रावक पात्रों को विधिपूर्वक दान देते हैं।

सम्यग्दृष्टि दान करि, पावै पुर निरवान।
अथवा भव धरनों परै, तौ पावै सुर थान।।1507।।

अर्थ :– सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे दान के प्रभाव से मोक्ष–पद प्राप्त करते हैं। यदि मोक्ष नहीं गये और भव धारण करना ही पड़ा तो वैमानिक देव होते हैं।

बिन सम्यक्त जु दान दे, त्रिविधि पात्र को जोहि।
पावै इन्द्री भोग सुख, भोगभूमि में सोहि।।1508।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन से रहित जो भद्र मिथ्यादृष्टि जीव (मुनि, आर्यिका एवं क्षुल्लक आदि इन) तीनों प्रकार के पात्रों को आहार दान देते हैं तो वे भी भोगभूमि में उत्पन्न होकर नाना प्रकार

के इन्द्रिय-सुखों को भोगते हैं।

उत्तम पात्र सु दान तें, भोगभूमि उत्कृष्ट।
पावै दशधा कल्पतरु, जहाँ न एक अनिष्ट।।1509।।

अर्थ :- भद्र मिथ्यादृष्टि जीव यदि उत्तम पात्र (मुनिराज) को दान देते हैं तो जहाँ किंचित् भी अनिष्ट नहीं है और जहाँ दस प्रकार के कल्पवृक्ष हैं, ऐसी उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

मध्य पात्र के दान करि, मध्य भोगभू माहिं।
जघनि पात्र के दान करि, जघनि भोगभू जाहिं।।1510।।

अर्थ :- मध्यम पात्र को दान देने से मध्यम भोगभूमि में और जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

पात्रदान को फल इहै, भाशें गणधर देव।
धन्य धन्य जे जगत में, करें पात्र की सेव।।1511।।

अर्थ :- गणधर देव ने पात्रों को दान देने का फल इस प्रकार कहा है। इस जगत में वे जीव महान धन्य हैं, जो पात्रों की सेवा करते हैं।

चाल छन्द

देने औषध सु अहारा, देने श्रुत पाप प्रहारा।
रहने को देनी ठौरा, करने अति ही जु निहौरा।।1512।।

हरने उपसर्ग तिन्हों कें, धरनें गुण चित्त जिन्हों के।
सुख साता देनी भाई, सेवा करनी मन लाई।।1513।।

अर्थ :- अत्यन्त मनुहार या सत्कारपूर्वक आहारदान, औषधिदान, पापों का विनाश करने वाला शास्त्रदान और वसतिका दान देना चाहिए। पात्रों के उत्तम गुण अपने चित्त में धारण करना चाहिए, उनके उपसर्ग दूर करना चाहिए, मनोयोगपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिए और उन्हें नाना प्रकार की सुख-सुविधा देनी चाहिए।

ए नवविधि पात्र जु भाखे, आगम अध्यातम साखे।
बहुरि त्रय भेद कुपात्रा, धारें बाहिज व्रत मात्रा।।1514।।

अर्थ :- आगम और अध्यात्म के अनुसार सुपात्रों के ये नौ भेद कहे गये हैं, जो मात्र केवल बाह्य से ही व्रत धारण किये हुए हैं। ऐसे कुपात्र तीन प्रकार के होते हैं।

जे शुभ किरिया करि युक्ता, जिनके नहिं रीति अयुक्ता।
सम्यग्दर्शन विन साधू, तप संजम शील अराधू।।1515।।

पावैं नहिं भवजल पारा, जावें सुरलोक विचारा।
पहुँचे नवग्रीव लगै भी, जिन तैं अघकर्म भगै भी।।1516।।

पण भावलिंग विन भाई, मिथ्यादृष्टि हि कहाई।
द्रवलिंग धारक जति जेई, उतकृष्ट कुपात्रा तेई।।1517।।

अर्थ :– जो निरन्तर शुभ क्रियाओं में रत रहते हैं, कोई भी क्रिया आगम-विरुद्ध नहीं करते, तप, शील एवं संयम के आराधक हैं; किन्तु सम्यग्दर्शन के अभाव में वे साधु संसार-समुद्र से पार होकर निर्वाण प्राप्त नहीं करते, स्वर्ग में ही उत्पन्न होते हैं। जिनके किंचित् भी अघ कर्म नहीं हैं, वे नव ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न हो जाते हैं; किन्तु भावलिंग (सम्यक्त्व) के बिना मिथ्यादृष्टि ही कहलाते हैं। ऐसे द्रव्यलिंग को धारण करने वाले साधु उत्कृष्ट कुपात्र कहलाते हैं।

जे सम्यक बिन अणुव्रत्ती, द्रव-श्रावकव्रत प्रवृत्ती।
ते मध्य कुपात्र बखानें, गुरु ने नहिं श्रावक मानें।।1518।।

अर्थ :– जो सम्यक्त्व से रहित अणुव्रती हैं, जिनकी द्रव्यरूप से श्रावक-धर्म में प्रवृत्ति है, आचार्यों ने उन्हें श्रावक नहीं माना। वे मध्यम कुपात्र कहे जाते हैं।

आपा पर परचें नाहीं, गनिये बहिरातम माहिं।
षोडश सुरग लों जावें, आतम अनुभव नहिं पावें।।1519।।

अर्थ :– जिन श्रावकों को आत्म द्रव्य और पर द्रव्य का परिचय नहीं है अर्थात् जिन्हें सम्यग्दर्शन नहीं है, वे बहिरात्मा कहलाते हैं। आत्मानुभव से हीन वे श्रावक सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त जाते हैं।

दोहा

जघनि कुपात्रा अव्रती, बाहिर धर्म प्रतीति।
दीखें समदृष्टि समा, नहिं सम्यक की रीति।।1520।।

अर्थ :– जो सम्यग्दर्शन से रहित होते हुए भी सम्यग्दृष्टि दिखाई देते हैं, बाहर से जिनकी धर्म में अतिशय प्रीति है, किन्तु जो अव्रती हैं; वे जघन्य कुपात्र कहे जाते हैं।

शुभ गति पावै तौ कहा, लहै न केवल भाव।
ये संसारी जानिये, भाषैं श्री जिनराव।।1521।।

अर्थ :– शुभ गति प्राप्त कर लेने मात्र से क्या लाभ? केवलज्ञान प्राप्त न कर पाने के कारण वे संसारी ही हैं, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

इनको जानि सुपात्र जो, धारें भक्ति विधान।
सो कुभोगभूमि लहै, अल्प भोग परवान।।1522।।

अर्थ :– इन कुपात्रों को सुपात्र जान कर जो भक्ति–विधान करते हैं, वे अल्प भोग देने वाली कुभोगभूमि में उत्पन्न होते हैं।

पर उपगार दया निमित्त, सदा सकल कों देय।
पात्रनि की सेवा करै, सो शिवपुर सुख लेय।।1523।।

अर्थ :– जो परोपकार की दृष्टि से दया विशेष के कारण सदा काल सब जीवों को सब प्रकार का दान आदि देते हैं, किन्तु सेवा पात्रों की करते हैं; वे मोक्ष–सुख को प्राप्त करते हैं।

नहिं श्रावक नहिं व्रत जती, नहिं श्रावक व्रत जानि।
नहिं प्रतीति जिनधर्म की, ते अपात्र परवानि।।1524।।

अर्थ :– जिन साधुओं के व्रत नहीं हैं, श्रावकों के भी व्रत नहीं हैं, जो श्रावक नहीं हैं और जिन्हें जैनधर्म पर भी विश्वास नहीं हैं; वे अपात्र कहलाते हैं।

बिनै न करनों तिन तनों, दया सकल परि जोग।
करनि भक्ति सु पात्र की, भक्ति अपात्र अजोगि।।1525।।

अर्थ :– सब जीवों पर दया करनी चाहिए, किन्तु अपात्रों की विनय नहीं करनी चाहिए। भक्ति सुपात्रों की ही करनी चाहिए, किन्तु अपात्र भक्ति करने योग्य नहीं होते हैं।

करनी करुणा सकल परि, हरनी सबकी पीर।
धरनी सेवा संत की, इह भाषैं श्री वीर।।1526।।

अर्थ :– वीर जिनेन्द्र ने कहा है कि सब जीवों के प्रति करुणाभाव रखना चाहिए और पीड़ा हरण करके सबको सुख पहुँचाना चाहिए, किन्तु सेवा सन्तों की ही करनी चाहिए।

पात्रापात्र द्वि भेद ए, कहे सूत्र अनुसार।
अब सुनि करुणा दान को, भेद विविध परकार।।1527।।

अर्थ :– पात्र–अपात्र के ये दो भेद आगमानुसार कहे गये हैं। अब अनेक भेदवाला करुणा–दान कहा जा रहा है, उसे सुनो।

सबै आतमा आपसे, चेतन गुण भरपूर।
निज पर की पहिचान बिन, भ्रमें जगत में कूर।।1528।।

उदय कर्म के हैं दुखी, आधि व्याधि के रूप।
परे पिंछ में मूढ़धी, लखैं नहीं चिद्रूप।।1529।।

अर्थ :– अपनी आत्मा के समान सर्व जीव चैतन्य-गुण से भरपूर हैं, किन्तु जीव निज और पर की पहचान बिना इस भयंकर संसार में भ्रमण कर रहे हैं। कर्मों के उदय से ये जीव आधि (शारीरिक रोग) और व्याधि (मानसिक पीड़ा) से पीड़ित हैं। मूर्खों की बुद्धि निरन्तर पर-पदार्थों में दौड़ रही है, अपने चैतन्य स्वभाव को नहीं देख पा रहे हैं।

तिन सब पर धरिके दया, करै सदा उपगार।
नर तिर सब ही जीव को, हरै कष्ट व्रतधार।।1530।।

अर्थ :– प्रत्येक मनुष्य को नियमपूर्वक मनुष्य और तिर्यंच आदि सब जीवों पर दया भाव रखना चाहिए, सबका उपकार करना चाहिए और सब जीवों के कष्टों का निवारण करना चाहिए।

अपनी शक्ति प्रमाण जो, मेटै पर की पीर।
तन मन धन करि सर्व को, साता दे वर वीर।।1531।।

अर्थ :– अपनी शक्ति प्रमाण जो दूसरों की पीड़ा दूर करते हैं और तन, मन एवं धन से सबको सुख-शान्ति प्रदान करते हैं, यथार्थत: वे ही सर्वश्रेष्ठ वीर हैं।

अन्न वस्त्र जल औषधी, त्रण आदिक जे देय।
जाने अपने मित्र सहु, करुणाभाव धरेय।।1532।।

बाल वृद्ध रोगीनि को, अति ही जतन कराय।
अन्ध पंगु कुष्ठीनि परि, करै दया अधिकाय।।1533।।

बन्दि छुड़ावै द्रव्य दे, जीव बचावै सर्व।
अभयदान दे सर्व कों, धरै न धन को गर्व।।1534।।

काल दुकालै माहिं जो, अन्नदान बहु देय।
रंकनि की पीहर जिकौ, नरभव को फल लेय।।1535।।

जाको जग में कोउ नहीं, ताको भीरी सोइ।
दुरबल को बल शुभमती, प्रभु को दासा होइ।।1536।।

अर्थ :– जो अन्न, वस्त्र, जल, औषधि एवं पशुओं को तृण आदि देते हैं एवं हृदय में करुणा भाव धारण कर सबको अपना मित्र समझते हैं। बाल, वृद्ध एवं रोगी जीवों की सावधानीपूर्वक सम्हाल करते हैं; अन्धे, पंगु एवं कुष्ठ आदि रोग से पीड़ित मनुष्यों पर विशेष रूप से दया भाव रखते हैं। अपना द्रव्य देकर बन्दीखानों से या कसाई आदि के हाथों से जीवों को छुड़ा कर उन्हें जीवन–दान देते हैं और भी अन्य प्रकार से सबको अभय–दान देते हैं, धन का गर्व नहीं करते। दुर्भिक्ष आदि के समय विपुल अन्न का दान देकर गरीबों की पीड़ा को दूर कर अपनी मनुष्य पर्याय को सफल करते हैं। जगत में जिनका कोई नहीं है, उन्हें जो साथ लेकर चलते हैं। दुर्बलों को बल देते हैं। ऐसे शुभ बुद्धि वाले ही भगवान के भक्त कहे जाते हैं।

शीतकाल में शीत हर, दे वस्त्रादिक वीर।
उष्णकाल में तापहर, वस्तु प्रदायक धीर।।1537।।

वर्षाकालै धर्म धी, दे आश्रय सुखदाय।
जल बाधा हर वस्तु दे, कोमल भाव धराय।।1538।।

भाँति भाँति की औषधी, भाँति भाँति के चीर।
भाँति भाँति की वस्तु दे, सौ जैनी जगवीर।।1539।।

अर्थ :– जो वीर शीत ऋतु में उष्ण वस्त्र आदि देकर शीत की बाधा दूर करते हैं। ग्रीष्म ऋतु में शीतल वस्तुएँ प्रदान कर उष्ण बाधा वालों को शान्ति प्रदान करते हैं। जो धर्म–बुद्धि को धारण करने वाले वर्षा ऋतु में आश्रय देकर जल बाधा हरण करते हैं और अपने दया परिणामों से प्रेरित होकर उन्हें वस्तुएँ देते हैं और जो नाना प्रकार की औषधियाँ, नाना प्रकार के वस्त्र, नाना प्रकार की अन्य वस्तुएँ देकर जीवों का उपकार करते हैं, वही जैनियों में जग–वीर हैं।

दान विधी जु अनन्त है, कौ लग करें बखान।
जानें श्री जिनराय जू, किह दाता बुधिवान।।1540।।

अर्थ :– दान देने के अनन्त प्रकार हैं अर्थात् अनन्त विधियाँ हैं, उन सबका वर्णन कौन कर सकता है? उन सर्व विधियों (हेतुओं या कारणों) को जिनेन्द्र देव जानते हैं और बुद्धिमान दाता जानते हैं।

भक्ति दया द्वै विधि कही, दानधर्म की रीति।
ते नर अंगीकृत करें, जिनके जैन प्रतीति।।1541।।

अर्थ :– दान–धर्म की रीति में भक्ति और दया ये दो विधियाँ विशेष रूप से कही गई हैं।

जैनधर्म में जिनकी अटूट श्रद्धा है, वे ही मनुष्य इन विधियों को अंगीकार करते हैं।

लक्ष्मी दासी दान की, दान मुकति को मूल।
दान समान न आन कोउ, जिन मारग अनुकूल।।1542।।

अर्थ :– लक्ष्मी दान की दासी है और दान मोक्ष का मूल कारण है। मोक्षमार्ग के अनुकूल दान धर्म के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है।

अतीचार या व्रत्त के, तजै पंच परकार।
तव पावै व्रत शुद्धता, लहै धर्म अविकार।।1543।।

अर्थ :– दान-धर्म (अतिथिसंविभाग व्रत) के पाँच अतीचार कहे गये हैं। जो इन अतीचारों का निवारण कर दान देते हैं, उन्हीं के दान व्रत की शुद्धता आती है और वे ही अविकार धर्म को प्राप्त करते हैं।

भोजन कों मुनि आवहीं, तब जो मूढ़ कदापि।
मन में ऐसी चिंतवै, दान करंता क्वापि।।1544।।

लगि है बेला चूकि हों, जगतकाज तें आज।
तातैं काहू कों कहै, जाय करें जग काज।।1545।।

अर्थ :– मुनिराज को आहार हेतु आते देख कर कोई मूर्ख-मति ऐसा विचार करता है कि दान देने (आहार कराने) में तो बहुत समय लग जायेगा, जिससे मेरे इस व्यापार या नौकरी आदि का समय चूक जायेगा; अत: मैं तो वह कार्य करने जाऊँगा और दान देने के लिए किसी दूसरे को कह जाऊँगा।

मो बिन काम न होइगो, तातें जानों मोहि।
दान करेंगे भातृ-सुत, इह हू कारिज होहि।।1546।।

अर्थ :– मेरे बिना अमुक-अमुक कार्य हो ही नहीं सकते; अत: मुझे तो जाना ही पड़ेगा, दान तो मेरे भाई या पुत्र आदि कोई भी दे देंगे।

धन को जाने सार जो, धर्म न जाने रंच।
सो मूढ़नि सिरमौर है, घट में बहुत प्रपंच।।1547।।

अर्थ :– जो धन को ही सब कुछ मानते हैं, जिनकी दृष्टि में धर्म कुछ भी नहीं है; वे मूर्खों के शिरोमणि हैं और उनके हृदय में बहुत प्रपंच है।

कहै भ्रात पुत्रादि को, दान तनों शुभ काम।
आप सिधारै जड़मती, जग धंधा के ठाम।।1548।।

अर्थ :– ऐसे मूढ़मति दान जैसे सर्वोत्तम शुभ काम करने के लिए तो भाई या पुत्र आदि के लिए कह देते हैं और आप स्वयं संसारी व्यापार आदि कार्यों के लिए जाते हैं।

परदात्री उपदेश यह, दूषण पहलो जानि।
पराधीन ह्वै या थकी, यह निश्चै उर आनि।।1549।।

अर्थ :– (दान-धर्म का) परदात्री उपदेश नाम का पहला अतीचार है। दाता इस अतीचार के आधीन होकर ही दान के फल को हीन कर देते हैं, यह हृदय में निश्चय से धारण करो।

मुनि सम ह्वैगौ धन कहा, इह धारै उर धीर।
भुक्ति-मुक्ति दाता मुनि, षट्कायनि के वीर।।1550।।

अर्थ :– षट्काय के जीवों की रक्षा में मुनिराज प्रधान होते हैं, वे भुक्ति और मुक्ति को देने वाले होते हैं, उनके सामने धन का क्या मूल्य है! हे धीर! यह बात हृदय में भलीभाँति धारण करो।

पुनि सचित्तनिक्षेप है, दूजौ दोष अजोगि।
ताहि तजें तेई भया, दान व्रत्त कों जोगि।।1551।।

अर्थ :– प्रासुक वस्तु को सचित्त पत्तों आदि से ढँक कर देना, यह दूसरा अतीचार है और बहुत अयोग्य है। इस अतीचार का त्याग कर दान देने से ही दान व्रत की सफलता है।

सचित वस्तु कदली दला, ढाक पत्र इत्यादि।
तिन में मेली वस्तु जो, मुनि कों देवो वादि।।1552।।

दोष लगै जु सचित्त को, मुनि के उचित अहार।
तातैं सचितनिक्षेप को, त्याग करै व्रत धार।।1553।।

अर्थ :– केले अथवा ढाक आदि के सचित्त पत्तों पर रख कर मुनि को आहार दान देना दोष का कारण है। मुनिराज प्रासुक आहार ही लेते हैं; अत: पत्तों आदि पर रखा हुआ सचित्त आहार सदोष है। सचित्तनिक्षेप का त्याग करने से ही दानव्रत शुद्ध होता है।

तीजौ सचितविधान है, ताहि तजौ गुणवान।
कमलपत्र आदिक सचित, तिन करि ढाक्यौ धान।।1554।।

अर्थ :– सचित्त कमल पत्र आदि से ढँका हुआ आहार मुनिराज को देना, यह सचित्त-विधान नाम का तीसरा अतीचार है। हे गुणवानों! इस दोष को टाल कर ही आहार दान दो।

नहिं देनों मुनिराय को, लगै सचित को दोष।
प्रासुक आहारी मुनी, व्रत तप संजम कोष।।1555।।

अर्थ :– प्रासुक आहार ही मुनिराज के व्रत, तप और संयम रूपी कोष की वृद्धि का कारण है; अत: उन्हें सचित्त दोष से दूषित आहार नहीं देना चाहिए।

काल उलंघन दान को, योग्य होत नहिं दान।
सो चौथो दूषण भया, त्यागें ते मतिवान।।1556।।

अर्थ :– हे बुद्धिमान दाताओं! समय का उल्लंघन करके आहार-दान देना योग्य नहीं है। यह इस व्रत का चौथा अतीचार है; अत: इस दोष का भी त्याग कर देना चाहिए।

है मत्सरता पंचमों, दूषण दुख की खानि।
करै अनादर दान को, ता सम मूढ़ न आनि।।1557।।

अर्थ :– मात्सर्य भाव से आहारदान देना पाँचवाँ अतीचार है और यह दुखों की खान है। इस दोष से दान का अनादर होता है। जो दाता मात्सर्य भाव से आहार दान देता है, उससे अधिक मूर्ख अन्य कोई नहीं है।

देखि न सकै विभूति पर, पर-गुण देखि सकै न।
सहि न सकै पर उच्चता, सो भव-वास तजै न।।1558।।

अर्थ :– जो दूसरों की विभूति नहीं देख सकता, दूसरों के गुणों को सहन नहीं कर सकता और दूसरों की उच्चता को सहन नहीं कर सकता; वह जीव संसार का वास भी नहीं छोड़ सकता।

नहिं मात्सर्य समान कोउ, दूषण जग में आन।
जाहि निषेधें सूत्र में, तीर्थंकर भगवान।।1559।।

अर्थ :– मात्सर्य के समान अन्य कोई दूषण जगत में नहीं है; इसीलिए जिनेन्द्र भगवान ने आगम में इस दूषण का तो सर्वथा निषेध किया है।

अतीचार ए दान के, कहे जु श्रुत अनुसार।
इनके त्याग किये शुभा, होवै व्रत अविकार।।1560।।

अर्थ :– अतिथिसंविभाग व्रत के ये अतीचार आगमानुसार कहे गये हैं। इन अतीचारों को टाल कर जो शुद्ध आहार दिया जाता है, वही आहार व्रत की शुद्धि का कारण है।

नमों नमों चउ दान कों, जे द्वादश व्रत-मूल।
भोजन भेषज भय-हरण, ज्ञानदान हर भूल।।1561।।

अर्थ :– आहारदान, औषधिदान, अभयदान और ज्ञानदान – इन चारों दानों को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ; क्योंकि ये चार दान ही बारह व्रतों के मूल हैं।

भोजन दानें ऋद्धि ह्वै, औषध रोग निवार।
अभयदान ते निर्भया, श्रुति दानें श्रुति-पार।।1562।।

अर्थ :– आहारदान के फल से ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। औषधिदान से नीरोगता, अभयदान से निर्भयता और ज्ञान-दान से श्रुत-ज्ञान में निपुणता प्राप्त हो जाती है।

कहे व्रत्त द्वादश सबै, दया आदि सुखदाय।
दान पर्यन्त शुभंकरा, जिन करि सब दुख जाय।।1563।।

अर्थ :– दया (अहिंसा) व्रत से दानव्रत पर्यन्त बारह व्रतों का कथन किया है। ये व्रत शुभकारी और सुखकारी हैं। इनको धारण करने से सर्व दुख दूर हो जाते हैं।

एक एक व्रत के कहे, पंच पंच अतिचार।
पालें निरतीचार व्रत, तें पावें भव पार।।1564।।

अर्थ :– एक-एक व्रत के पाँच-पाँच अतीचार कहे गये हैं। जो भव्य जीव इन व्रतों को निरतीचार पालन करते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

सम्यक् बिन नहिं व्रत्त ह्वै, व्रत बिन नहिं वैराग।
बिन वैराग न ज्ञान ह्वै, राग तजै बड़भाग।।1565।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन के बिना व्रत नहीं होते, व्रतों के बिना वैराग्य नहीं होता और वैराग्य के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान हो जाने पर भी कोई विशिष्ट भाग्यवान होते हैं, जो राग का त्याग करते हैं।

चाल छन्द

अब सुनि सब व्रत को कोटा, देशावकाशि व्रत मोटा।
ताकी सुनि रीति जु भाई, जैसी जिनराज बताई।।1566।।

अर्थ :– देशावकाशिक व्रत सर्व व्रतों का परकोटा है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है। इसे भगवान जिनेन्द्र ने जैसा कहा है, मैं वैसा ही कह रहा हूँ; सो हे भाई! तुम सुनो।

पहले जु करौ परमाणा, दिसि विदिशा को विधि जाणा।
इन्द्री विषयनि का नेमा, कीयौ धरि व्रत सों प्रेमा।।1567।।

अर्थ :– व्रत प्रेमी भव्य जीवों को सर्वप्रथम दिशाओं और विदिशाओं में आने–जाने का प्रमाण करना चाहिए, पश्चात् इन्द्रिय–विषयों का नियम कर लेना चाहिए।

धन धान्य अन्न वस्त्रादी, भोजन पाना भरणादि।
मरजादा सबकी धारी, जीवित लों धर्म सम्हारी।।1568।।

अर्थ :– धन, धान्य, अन्न, वस्त्रादि, भोजन–पान और आभूषण आदि की जीवन पर्यन्त के लिए मर्यादा कर धर्म पालन करना चाहिए।

जामें मरजादा बरसी, तामें छै मासी दरसी।
करनी चउ मासो तामें, बहुरि द्वै मासी जामें।।1569।।

ताहू में मासी नेमा, मासी में पाखी प्रेमा।
पाखी में आधी पाखी, ताहू में दिन–दिन भाखी।।1570।।

दिन माहिं पहरां धारै, पहरनि में घरी विचारै।
पल–पल के धारै नेमा, जाके जिनमत सों प्रेमा।।1571।।

अर्थ :– जिनको जैनधर्म से प्रीति है, उन्हें उपर्युक्त प्रकार से की हुई जीवन पर्यन्त की मर्यादा में एक वर्ष की, उसी में छह माह की, उसमें फिर चार माह की, दो माह की, एक माह की, एक पक्ष की, एक सप्ताह की, पश्चात् उसी में एक–दो दिनों की, दिन में भी पहर की, पहर में भी घड़ी की और घड़ी में भी पल–पल की मर्यादा का नियम लेते रहना चाहिए।

भोगनि सों घटतो जाई, व्रत है चढ़तो अधिकाई।
सीमा में सीमा कारै, जिन–मारग जतनें धारै।।1572।।

अर्थ :– जो जिनमार्ग में सदैव प्रयत्नशील हैं, वे सीमा के भीतर सीमा करते जाते हैं और भोगों से उनकी प्रीति घटती जाती है तथा व्रत में प्रीति बढ़ती जाती है।

ह्वै बाड़ि फले क्षेत्रनि के, जैसें कोट जु नगरी के।
तैसे यह द्वादश व्रत के, देशावकाशि व्रत सबके।।1573।।

अर्थ :– जैसे धान्य युक्त खेत के बाड़ होती है, नगर के चारों ओर परकोटा होता है; उसी प्रकार बारह व्रतों का कोट देशावकाशव्रत है।

देशावकाशि व्रत माहीं, सतरा नेम जु सक नाहीं।
तिनकी सुनि रीति जु मित्रा, जिन करि ह्वै व्रत्त पवित्रा।।1574।।

अर्थ :– देशावकाशी व्रत में सत्रह नियम नहीं हैं। ये सत्रह नियम व्रतों को पवित्र करते हैं; अत: हे मित्रों! अब उनकी विधि सुनो।

दोहा

नियम किये व्रत शोभ ही, नियम बिना नहिं शोभ।
तातैं व्रत धरि नेम कों, धारै तजि मद लोभ।।1575।।

अर्थ :– (प्रतिदिन सत्रह) नियम धारण करने से ही व्रतों की शोभा है। नियम बिना व्रतों की शोभा नहीं होती; अत: व्रती मद और लोभ छोड़कर प्रतिदिन ये सत्रह नियम अवश्य धारण करें।

श्रावकाचार में सत्रह नियमों के नाम इस प्रकार कहे गये हैं –

भोजने षट्रसे पाने, कुंकुमादिविलेपने।
पुष्पताम्बूलगीतेषु, नृत्यादौ ब्रह्मचर्यके।।1।।
स्नानभूषणवस्त्रादौ, वाहने शयनाशने।
सचित्तवस्तुसंख्यादौ, प्रमाणं भज प्रत्यहम्।।2।।

अर्थ :– 1. भोजन, 2. षट्रस, 3. पेय पदार्थ, 4. कुंकुम आदि का विलेपन, 5. पुष्प, 6. ताम्बूल आदि, 7. गीत, 8. नृत्य, 9. वादित्र, 10. ब्रह्मचर्य, 11. स्नान, 12. आभूषण, 13. वस्त्रादि, 14. वाहन, 15. शय्या, 16. आसन और 17. सचित्त पदार्थों की संख्या निर्धारित करना। प्रतिदिन प्रात: काल में ये सत्रह नियम लेकर ही दिनभर की चर्या निर्धारित करें। ये सत्रह नियम व्रतों को विशुद्ध करने में बहुत उपयोगी हैं।

चौपाई

भोजन की मरजादा गहै, बारम्बार न भोजन लहै।
पर घर भोजन तोहि जु करै, प्रात समै जो संख्या धरै।।1576।।

अर्थ :– बार-बार भोजन न करें। भोजन कितने बार करना है? इसकी मर्यादा कर लें। यदि दूसरों के घर भी भोजन करना पड़े तो उतनी ही बार करें, जितनी संख्या में प्रात:काल में नियम किया हो।

अन्न मिठाई मेवा आदि, भोजन माहिं गिने जु अनादि।
बहुरि चवेणा अर पकवान, भोजन जाति कहे भगवान।।1577।।

अर्थ :– अन्न, मिठाई और मेवा आदि भोजन में ही गिने जाते हैं। चबेना और पकवान भी भोजन की जाति में ही हैं। ऐसा भगवान ने कहा है।

सब मरजादा माफिक गहै, बार-बार ना लीयौ चहै।
षट् रस में राखे जो रसा, सोई लेय नेम में बसा।।1578।।

अर्थ :- ये सब पदार्थ बार-बार नहीं खाने चाहिए। मर्यादा के भीतर ही ग्रहण करना चाहिए। रस छह प्रकार के हैं। इनमें जितने रस लेने की प्रतिज्ञा की है, उतने ही लेवें।

और न रस चाखौ बुधिवन्त, इह आज्ञा भाषें भगवन्त।
काम-उद्दीपक हैं रसजाति, रस परित्याग महातप भांति।।1579।।

अर्थ :- भगवान जिनेन्द्र ने रस जाति को काम-उद्दीपक कहा है और रस-परित्याग को महातप कहा है; अत: बुद्धिमान जन मर्यादा के अनुसार (नियमानुसार) ही रस ग्रहण करें।

जो रसजाति तजी नहिं जाय, करि प्रमाण जिय में ठहराय।
पानी सरबत दूध रु मही, इत्यादिक पीवे के सही।।1580।।

अर्थ :- यदि सर्व रसों का त्याग नहीं कर सकते तो उसकी मर्यादा (संख्या आदि) अवश्य कर लेना चाहिए। पानी, शरबत, दूध और छाछ आदि पेय पदार्थ हैं।

तिनमें लेवौ राखै जोहि, ता माफिक लेवौ बुध सोहि।
चोवा चन्दन तेल फुलेल, कुंकुम और अरगजा मेल।।1581।।

औषधि आदि लेप हैं जेह, संख्या बिन न लगावै तेह।
जाने येह देह दुरगन्ध, या के कहा लगावौ सुगन्ध।।1582।।

अर्थ :- बुद्धिमान जन छह रसों में से जो रस नियम लेते समय रखे हैं, वही लेवें; चोवा, चन्दन, तेल, फुलेल, कुंकुम और अरगजा (उबटन) तथा औषधि आदि लेप करने वाले पदार्थ हैं; वे भी ली हुई मर्यादा के उपरान्त न लगावें। ऐसा विचार करें कि यह शरीर स्वभाव से दुर्गन्धित है, इस पर सुगन्धित पदार्थ लगाने से क्या लाभ?

जो न सर्वथा त्यागै वीर, तो हु प्रमाण गहै नर धीर।
पहुप जाति सों छांडै प्रेम, अति दोषीक कहे गुरु एम।।1583।।

अर्थ :- यदि लेप आदि करने का सर्वथा त्याग न कर सकें तो धीर-वीर उनको लगाने की मर्यादा अवश्य करें। सर्व जाति के पुष्पों से राग छोड़ें। पुष्पों के उपभोग में बहुत दोष लगता है। ऐसा आचार्य देव ने कहा है।

भोग उदय जो त्यागि न सकै, थोरे लेप पाप तें सकै।
पान सुपारी डोड़ा आदि, लोंगादिक मुख सोध अनादि।।1584।।

दालचिनी जावित्री जानि, जातीफल इत्यादि बखानि।
सबमें पान महा दोषीक, जैसे पापनि माहिं अलीक।।1585।।

अर्थ :– भोगान्तराय कर्म के उदय से सर्वथा त्याग न कर सकें तो उतने ही पुष्प आदि को ग्रहण करें, जितने में पाप का बन्ध अल्प हो। पान, सुपाड़ी, डोंडा (बड़ी इलाचयी), लोंग आदि तथा मुख-शोध (की अन्य वस्तुएँ) एवं दालचीनी, जावित्री, माजूफल आदि पदार्थ हैं। इनमें पान-सेवन में उसी प्रकार का महादोष है, जिस प्रकार सर्व पापों में झूठ महा पाप है।

पान त्यागिवौ जावो जीव, पाननि में प्राणी जु अतीव।
जो अतिभोगि छांडि न सकै, थोरे खाय दोषतें सकै।।1586।।

अर्थ :– पान में बहुत जीव होते हैं; अत: भव्य जीवों को पान का त्याग कर देना चाहिए। जो अति आसक्ति के कारण पान का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, वे पान के दोषों से भयभीत होते हुए भी कम खावें।

गीत नृत्य वादित्र जु सर्व, उपजावै अति मनमथ गर्व।
ऐ कौतूहल अधिके बन्ध, इनमें जो राचै सो अन्ध।।1587।।

अर्थ :– गीत, नृत्य और वादित्र आदि काम को उद्दीपन करने वाले और गर्व की वृद्धि करने वाले होते हैं। इनसे कौतूहल भी अधिक होता है। जो जीव इनमें प्रीति रखते हैं, वे अन्धे जीव कर्म बन्ध करते हैं।

जो न सर्वथा छाड़े जाय, तोहु न अधिक न राग धराय।
मरजादा माफिक ही भजै, औसर पाय सकल ही तजै।।1588।।

अर्थ :– इनको यदि सर्वथा नहीं छोड़ सकें तो भी इनमें अधिक राग न रखें और अधिक न देखें-सुनें। जितनी मर्यादा रखी है, उतनी बार ही देखें-सुने। पश्चात् समय पाकर सर्वथा त्याग करें।

एक भेद या माहीं और, आपुन बैठौ अपनी ठौर।
गावत गीत त्रिया नीकली, सुनिकर हरषै चितधरि रली।।1589।।

तामें दोष लगै अधिकाय, भाव सराग महा दुखदाय।
पातरि नृत्य अखारे माहिं, नट नटवा अथ नृत्य कराहिं।।1590।।

बादीगर आदिक बहु ख्याल, बिनु परमाण न देखौ लाल।
अब सुनि ब्रह्मचर्य की बात, याहि जु पालें ते हि उदात।।1591।।

अर्थ :– इनका एक भेद और है कि आप अपने स्थान (बैठक खाने में या दुकान आदि) पर बैठे हैं। वहाँ से कुछ स्त्रियाँ गीत गाती हुई निकलीं, जिसे सुनकर आपका चित्त हर्षित हो जाता है। इसमें बहुत अधिक दोष लगता है; क्योंकि सराग भाव भयंकर दुखदायी है। नाटक के पात्र रंगमंच पर नृत्य करते हैं, नट और नटी नृत्य करते हैं तथा बादीगर आदि नृत्य करते हैं। इन नृत्यों को हे भाई! बिना मर्यादा किये बिना नहीं देखना चाहिए। अब ब्रह्मचर्य के विषय में कहते हैं कि जो इस व्रत का पालन करते हैं, वे ही बुद्धिमान हैं।

परनारी कौ है परिहार, निज नारी में इह निरधार।
जावो जीव दिवस कौ त्याग, रात्रि विषै हूँ अलपहि राग।।1592।।

अर्थ :– पर–नारी का सर्वथा त्याग करें, निज विवाहित नारी के भोग की मर्यादा करें, दिवा–मैथुन का जीवन पर्यंत के लिए त्याग कर दें तथा निज पत्नी के प्रति रात्रि में भी अल्प राग रखें।

पाँचू परवी शील गहेय, अर सब व्रत के दिवस धरेय।
कबहुक मैथुन सेवन परै, सो मरजादा माफिक करै।।1593।।

अर्थ :– व्रत के दिनों में भी द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी – इन पाँच पर्वों में ब्रह्मचर्य व्रत धारण करें। यदि कभी स्त्री सेवन करें तो मर्यादापूर्वक ही करें।

महा दोष को मूल कुशील, या तजिवे में ना करि ढील।
सेवत मनमथ जीव–विघात, इहै काम है अति उतपात।।1594।।

अर्थ :– कुशील महादोष का मूल है; अत: इसका त्याग करने में देर न करें। काम–सेवन करने से अनन्त जीवों का घात होता है; अत: यह कार्य अत्यन्त दुख देने वाला है।

जो न सर्वथा त्याग्यौ जाहि, तौ हू अलप सेववौ ताहि।
नदी तलाव वापिका कूप, तहाँ जाय न्हवौ जु विरूप।।1595।।

जो न्हवौ बिन छाणें जले, ते सब धर्म–कर्म तैं टलैं।
जैसौ रुधिर थकी ह्वै स्नान, तैसौ अनगाले जल जान।।1596।।

अर्थ :– यदि काम–सेवन का सर्वथा त्याग न हो सके तो मर्यादा पूर्वक अल्प सेवन करें। नदी, तालाब, वापिका और कूप आदि पर जाकर जो मूर्ख स्नान करते हैं और जो बिना छने जल से स्नान करते हैं, वे सर्व धर्म–कर्म से रहित हैं। अनछने जल का स्नान, खून में स्नान करने के सदृश है।

अचित जले न्हावौ है भया, प्रासुक निर्मल विधिकरि लया।
ताहू की मरजादा धरै, बिना नेम कारिज नहिं करै।।1597।।

अर्थ :– अचित्त जल से ही स्नान करें। उत्तम विधि से जल का प्रासुक करके ही स्नान करें। दिन में कितनी बार स्नान करूँगा? ऐसी मर्यादा करके ही स्नान करें, बिना नियम लिये स्नान आदि कार्य न करें।

रात्री न्हावौ नाहिं कदापि, जीव न सूझै मित्र कदापि।
हिंसा सम नहिं पाप जु और, दया सकल धर्मनि सिर मौर।।1598।।

अर्थ :– हे मित्र! रात्रि में जीव दिखाई नहीं देते; अत: रात्रि में कभी भी स्नान न करें; क्योंकि हिंसा-सदृश कोई पाप नहीं है और दया सर्व धर्म की सिरमौर है।

आभूषण पहिरे हैं जिते, घर मैं और धरै हैं तिते।
नियम बिना नहिं भूषण धरै, सकल वस्तु कौ नियम जु करै।।1599।।

अर्थ :– नियम (मर्यादा) बिना शरीर पर आभूषण न पहनें और मर्यादा बिना कोई आभूषण आदि घर में भी न रखें। सर्व अलंकार आदि नियम करके ही रखें।

पर के दीये पहरै जे हि, नियम माहिं राखै हैं तेहि।
रतनत्रय भूषण बिनु आन, पाहन सम जाने मतिवान।।1600।।

अर्थ :– दूसरों के द्वारा दिये हुए आभूषण भी यदि पहनें तो जो मर्यादा रखी है, उसी के भीतर पहनें। हे बुद्धिमानों! रत्नत्रयरूपी आभूण के बिना अन्य सर्व आभूषण पत्थर के समान जानो।

वस्त्रनि की जेती मरजाद, ता माफिक पहरै अविवाद।
अथवा नये ऊजरे और, नियम रूप पहरै सुभतौर।।1601।।

अर्थ :– वस्त्रों की भी जितनी मर्यादा रखी है, उसी के अनुसार पहनने में कोई आपत्ति नहीं है। नवीन अथवा धुले हुए वस्त्र भी मर्यादा के भीतर पहनना ही कल्याणकारी है।

ससुरादिक के दीन भया, अथवा मित्रादिक तैं लया।
राजादिक ने की बकसीस, अदभुत अंबर मोल गरीस।।1602।।

नित्य नेम में राखै होइ, तौ पहिरै नातर नहिं कोइ।
पांवुनि की पनही हैं जेहि, तेऊ वस्त्रनि माहिं गिनेहि।।1603।।

अर्थ :– ससुराल वालों ने वस्त्र दिये हों अथवा किसी मित्र या सहेली ने दिये हों अथवा राजा

आदि ने पारितोषिक रूप में कोई अद्भुत एवं बहुमूल्य वस्त्र दिये हों तो भी यदि नित्य के नियम रखे हों तो ही पहनें। यदि नियम के भीतर नहीं हैं तो न पहनें। पैरों में पहने जाने वाले जूते या चप्पल आदि भी वस्त्रों में ही गिनें।

नई पुरानी निज परतणौ, राखै सो पहिरै इम भणी।
पनही तजै पहरवौ भया, तौ उपजै प्राणिनि की दया।।1604।।

अर्थ :– नवीन और पुराने जितने जूतों आदि का नियम किया हो, उतने ही पहनें। जूते-चप्पल आदि के पहनने का त्याग कर देने से ही प्राणियों पर दया उत्पन्न होगी।

रथ वाहन सुखपाल इत्यादि, हस्ती ऊँट रु घोटक आदि।
एहैं थल के वाहन सबै, पुनि विमान आदिक नभ फबै।।1605।।

अर्थ :– रथ-वाहन और सुख-पालकी आदि तथा हाथी, ऊँट और घोड़ा आदि – ये सब स्थल के वाहन हैं और विमान (हवाई जहाज) आदि आकाश के वाहन हैं।

नाव जिहाज आदि जलकेह, इनमें ममता नाहिं धरेय।
कोइक जावो जावै तजै, कोइक राखे नियमा भजैं।।1606।।

अर्थ :– नाव एवं जल-जहाज आदि जल के वाहन हैं। इन सभी प्रकार के वाहनों में ममत्व भाव नहीं रखना। कोई मनुष्य किराये आदि के वाहनों पर जाकर उन्हें छोड़ देता है और कोई अपने निजी रखता है। इनकी भी मर्यादा अवश्य करें।

तिनहूँ में निति नेम करैइ, बहु अभिलाषा छांड़ि जु देइ।
मुनि हूवौ चाहे मन माहिं, जगमाहीं जाको चित नाहिं।।1607।।

अर्थ :– इसकी हुई मर्यादा में भी प्रतिदिन का नियम करें कि मैं आज इतने ही वाहनों का उपयोग करूँगा। मर्यादा के बाहर सर्व वाहनों की अभिलाषा छोड़ देवें। ऐसे भव्य श्रावक का चित्त संसार में नहीं लगता, उसका मन घर आदि का त्याग कर मुनिराज ही बनना चाहता है।

वाहन चढ़ै होइ नहिं दया, तातैं तजैं धन्य ते भया।
मुनि आर्या अर श्रावक बड़े, हैं जु निरारंभी अति छड़े।।1608।।

ते वाहन कौ नाम न धरै, जीवदया मारग अनुसरैं।
आरम्भी श्रावक राजादि, तिनके वाहन हैं जु अनादि।।1609।।

अर्थ :– वे भाई ही धन्य हैं, जो वाहन में बैठने का सर्वथा त्याग कर देते हैं; क्योंकि वाहनों पर बैठ कर आने-जाने से दया का पालन नहीं होता है। मुनि, आर्यिका और गृह-त्यागी उत्कृष्ट

श्रावक सर्व वाहनों का त्याग कर देते हैं और निरारम्भी होते हैं। ये वाहनों का नाम ही नहीं लेते, सदा जीव दया के मार्ग का ही अनुसरण करते हैं। राजा आदि जो आरम्भ-सारम्भ करने वाले श्रावक हैं, वे अवश्य वाहन आदि रखते हैं।

तेऊ करै प्रमाण सुवीर, नित्यनेम धारैं जगधीर।
तीर्थंकर चक्रो अरु काम, मुनि ह्वै फिरैं पयादे राम।।1610।।

अर्थ :- जो सुवीर वाहन रखते हैं, वे उसका प्रमाण कर लेते हैं और फिर उसमें भी प्रतिदिन मर्यादा करते रहते हैं। देखो! तीर्थंकर, चक्रवर्ती, कामदेव और बलभद्र आदि महापुरुष मुनि होकर पैदल ही चलते हैं।

तातैं पगां चालिवौ भली, पर सिर चलिवौ है अघमिला।
इहै भावना भावत रहै, सो वेगा शिवकारन लहै।।1611।।

अर्थ :- इसलिए पैदल चलना ही उत्तम है। दूसरों के सिर पर चलना पाप ही है। ''मैं कब पैदल विहार करूँ।'' ऐसी भावना भाते रहने से शीघ्र ही कल्याण का मार्ग प्राप्त हो जाता है।

रतनत्रय शिवकारण कहे, दरसन ज्ञान चरण जिन लहे।
अब सुनि शयनासन कौ नेम, धारै श्रावक व्रतसों प्रेम।।1612।।

अर्थ :- जिन्हें जिनेन्द्र देव ने भी धारण किया है ऐसा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय ही मोक्ष (कल्याण) का मार्ग है। जिसे श्रावक-जन प्रेम से धारण करते हैं, ऐसे शयनासन के नियम को अब मैं कहता हूँ, सो सुनो।

जोहि पलंग परि सोवो तनों, सोहू शयन परिग्रह गनो।
सौड़ दुलाई तकिया आदि, ए सब सज्जा माहिं अनादि।।1613।।

अर्थ :- जो पलंग आदि शय्या पर सोते हैं, वह शय्या शयन परिग्रह की गिनती में ही आते हैं तथा शाल, दुशाला और तकिया आदि - ये सब सज्जा कहलाते हैं।

इनकौ नेम धरै व्रतवान, भूमि-शयन चाहै मतिवान।
भूमि-शयन जोगीश्वर करैं, उत्तम श्रावक हू अनुसरै।।1614।।

अर्थ :- व्रती श्रावक इनकी मर्यादा कर लेते हैं और जो बुद्धिमान हैं, वे तो साधु बन कर भूमि-शयन ही करना चाहते हैं। योगीश्वर भूमि-शयन ही करते हैं और उत्तम श्रावक भी उन्हीं का अनुसरण करते हैं।

आरंभी गृहपति के सेज, तेहू नियम सहित अधिकेज।
जापरि परनारी सोवैहि, सो सज्ज्या बुध नहिं जोवेहि।।1615।।

अर्थ :– आरम्भी श्रावकों के सेज-शय्याएँ होती हैं, किन्तु वे मर्यादित ही होती हैं; अधिक नहीं। जिस शय्या आदि पर पर-नारी शयन करती है, उस शय्या पर बुद्धिमान जन शयन नहीं करते हैं।

निज सज्जा राखी है भया, ताहू में परमित अति लया।
व्रत के दिन भू-सज्जा करै, भोग भावतें प्रेम न धरै।।1616।।

अर्थ :– अपने निज के लिए जो सज्जा (तकिया, शाल, चादर) आदि रखें हैं, उनमें से भी प्रतिदिन अति-अल्प ही ग्रहण करते हैं। भोग-भाव से प्रेम न रखते हुए सज्जन पुरुष व्रत के दिनों में भूमि में ही शयन करते हैं।

गादी गाऊ तकिया आदि, चौकी चौका पाट इत्यादि।
सिंहासन प्रमुखा जेतेक, आसन माहिं गिनौ जु अनेक।।1617।।

अर्थ :– गादी, गद्दा और तकिया आदि चौकी, चौका और पाटा आदि तथा सिंहासन हैं प्रमुख जिसमें, ऐसे अन्य अनेक प्रकार के जितने भी आसन हैं; वे सब आसन की ही गिनती में आते हैं।

गिलम गलीचा सतरंजादि, जाजम चादर आदि अनादि।
इन चीजों से मोह निवार, जासें होय पार संसार।।1618।।

अर्थ :– गिलम, गलीचा एवं शतरंज आदि तथा जाजम एवं चादर आदि जो परिग्रह हैं, इनसे ममत्व छोड़ो, जिससे संसार से पार हो सकें।

जेती जाति बिछौना की हि, सो सब आसन माहिं गनीहि।
निज घर के अथवा परठाम, जेते मुकते राखे धाम।।1619।।

तिनपरि बैसे और जु त्याग, है जाको व्रतसूं अनुराग।
सचित वस्तु को भोजन निंद, जाहि निषेधै त्रिभुवनचंद।।1620।।

अर्थ :– जितनी भी जाति के बिस्तर हैं, वे सब आसन की ही गिनती में आते हैं। जिन भव्य जीवों को अपने व्रतों से अनुराग है, वे अपने घर पर हों अथवा कहीं अन्य गये हों, वे उतने ही बिस्तर आदि का उपभोग करते हैं, जितना उन्होंने प्रमाण किया है; शेष का वे त्याग कर देते हैं। सचित्त वस्तुओं का भोजन भी निंद्य है। जिनेन्द्र देव ने ऐसा भोजन करने का निषेध किया है।

मुनि आर्या त्यागेंहि सचित्त, उत्तम श्रावक लें हि अचित्त।
पंचम पड़िमा आदि सुधीर, एकादस पड़िमा लो वीर।।1621।।

अर्थ :– मुनि–आर्यिका सचित्त वस्तु के त्यागी होते हैं। पंचम प्रतिमा से ग्यारह प्रतिमा तक धारण करने वाले उत्तम श्रावक भी अचित्त ही भोजन करते हैं।

कबहु न लेइ सचित्त अहार, गहै अचित्त वस्तु अविकार।
पहलो पड़िमा आदि चतुर्थ, पड़िमा लो ले सचित हि अर्थ।।1622।।

अर्थ :– प्रथम प्रतिमा से चतुर्थ प्रतिमाधारी श्रावक सचित्त पदार्थों का सेवन कर सकते हैं, किन्तु इससे ऊपर वाले कभी भी सचित्त भोजन आदि नहीं करते हैं, अचित्त भोजन–पान ही ग्रहण करते हैं।

पै मन में कम्पै सु विवेक, तजै सचित्त जु वस्तु अनेक।
केइक राखी तामें नेम, नितप्रति धारै व्रतसों प्रेम।।1623।।

अर्थ :– जिन विवेकी श्रावकों का मन पाप से भयभीत रहता है, वे अनेक सचित्त वस्तुओं का तो त्याग ही कर देते हैं। व्रत से प्रीति रखने वाले श्रावक मर्यादा करके जो कुछ सचित्त पदार्थ रखते भी हैं, वे उसमें से भी प्रतिदिन कुछ न कुछ त्याग कर देते हैं।

कहा कहावै वस्तु सचित्त, सो धारौ भाई निज चित्त।
पत्र फूल फल छांड़ि इत्यादि, कूंपल मूल कन्द बीजादि।।1624।।

पृथिवी पाणी अग्नि जु वाय, ए सहु सचित कहे जिनराय।
जीव–सहित जो पुदगल पिंड, सो सब सचित तजै गुणपिंड।।1625।।

अर्थ :– कौन–कौन सी वस्तुएँ सचित्त होती हैं? हे भाई! इसे पहले अपने चित्त में धारण कर लें। फल, फूल और पत्तों आदि को छोड़कर कोपल, जड़, कन्द, बीजादि, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को जिनेन्द्र भगवान ने सचित्त कहा है। गुण–समूह को धारण करने वाले जीव सहित जो पुद्गल पिण्ड हैं, वह सब सचित्त मान कर छोड़ देते हैं।

ये सहु भाँति सचित्त तजेय, सो निहचै जिनराज भजेय।
जो न सर्वथा त्यागी जाय, तौ कैयक ले नेम धराय।।1626।।

अर्थ :– इस प्रकार जो सर्व प्रकार की सचित्त वस्तुओं का त्याग कर देते हैं, वही निश्चय से भगवान की आज्ञा का पालन करते हैं। यदि कोई सर्व सचित्त का सदा के लिए त्याग न कर सके तो वह कुछ मर्यादा कर ले।

संख्या सचित वस्तु की करै, सकल वस्तु को नियम जु धरै।
गिनती करि राखै सब वस्तु, तबहि जानिये व्रत्त प्रशस्त।।1627।।

अर्थ :– सचित्त वस्तुओं की संख्या निर्धारित कर लें और इसके अतिरिक्त सर्व वस्तुओं का त्याग कर दें। जो श्रावक सचित्त वस्तुओं की संख्या निर्धारित कर शेष का त्याग कर देते हैं, उन्हीं के व्रत प्रशस्त जानना चाहिए।

लाडू पेडा पाक इत्यादि, औषधि रस अर चूरण आदि।
बहुत वस्तु करि जे निपजेह, एक द्रव्य जानों बुध तेह।।1628।।

अर्थ :– मोदक, पेड़ा और बादाम-पाक आदि, औषधि, वसन्तमालिनी आदि रस और लवणभास्कर आदि चूर्णों का निर्माण बहुत पदार्थों के मिलने से होता है, किन्तु हे बुद्धिमानों! इन्हें एक-एक द्रव्य ही मानो।

वस्तु गरिष्ठ न खावे जोग, ए सब काम तने उपयोग।
जो कदापि ये खाने परै, अलप-थकी अलप जु आहरै।।1629।।

अर्थ :– अधिक गरिष्ठ वस्तुएँ खाने योग्य नहीं हैं। गरिष्ठ पदार्थ काम-उद्दीपक (बढ़ाने वाले) होते हैं। यदि कभी गरिष्ठ पदार्थ खाने ही पड़ें तो थोड़े में थोड़ा ही खावें।

सत्रह नेम चितारै नित्य, जानों ए सहु ठाठ अनित्य।
प्रात थकी संध्या लों करे, पुनि संध्या समये बुध धरै।।1630।।

अर्थ :– संसार के सर्व ठाठ-बाटों को अनित्य मानते हुए ये सत्रह नियम नित्य ही चित्त में धारण करें। बुद्धिमान जन प्रातःकाल से संध्या पर्यन्त के लिए, फिर संध्या समय से रात्रि पर्यन्त के लिए ये सत्रह नियम लेते हैं।

इती वस्तु तौ त्यागै वीर, राति परै नहिं सेवै वीर।
भोजन षट्रस पान समस्त, चंदनलेप आदि परसस्त।।1631।।

अर्थ :– जो वीर हैं, वे रात्रि में नीचे लिखी वस्तुओं का त्याग कर दें। यथा रात्रि में कभी भोजन न करें, छह रसों में से कोई भी रस ग्रहण न करें, किसी भी प्रकार का पेय पदार्थ न पियें और चन्दन आदि का विलेपन न करें। रात्रि में इन सबका उपयोग करना अप्रशस्त है।

तजे राति तंबोल सुवीर, दया धर्म उर धारैं धीर।
गीत श्रवण जो होय कदापि, राखै नेम माहिं सो क्वापि।।1632।।

अर्थ :– दयाधर्म को हृदय में धारण करने वाले धीर-वीर रात्रि में ताम्बूल आदि भी न खावें।

यदि कदापि गीत आदि श्रवण भी करें तो मर्यादानुसार ही करें।

नृत्यहुं सो नहिं जाको भाव, पै न सर्वथा छांड्यौ चाव।
जौ लग गृहपति कबहुँक लखै, सोहू नेम माहिं जो रखै।।1633।।

अर्थ :– नृत्य आदि देखने की विशेष उत्कण्ठा न होते हुए भी यदि गृहपति सर्वथा त्याग न कर सकें तो मर्यादानुसार ही देखें।

ब्रह्मचर्य सों जाको हेत, परनारी सों वीर सचेत।
निज नारी ही में संतोष, दिन को कबहुं न मनपथ पोष।।1634।।

अर्थ :– जो वीर पर-स्त्री के सर्वथा त्यागी हैं, दिवामैथुन के भी त्यागी हैं तथा जिन्हें ब्रह्मचर्य व्रत से प्रीति है, वे स्व-स्त्री में ही संतोष धारण करें।

रात्रिहु में पहले पहरौ न, चौथी पहरौ मनमथ को न।
दूजी तीजौ पहर कदापि, परै सेवनी मैथुन क्वापि।।1635।।

सोहू अलप-थकी अति अल्प, नित प्रति नहिं या कौ संकल्प।
राखै नेम माहिं सहु बात, बिना नेम नहिं पांव धरात।।1636।।

अर्थ :– रात्रि का प्रथम पहर और चतुर्थ पहर छोड़ कर दूसरे और तीसरे पहर में यदि कदापि मैथुन सेवन करना ही पड़े तो कम से कम करें। प्रतिदिन उसका संकल्प मन में न रखें। मर्यादानुसार ही काम-सेवन करें। मर्यादा (नियम) के बिना स्त्री के कमरे में पैर न रखें।

स्नान राति कों कबहु न करै, दिन को स्नान तनी विधि धरै।
भूषण वस्त्रादिक को नेम, राखै जा विधि धारै प्रेम।।1637।।

अर्थ :– रात्रि को कभी भी स्नान न करें, दिन का स्नान भी विधिपूर्वक ही करें। नियम विधि में प्रीति रखते हुए वस्त्राभूषण भी मर्यादानुसार ही धारण करें।

वाहन शयनासन की रीत, नेम माहिं धारै सहु नीति।
वस्तु सचित नहिं निशि कों भखै, रजनी में जल मात्र न चखै।।1638।।

अर्थ :– वाहन, शय्या और आसन आदि भी मर्यादानुसार ही सेवन करें। कोई भी सचित्त वस्तु रात्रि में न खावें, जल भी रात्रि में न पियें।

खान पान की वस्तु समस्त, रात्रि विषैं कोई न प्रशस्त।
या विधि सतरा नेम जु धरै, सो व्रत धारि परम गति वरैं।।1639।।

अर्थ :– खान-पान की कोई भी वस्तु रात्रि में ग्रहण करना अप्रशस्त है। इस प्रकार जो सत्रह नियम धारण करके अपने व्रतों को शुद्ध करते हैं, वे उत्तम गति प्राप्त करते हैं।

नियम बिना धिग धिग नर जन्म, नियमवान होवेहि अजन्म।
यम नियमासन प्राणायाम, प्रत्याहार धारना राम।।1640।।
ध्यान समाधि अष्ट ए अंग, योग तनैं भाषै जु असंग।
सब में श्रेष्ठ कही सुसमाधि, नियम थकी उपजै निरुपाधि।।1641।।

अर्थ :– नियम के बिना इस मनुष्य पर्याय को धिक्कार है, धिक्कार है। जो मनुष्य पर्याय को प्राप्त करके व्रत-नियम का पालन करते हैं, वे भवातीत होते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि - ये आठ अंग योग के ही कहे गये हैं। इन आठों अंगों में सुसमाधि को श्रेष्ठ कहा गया है। इसको धारण कर लेने से निरुपाधि पद की प्राप्ति हो जाती है।

राग-द्वेष कौ त्याग समाधि, जाकरि टरै आधि अरु व्याधि।
परम शांतता उपजै जहां, लहिए आतम भाव जु तहाँ।।1642।।

अर्थ :– राग-द्वेष का त्याग कर समाधि धारण करें। समाधि से आधि (शारीरिक पीड़ा) और व्याधि (मानसिक पीड़ा) दूर हो जाती है। आत्मा में परम शान्ति उत्पन्न हो जाती है और आत्मभाव की प्राप्ति हो जाती है।

मरण-काल उपजै जु समाधि, आय प्राप्त ह्वै आधि रु व्याधि।
नित्य अभ्यासी होय समाधि, तौ न नीपजै एक उपाधि।।1643।।

अर्थ :– जो केवल मरण काल में समाधि करते हैं, उन्हें आधि-व्याधि उत्पन्न होने की सम्भावना है, किन्तु जो समाधि साधने का सतत अभ्यास करते हैं, उन्हें कोई उपाधि उत्पन्न नहीं होती है।

जो समाधि तें छाड़ै प्राण, तौ सद्गति पावै हि सुजांण।
नाहिं समाधि समान जु और, है समाधि व्रत्तनि सिरमौर।।1644।।

अर्थ :– जो सज्जन पुरुष समाधिमरण पूर्वक प्राण त्याग करते हैं, वे नियमत: सद्गति को प्राप्त करते हैं। समाधि के समान जीव का उपकारी और कोई भी नहीं है। समाधि सर्व व्रतों की सिरमौर है।

छन्द चाल

अब सुनि सल्लेखण भाई, जाकरि सहु व्रत सुधराई।
उत्तम जन या कौं भावें, या करि भव भ्रांति नसावें।।1645।।

अर्थ :– अब हे भाई! सल्लेखना की विधि सुनो। सल्लेखना से सर्व व्रत प्रशस्त हो जाते हैं। उत्तम पुरुष ही इसे धारण कर सकते हैं। उत्तम समाधिमरण से भव-भ्रमण का नाश हो जाता है।

जे द्वादश व्रत संजुक्ता, सल्लेखण कारई युक्ता।
होवें जु महा उपशांता, पावें सुर सौख्य सुकांता।।1646।।

अर्थ :– जो बारह व्रत धारण कर समाधि से मरण करते हैं, वे परम उपशान्तता को प्राप्त हो जाते हैं और उन्हें सुन्दर देवांगनाओं से युक्त देवपुरी के सुख प्राप्त होते हैं।

अनुक्रम पहुँचै थिर थानै, पर की सहु परणति भानै।
यह एक हु निर्मलव्रत्ता, समदृष्टी जो दृढ़ चित्ता।।1647।।

अर्थ :– पश्चात् पर-परिणति को छोड़कर अनुक्रम से स्थिर स्थान (मोक्ष पद) प्राप्त कर लेते हैं। यह निर्मल व्रत एक ही है, सम्यग्दृष्टि जीव इसे दृढ़ चित्त से धारण करते हैं।

करई सौ सुरपति होवै, पुनि नरपति ह्वै शिव जोवै।
इह भुक्ति मुक्ति दायक है, सब व्रत्तनि को नायक है।।1648।।

अर्थ :– समाधिमरण धारण करने वाले श्रावक स्वर्ग जाते हैं, वहाँ से आकर यहाँ उत्तम मनुष्य होते हैं। फिर (तप कर) मोक्ष पद प्राप्त कर लेते हैं, अत: यह समाधिमरण भुक्ति-मुक्ति दायक और सर्व व्रतों का नायक है।

सोरठा

मेरौ जो निज धर्म, ज्ञान सुदर्शन आचरण।
सो नाशक वसु कर्म, भासक अमित सुभाव को।।1649।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मेरा निज धर्म है, आठों कर्मों का नाशक है तथा अनुपम निज-स्वभाव का आभास कराने वाला है।

मैं भूल्यौ निज धर्म, भयौ अधर्मा जग विषैं।
तातें बाँधे कर्म, किये कुमरण अनंत मैं।।1650।।

अर्थ :– इस जगत में मैं निजधर्म को भूल कर अधर्मी हो गया हूँ, इसलिए कर्मों को बाँध रहा हूँ। मैंने अनन्त कुमरण किये हैं।

मरि-मरि चहुंगति माहिं, जनम्यौ मैं शठ भ्रांति घर।
सो पद पायौ नाहिं, जहाँ जन्म मरण न हुवै।।1651।।

अर्थ :- मैं शठ भ्रान्ति से संसार रूपी घर की चारों गतियों में बार-बार जन्म और मरण कर रहा हूँ। जहाँ जन्म-मरण नहीं है, ऐसा स्व-पद मैंने आज तक प्राप्त नहीं किया है।

बिना समाधि जु मर्ण, मर्ण मिटै नहिं हम तनों।
यह एकैव जु सर्ण, है सल्लेखण अति गुणौ।।1652।।

अर्थ :- जब तक बिना समाधि के मरण होता रहेगा, तब तक हमारा जन्म मरण नहीं मिट सकता है; अत: इसको मिटाने के लिए अत्यधिक गुणों से भरी हुई यह एक सल्लेखना ही हमारी शरण है।

निज परणति सों मोहि, एकत्व करिवे सक इहै।
देख्यौ श्रुति में टोहि, ठौर ठौर या को जसा।।1653।।

अर्थ :- हमारी निज परिणति से एकत्व स्थापित कराने में यह सल्लेखना ही समर्थ है। हमने इस सल्लेखना का यश आगम में जगह-जगह देखा (पढ़ा) है।

धरै निरंतर याहि, अंतिम सल्लेखण वरत।
उपजै उत्तम ताहि, मरणकाल निस्संकता।।1654।।

अर्थ :- हमारी यही भावना है कि हम निरन्तर इस अन्तिम सल्लेखना व्रत को धारण करके ही मरण करें और नि:शंकित भाव से समाधिमरण कर उत्तम गति को प्राप्त करें।

करि हों पंडित मर्ण, किये बाल मर्णा अमित।
ले जिनवर को सर्ण तजि हों काया कालिमा।।1655।।

अर्थ :- मैंने अपरिमित बाल-मरण किये हैं। अब मैं पंडित मरण करूँगा और भगवान जिनेन्द्र का शरण लेकर शरीररूपी कालिमा (शरीर-संबंधी राग) का त्याग करूँगा।

जिन आज्ञा अनुसार, अवश्य करूँगो अन्नसन।
सल्लेखण व्रत धार, इहै भावना नित धरै।।1656।।

अर्थ :- अब मैं भगवान जिनेन्द्र की आज्ञानुसार अन्न-जल का त्याग अवश्य करूँगा और सल्लेखना व्रत धारण करने की निरन्तर भावना भाता रहूँगा।

चौपाई

मरण काल धरियेगा भाई, परि याकों नित प्रति चितराई।
व्रत्त अनागत या विधि पालै, या व्रत करि सहु दूषण टालै।।1657।।

अर्थ :– हे भाई! मरण समय चित्त में निज और पर का विवेक नित-प्रति रखें और अनागत व्रतों का पालन इस उत्तम विधि से करें कि वे व्रत सर्व दोषों का नाश कर दें।

मरणो नाहीं आतम तामें, तातैं निरभै होय रह्या मैं।
पर संबंधी अपनी काया, ताका नाशा अवश्य बताया।।1658।।

अर्थ :– आत्मा का कभी मरण नहीं होता; इसलिए मैं अत्यन्त निर्भय हूँ। हाँ, पर सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली अपनी काया का मरण अवश्यमेव होगा, ऐसा आगम में बताया गया है।

इनका ज्ञान हुए यह जीव, पावे निश्चय सुगति सदीव।
मैं अनादि सिद्धों अविनाशी, सिद्ध समानो अति सुखरासी।।1659।।

अर्थ :– आत्मा और काया का ज्ञान हो जाने से यह जीव निश्चयत: सदैव सुगति प्राप्त करता है। मैं अनादिकाल से सिद्ध-स्वरूपी हूँ, अविनाशी हूँ और सिद्ध-समान सुख का भण्डारी हूँ।

सो अनादि कालहु तैं भूल्यौ, परपरिणति के रस में फूल्यौ।
पर परिणति करि भयौ सदोषी, कर्म-कलंक उपार्जक रोषी।।1660।।

अर्थ :– किन्तु मैं अनादि काल से अपनी निज-परिणति को भूल कर, पर-परिणति के रस में फूल रहा हूँ। पर-परिणति (विभाव परिणति) के कारण मैं सदोषी हूँ और क्रोधी आदि होने से मैं कर्म-कलंक का उपार्जन कर रहा हूँ।

जातैं देह अनन्ती धारी, किये कुमर्ण अनन्ता भारी।
मैं नहिं कबहूं उपज्यो मूवौ, मैं चेतन मायातैं दूवौ।।1661।।

अर्थ :– इन्हीं कारणों से मैंने अनन्तों बार इस देह को धारण किया है और अनन्तों बार कुमरण किया है। निश्चय से मैं न कभी उत्पन्न हुआ हूँ और न कभी मरा हूँ। मैं तो अपनी चैतन्य रूप माया में लवलीन हो रहा हूँ।

मोतैं भिन्न सकल परभावा, मैं चिद्रूप अनन्त प्रभावा।
भयो कषाय-कलंकित चित्ता, मैं पापी अति ही अपवित्ता।।1662।।

अर्थ :– मैं तो अनन्त प्रभाव वाला चिद्रूप हूँ, सकल पर-भाव मुझसे सर्वथा भिन्न हैं; फिर

भी मेरा चित्त कषाय-कलंक से कलंकित हो रहा है, अत: मैं पापी अपने ही अपराध से अत्यन्त अपवित्र हो रहा हूँ।

बहु तन धरि डारै भाई, तन तजिवौ इह मरण कहाई।
तातैं कुमरण मूल कषाया, क्षीण करै ध्याऊँ जिनराया।।1663।।

अर्थ :- हे भाई! शरीर छोड़ देना ही मरण कहलाता है। मैंने तो अनन्तों बार इस शरीर को धारण कर-करके छोड़ा है। इन कुमरणों का मूल कारण कषाय है, इसलिए मैं कषायों को क्षीण करके जिनेन्द्र देव का ध्यान करता हूँ।

रागादिक तजि करौ सुमरणा, बहुरि न मेरे होइ कुमरणा।
इहै धारना धरि व्रत धारी, दुर्बल करै कषाय जु सारी।।1664।।

अर्थ :- रागादि भावों का त्याग कर जिनेन्द्र देव का स्मरण मैं इस प्रकार करता हूँ कि जिससे अब मेरा कुमरण न हो। इस प्रकार की धारणा बनाता हुआ व्रत धारण कर सर्व कषायों को क्षीण करें।

कै गुरु के उपदेश थकी जो, कै असाध्य लखि रोग अती जो।
मरण काल जानै जब नीरे, तब कायरता धरइ न तीरे।।1665।।

अर्थ :- गुरु के उपदेश से अथवा अपने स्वयं के शरीर में कोई असाध्य रोग देख कर अथवा मरण-काल समीप जानकर, सर्व कायरता को छोड़ कर सल्लेखना धारण करें।

चउ अहार तजि चारि कषाया, तजि करि त्यागै त्यागी काया।
तन-सम्बन्ध उदय मति आवौ, तन में हमरौ नाहिं सुभावौ।।1666।।

अर्थ :- चारों प्रकार के आहार का त्याग कर, चारों कषायों का त्याग कर और शरीर से ममत्व त्याग कर, शरीर नाम कर्म के उदय में भी अपनी बुद्धि न लगावें। शरीर हमारा स्वभाव नहीं है। ऐसा दृढ़ निश्चय रखें।

सोरठा

कर्म संजोगे देह, उपज्यौ सो न रहायगो।
तातैं यासौं नेह, करनौ सो अति कुमति है।।1667।।

अर्थ :- यह शरीर कर्म संयोग से उत्पन्न हुआ है, अत: इसका विनाश अवश्य होगा। ऐसे विनाशीक शरीर से प्रीति करना अत्यधिक कुबुद्धि है।

चौपाई

इहै भावना धारि विरागी, तजै कारिमा काय सभागी।
सो श्रावक पावै शुभ लोका, षोडश स्वर्ग लगै सुख थोका।।1668।।

अर्थ :– इस प्रकार की भावना को दृढ़ करता हुआ वैराग्यवान श्रावक शरीर से ममत्व छोड़कर समाधिमरण से शरीर छोड़कर उत्तम गति में जाता है। ऐसा श्रावक सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त जाकर चिरकाल तक वहाँ के सुख भोगता है।

नर ह्वै फिर मुनि के व्रत धारै, सिद्ध लोक कों शीघ्र निहारै।
सल्लेखण सम व्रत नहिं दूजा, इह सल्लेखण त्रिभुवन पूजा।।1669।।

अर्थ :– पश्चात् उत्तम मनुष्य होता है और निरतिचार मुनिव्रत पालन कर शीघ्र ही सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है; अत: सल्लेखना के सदृश अन्य कोई दूसरा व्रत नहीं है। यह सल्लेखना त्रिभुवन पूज्य है।

तजि कषाय त्यागे बुध काया, सो संन्यास महा फलदाया।
सल्लेखण संन्यास समाधी, अनसन एक अर्थ निरुपाधी।।1670।।

अर्थ :– जो बुद्धिमान कषाय के त्यागपूर्वक काय का त्याग करते हैं, वे समाधिमरण के महाफल को प्राप्त कर लेते हैं। सल्लेखना, संन्यास, समाधि और अनशन आदि ये सब एक ही अर्थ को धारण करने वाले पर्यायवाची शब्द हैं।

पंडित मरणा वीरिय मरणा, ये सब नाम कहें जु सुमरणा।
सुमरण ते कुमरण सब नासे, अविनासी पद शीघ्र प्रकार से।।1671।।

अर्थ :– पंडित-मरण और वीर-मरण आदि ये नाम उत्तम मरण के द्योतक हैं। ये उत्तम मरण सर्व कुमरणों का नाश कर, शीघ्र ही अविनाशी मोक्षपद प्रदान करते हैं।

यह संन्यास न आतम-घाता, कर्म-विघाता है सुख-दाता।
अर जो शठ करि तीव्र कषाया, जल में डूबि मरै भरमाया।।1672।।

अर्थ :– संन्यास-मरण आत्महत्या नहीं है। यह तो कर्मों का नाश करने वाला और महा सौख्य-प्रदाता है। तीव्र कसाई जो मूर्ख जल में डूब कर मरते हैं, वे जगत में भ्रमण करते हैं।

जीवत गड़े भूमि में कुमती, सो पावै दुरगति अति विमती।
अगनिदाह ले अथवा विष करि, तजै मूढ़धी काया दुख करि।।1673।।

अर्थ :– कोई मूर्ख जीवित ही जमीन में गड़ कर मरते हैं और वे अति अज्ञानी मनुष्य मर कर दुर्गतियों में जाते हैं। कोई मूर्ख अग्नि में जल कर, कोई विष–भक्षण कर बड़े कष्ट से शरीर को छोड़ते हैं।

शस्त्र प्रहारि जो त्यागै प्राणा, अथवा झंपापात बखाणा।
ए सब आतम–घात बताये, इनकरि बड़ भव–भव भरमाये।।1674।।

अर्थ :– कोई मनुष्य शस्त्र–घात से मरते हैं और कोई ऊपर से गिर कर मरते हैं। ये सब आत्मघात कहलाते हैं। ऐसे मरण कर यह जीव चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं।

हिंसा के कारण ये पापा, हैं जु कषाय प्रदायक तापा।
तिनको क्षीण परिवो भाई, सौ संन्यास कहें जिनराई।।1675।।

अर्थ :– ये सब मरण हिंसा के कारण होने से पाप–स्वरूप हैं और कषाय–प्रदाता होने से अत्यन्त ताप बढ़ाने वाले हैं। इनको क्षीण करके जो मरण करते हैं। हे भाई! जिनेन्द्रदेव ने उसे ही संन्यास–मरण कहा है।

जीव–दया को हेतु समाधी, बिना समाधि मिटै न उपाधी।
दया उपाधि मिटै बिन नाहीं, तातैं दया समाधि ही माहीं।।1676।।

अर्थ :– समाधिमरण जीव–दया का कारण है। इस समाधिमरण के बिना जगत की उपाधियाँ नहीं मिटती हैं। समाधिमरण से मात्र एक दया की उपाधि नष्ट नहीं होती; इसलिए दया को ही समाधि कहा है।

व्रत शीलनि कौ सर्वस एही, इह संन्यास महा सुख देही।
मुनि को अनशन शिवसुख देई, अथवा सुर अहमिन्द्र करेई।।1677।।

अर्थ :– यह समाधि सर्व व्रत और शील की सर्वस्व है तथा महासुख देने वाली है। यह समाधि मुनिराजों को मोक्ष–पद देती है अथवा किन्हीं–किन्हीं मुनिराजों को देव या अहमिन्द्र पद भी देती है।

श्रावक कों सुर उत्तम कारै, नर करि मुनि करि भवदधि तारै।
उभय धर्म को मूल समाधि, मेटे सकल आधि अरु व्याधि।।1678।।

अर्थ :– यह समाधि श्रावक को भी उत्तम देव पद देती है, जो मनुष्य पर्याय में आकर मुनि हो संसार–समुद्र से पार हो जाता है, अत: आधि और व्याधि को नाश करने वाली मुनिधर्म और श्रावकधर्म की मूल जड़ समाधि ही है।

कायर मरणे बहुतहिं मूवा, अब धरि वीर मरण जगदूवा।
बहुत भेद हैं अनशन के जी, सबमें आराधन चउ ले जी।।1679।।

अर्थ :– हे जीव! तू कायर मरणों से अनेक बार मरा है। अब हे धीर! वीर-मरण से मरकर जगत से पार हो जा। इस समाधिमरण के बहुत भेद हैं और सब भेदों में चार आराधनाएँ मुख्य हैं।

दरसन ज्ञान चरन तप शुद्धा, ए चारों ध्यावैं प्रतिबुद्धा।
निश्चय अर व्यवहार नयनि करि, चउ आराधन सेवैं चितकरि।।1680।।

अर्थ :– जो प्रतिबुद्ध हैं; वे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप – इन शुद्ध चारों आराधनाओं का सेवन करते हैं। वे व्यवहार और निश्चय – इन दोनों नयों से मनोयोग पूर्वक इन चारों आराधनाओं का सेवन करते हैं।

ताकौ सुनहु विचारि पवित्रा, जो करि छूटै भव भ्रम मित्रा।
देव जिनेसर गुरु निरग्रन्था, सूत्र दयामय जैन सुपन्था।।1681।।

अर्थ :– हे मित्र! इन पवित्र आराधनाओं को सुन कर, चिन्तन करें और इन्हें धारण करें, जिससे आपका भव-भ्रमण छूट जावे। जिनेन्द्र देव, दयामयी जिनागम और निर्ग्रन्थ गुरु – यही जैन पन्थ है।

नव तत्त्वनि की श्रद्धा करिवौ, सो व्यवहार सुदर्शन धरिवो।
निश्चय अपनो आतमरामा, जिनवर सो अविनश्वर धामा।।1682।।

अर्थ :– नव तत्त्वों का श्रद्धान करना, व्यवहार सम्यग्दर्शन है और अपनी आत्मा का दृढ़ श्रद्धान करना निश्चय सम्यग्दर्शन है। यही जिनेश्वर का अविनश्वर धाम है।

गुण-पर्याय स्वभाव अनन्ता, द्रव्य थकी न्यारे नहिं संता।
गुण-गुणि कौ एकत्व सुलखिवौ, आतमरुचि श्रद्धा को धरिवौ।।1683।।
करि प्रतीति जे तत्त्व तनी जो, हनै कर्म की प्रकृति घनी जो।
सो सम्यकदर्शन तुम जानों, केवल आतम भाव प्रवानों।।1684।।

अर्थ :– हे सन्त जन! अनन्त स्वभाव वाली गुण और पर्यायें द्रव्य से भिन्न नहीं हैं; अत: गुण और गुणी का एकत्व देखकर आतम रुचि रूप श्रद्धा धारण करो। इस प्रकार आत्मरुचि करने वाले और तत्त्वों में श्रद्धा रखने वाले ही मिथ्यात्व जैसी सघन कर्म-प्रकृतियों का नाश करते हैं। तत्त्वों में श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। इसमें आत्मभाव ही प्रधान जानें।

अब सुनि ज्ञान अराधन भाई, सम्यकज्ञानमयी सुखदाई।
नव पदार्थ कों जातैं भेदा, जिनवानी परमान सुवेदा।।1685।।

अर्थ :– हे भाई! जो सम्यग्ज्ञानमयी है और सुख देने वाली है, उस सम्यग्ज्ञान आराधना को अब सुनो। नव पदार्थ ही जिनके भेद बताये हैं और जिनका प्रमाण जिनवाणी में कहा गया है।

पंच परम पद कों प्रभु जानै, भयो जु दासा बोध प्रवानै।
इह व्यवहार तनों हि स्वरूपा, निश्चय जानै हूँ जु अरूपा।।1686।।

अर्थ :– जो पंच परमेष्ठी को ही भगवान (पूज्य) मानता है और जो इनका सेवक है, वही ज्ञान प्राप्त करके प्रवीण होता है। यह व्यवहार सम्यग्ज्ञान का स्वरूप है। अपने अरूपी आत्मस्वरूप को जानना ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध प्रवृद्धा, अतुल शक्तिरूपी अनुरुद्धा।।1687।।

अर्थ :– जो शुद्ध है, बुद्ध है, अविरुद्ध है, प्रबुद्ध है, अतुल शक्ति रूप है और अनिरुद्ध है।

1. दोनों मूल प्रतियों में इस चौपाई की एक ही पंक्ति उपलब्ध है।

चेतन अनन्त गुणातम ज्ञानी, सिद्ध सरीखौ लोक प्रमानी।
अपनो भाव भायवौ भाई, सो निश्चय ज्ञान जु शिवदाई।।1688।।

अर्थ :– चेतन द्रव्य अनन्त गुणों का भण्डार है, ज्ञानी है और सिद्ध समान (ज्ञानापेक्षा) लोक प्रमाण है। ऐसे अपने आत्म-स्वरूप का ध्यान करना ही मोक्ष सुख देने वाला निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

पुनि सुनि सम्यकचारित रतना, त्रस-थावर को अति ही जतना।
आचरिवौ भक्ति जिन मुनि की, आदरिवौ विधि जोहि सु पुन की।।1689।।

अर्थ :– अब सम्यक्चारित्र आराधना को सुनो। त्रस और स्थावर जीवों की यत्न पूर्वक रक्षा करना, पंच परमेष्ठी की भक्ति रूप आचरण करना और आचार्य, उपाध्याय एवं मुनिराजों का आदर करना एवं वैयावृत्ति आदि करना सम्यक्चारित्र आराधना है।

पंच महाव्रत पंच सु समिति, तीन गुपति धारै हि जु सुजति।
अथवा द्वादश व्रत्त सुधरिवौ, श्रावक संयम को अनुसरिवौ।।1690।।

अर्थ :– मुनिराज पाँच महाव्रत, पाँच समिति एवं तीन गुप्तियों का पालन करें और श्रावक बारह व्रत धारण करें। इस प्रकार मुनि और श्रावक दोनों (योग्यतानुसार) संयम रूप आचरण करें।

ए सब हैं व्यवहार चरित्रा, निश्चय आतम अनुभव मित्रा।
जो सु स्वरूपाचरण चरित्रा, थिरता निज में सो सु पवित्रा।।1691।।

अर्थ :– हे मित्र! यह सब व्यवहार चारित्र है। निश्चय से मात्र आत्मस्वरूप में लीन होकर उसी का अनुभव करना निश्चय चारित्र है; जो पवित्र है, अपने आत्मस्वरूप के आचरण में लीन होने रूप है और निज आत्मा में ही स्थिर होने रूप है।

ए रतनत्रय भाषे भाई, चौथो सम्यक तप सुखदाई।
व्यवहारें द्वादश तप संता, अनसन आदि ध्यान परजन्ता।।1692।।

अर्थ :– हे भाई! इस प्रकार रत्नत्रय का स्वरूप कहा है। अब सुख देने वाला चौथा सम्यक् तप सुनो। अनशन तप से ध्यान पर्यन्त जो बारह तप सज्जन पुरुषों ने कहे हैं, वे सब व्यवहार तप हैं।

निश्चय इच्छा को जु निरोधा, पर परिणति तजि आतम शोधा।
अपनो आतम तेजकरी जो, सो तप भाषहि कर्म हरी जो।।1693।।

अर्थ :– इच्छाओं का निरोध करना, पर-परिणति को छोड़ना और अपने ही आत्म-तेज से आत्मा का शोधन करना, कर्म हरण करने वाला निश्चय तप कहा गया है।

ए चउ आराधन आराधै, सो संन्यास धरै शिव साधै।
अरहन्ता सिद्धा साधू जे, केवलि कथित सुधर्म दया जे।।1694।।

ए चउ शरणा लेइ सु ज्ञानी, ध्यावै परम ब्रह्मपद ध्यानी।
णमोकार मन्तर जपतो जो, ओंकार प्रणवे रटतौ जो।।1695।।

सोहं अजपा अनादह सुनतौ, श्री जिन बिम्ब चित्तमो मुनतौ।
धर्मध्यान धरन्तौ धोरी, लगो जिनेसुर पद सो डोरी।।1696।।

ध्यावन्तौ जिनवर गुन धीरा, निजरस रातौ विरकत वीरा।
दुर्बल देह अनेह जगत सों, करि कषाय दुर्बल निज धृति सों।।1697।।

क्षमा करै सब प्राणीगण सों, त्यागै प्राण लाय लव जिन सों।
सो पण्डितमरणा जु कहावै, ताकौ जस श्रुतिकेवलि गावै।।1698।।

अर्थ :– संन्यास धारण करके जो इन चारों आराधनाओं की आराधना करते हैं, वे मोक्ष-सुख प्राप्त करते हैं। अरहन्त, सिद्ध, साधु और केवली भगवान द्वारा कहा हुआ दयामयी धर्म, जो इन चारों का शरण लेता है, वही ज्ञानी है और परमब्रह्म-पद (आत्मा) का ध्यान करने वाला ही ध्यानी है। जो निरन्तर णमोकार मन्त्र का जाप्य करता है, प्रणव रूप ओंकार की ध्वनि लगाता है,

जो सोऽहं-सोऽहं का ध्यान करता है, अनहद नाद सुनता है, भगवान जिनेन्द्र देव के बिम्ब को अपने हृदय में धारण कर ध्यान करता है, धर्मध्यान में लवलीन रहता है, जिस धीर पुरुष के मन की डोर जिनेन्द्र देव के चरणों में लगी रहती है, जिसका मन जिनेन्द्र के गुणों में लवलीन रहता है, अपने निज रस में ही जिसकी रति है, अन्य रस से जो विरक्त है, आहार आदि का त्याग कर देने से जिसका देह दुर्बल है, जिसका जगत के प्रति स्नेह नहीं है, जिसने अपने निज धैर्य से कषायों को क्षीण कर दिया है और जो सर्व प्राणीसमूह पर क्षमाभाव धारण करता हुआ तथा जिनेन्द्र देव के पावन चरणों में प्रीतिवान होते हुए प्राण-त्याग करता है, उसका यह मरण पंडित मरण कहलाता है, उसका यश श्रुतकेवली भी गाते हैं।

सल्लेखण के बहुते भेदा, भाषे जिनमत पाप उछेदा।
है प्रायोपगमन सब माहें, उत्तम सों उत्तम सक नाहें।।1699।।

अर्थ :- जिनेन्द्र देव ने पापों को नाश करने वाली इस समाधि के भेद कहते हैं। उन सब भेदों में प्रायोपगमन मरण उत्तमोत्तम रूप है।

ताकौ अर्थ सुनौ मनलाये, जाकरि अपनों तत्त्व लखाये।
प्राय: कहिये मित्र सर्वथा, उप कहिये स्वसमीप निर्व्यथा।।1700।।

अर्थ :- इस प्रायोपगमन मरण का अर्थ मन लगा कर सुनो, जिससे अपने निज आत्मतत्त्व पर विश्वास दृढ़ हो। हे मित्र! यहाँ प्राय: का अर्थ सर्वथा (निरन्तर) है और उप का अर्थ समीप है। अर्थात् जिसमें अंश मात्र भी व्यथा अर्थात् विकार नहीं है, निरन्तर ऐसी अपनी निज आत्मा के समीप रहना 'प्रायोप' का अर्थ है।

गमन जु कहिये जाग्रत होवौ, रात दिवस कबहूं नहिं सोवौ।
सो प्रायोपगमन संन्यासा, सर्व गुणाकरि धर्म अध्यासा।।1701।।

अर्थ :- गमन का अर्थ है - जाग्रत रहना। रात्रि-दिवस कभी नहीं सोना अर्थात् अपने आत्मस्वभाव में निरन्तर लवलीन रहना ही सर्व गुणकारी और आत्मधर्म का अभ्यास कराने वाला प्रायोपगमन संन्यास है।

जिनकों बारम्बार चितारै, क्षण-क्षण चेतन तत्त्व निहारै।
जग सन्तति तजि होइ इकाकी, कीरति गावें श्रीगुरु ताकी।।1702।।

अर्थ :- जो बार-बार जिनेन्द्र भगवान के गुणों का चिन्तन करता है, प्रति क्षण अपने चैतन्य तत्त्व का स्पर्श करता है और संसार की सन्तति का त्याग कर एकान्त स्थान में रहता है, आचार्य

गुरुदेव भी उसका गुणगान करते हैं।

तजै आहार विहार समस्ता, भजै विचार समस्त प्रशस्ता।
इह भव पर भव की अभिलाषा, जिन करि होइ निरोह अभासा।।1703।।

अर्थ :– जो सर्व प्रकार के आहार एवं विहार का त्याग करता है, अपने मन को सर्व ओर से धर्मध्यान में एकाग्र करता है, निरीह वृत्ति धारण करता हुआ इस भव और पर–भव सम्बन्धी सर्व अभिलाषा का त्याग कर देता है और मौन से रहता है।

या जड़ तन की सेवा आपु न, करै ना करावे विधि सों थापु न।
अति वैराग्य परायण सोई, तजै अनातम भाव सवोई।।1704।।

अर्थ :– इस जड़ स्वभावी शरीर की सेवा न स्वयं करता है, न दूसरों से कराता है और न उसे विधिवत् स्थापित करता है। अत्यन्त वैराग्य–परायण होता हुआ, सर्व अनात्म–भावों का त्याग कर देता है।

गहन बनें भू सज्जा धारी, निसप्रह जगत जोगथो भारी।
चित्त दयाल सहनशीलो जो, सहै परीसह नहिं ढीलो जो।।1705।।

अर्थ :– जगत की सर्व इच्छाओं से रहित (निष्प्रह) होता हुआ जो विशेष योग को धारण कर गहन वन में पृथ्वी रूपी शय्या को ग्रहण कर लेता है। जिसका चित्त दयालु है, जो सहन–शील है और सर्व परिषह सहन करने में दृढ़ है।

जो उपसर्ग थको नहिं कंपै, जाकों कायरता नहिं चंपै।
भागौ लोक प्रपंच–थकी जो, परपरिणति जातैं दिसिकी जो।।1706।।

अर्थ :– भयावह उपसर्ग आ जाने पर भी जिसका मन कम्पायमान नहीं होता है, कायरता जिसे स्पर्श नहीं करती, जगत के प्रपंच जिससे दूर भाग चुके हैं और जिसकी सारी परिणतियाँ दूर हट चुकी हैं (उसका यह मरण ही वीर मरण है)।

या संन्यास थकी जो प्राणा, त्यागै सो नहिं मुवौ सुजाणा।
सुर–शिवदायक है यह व्रत्ता, यामैं बुधजन करै प्रवृत्ता।।1707।।

अर्थ :– हे सुजान! जो इस प्रायोपगमन संन्यास पूर्वक प्राण–त्याग करता है, वह मरा नहीं है अर्थात् अमर हो गया है। यह संन्यास व्रत स्वर्ग और मोक्ष के सुख देने वाला है; अत: बुद्धिमान जनों को यह संन्यास मरण अवश्य ही धारण करना चाहिए।

पंच अतीचारा जो त्यागै, तब संन्यास-पंथ कों लागै।
सो तजि पांचों ही अतिचारा, ये तो सल्लेखण व्रत धारा।।1708।।

अर्थ :- जब संन्यास व्रत के पाँचों अतीचारों का त्याग करता है, तभी संन्यास मार्ग पर लगता है; अत: पाँचों अतीचारों का त्याग कर यह सल्लेखना व्रत धारण करना चाहिए।

जीवित-अभिलाषा अघ पहिला, ताकों धारइ सो गिनि गहिला।
देखि प्रतिष्ठा जीयौ चाहै, सो सल्लेखण नहिं अवगाहै।।1709।।

अर्थ :- 'जीवित-अभिलाषा' यह संन्यास मरण का पहला अतीचार है। अधिक समय तक जीवित रहने की अभिलाषा जो करता है, वह मूर्ख है। अपनी प्रतिष्ठा देख कर जो बहुत समय तक जीना चाहता है, वह सल्लेखना रूपी व्रत में अवगाहन नहीं कर सकता।

दूजौ मरण-तनी अभिलाषा, जो धारै निज रस नहिं चाखा।
रोग कष्ट करि पीड्यो अति गति, मरिवौ चाहै सो है शठमति।।1710।।

अर्थ :- 'शीघ्र मरण की अभिलाषा' यह दूसरा अतीचार है। जो अपने आत्मरस का आस्वादन नहीं कर पाता, वही इस प्रकार की भावना करता है। रोग एवं भूख-प्यास आदि की पीड़ा से जो शीघ्र मरण चाहता है, वह अति मूढ़मति है।

तीजौ सुहृदनुराग सुगनिये, मित्र थकी अनुराग सु धरिये।
मरिवौ आनि बन्यूं परि मित्रा, मिल्यौ न हमसो जाहु पवित्रा।।1711।।

अर्थ :- 'मित्रानुराग' यह तीसरा अतीचार है। मित्रों आदि से अनुराग नहीं रखना चाहिए। मेरा मरण समीप आ चुका है; अत: हमारा मिलन हमारे पवित्र हृदय वाले मित्र से नहीं हो सकेगा। (ऐसे भाव नहीं करना)।

दुरि जु सज्जन तामैं भावा, मिलिवे को अति करहि उपावा।
अथवा मित्र कनारे जो है, ताके मोह-थको मन मोहै।।1712।।

यों अज्ञान थको भव भरमैं, पावै नहिं सल्लेखण धरमैं।
पुनि सुखानुबंधो है चौथो, सुख संसार तनों सहु थोथौ।।1713।।

अर्थ :- कोई सज्जन मित्र दूर देश में हो, उसके प्रति भाव जाना अथवा उससे मिलने के उपाय सोचना। अथवा कोई मित्र समीप ही बैठा हो, मोह के कारण उसमें मन का मोहित होना। ये सब अज्ञानजन्य भाव हैं, ऐसे भावों से (भूख-प्यास की वेदना सहन करते हुए भी) सल्लेखना धर्म प्राप्त नहीं होता, अपितु संसार-भ्रमण ही होता है। 'सुखानुबंध' यह चौथा अतीचार है। इस संसार

के सर्व सुख झूठे हैं।

या तन में भुगते सुख भोगा, सो सब यादि करैं शठ लोगा।
यों नहिं जानें भव सुख दुख ए, तीन काल मैं नाहीं सुख ए।।1714।।

अर्थ :– इस शरीर से जितने सुखों का भोग किया है, संन्यास काल में भी मूर्ख लोग उन्हें स्मरण करते हैं। (शरीर से भोगे जाने वाले सुख) तीन काल में भी सुख रूप नहीं हैं, फिर भी अज्ञानी जन यह नहीं जानते कि ये संसार के सुख यथार्थत: दुख ही हैं।

इनकों सुख जानें जो भाई, भोंदू इनसों चित्त लगाई।
सो दुख लहै अनंता जग के, पावै नहिं गुण जे जिन–मगके।।1715।।

अर्थ :– हे भोंदू भाई! जो इन सांसारिक सुखों को सुख जान कर अपना चित्त उनमें लगाते हैं, वे इस जगत में अनन्त काल तक दुख ही भोगते हैं, उन्हें जिनमार्ग के गुण प्राप्त नहीं हो सकते।

पंचम दोष निदान प्रबंधा, जो धारइ सो जानहु अंधा।
परभव में चाहें सुख भोगा, यों नहिं जाने ए सहु रोगा।।1716।।

अर्थ :– 'निदान प्रबन्ध' सल्लेखना व्रत का यह पाँचवाँ अतीचार है। जो इस अतीचार को धारण करते हैं, वे अन्धे हैं। वे हृदय के अन्धे पर–भव में सुख और भोग चाहते हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि ये सब भोग–रोग ही हैं।

इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्रा, हुवौ चाहे पुनि अहमिन्द्रा।
व्रत कों बेचै विषयनि साटे, सो जड कर्मबंध नहिं काटे।।1717।।

अर्थ :– (सल्लेखना व्रत के प्रभाव से वह) इन्द्र, (देवेन्द्र), चंद्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती और अहमिन्द्र होना चाहता है। सल्लेखना व्रत के द्वारा जड़ कर्म–बन्ध को तो नहीं काटता, अपितु पंचेन्द्रिय विषयों के लिए व्रतों को बेचता है?

ए पाँचौं तजि धरहि समाधी, सो पावै सद्गति निरुपाधी।
या व्रत सम नहिं दूजौ कोई, सब मैं सार जु इह व्रत होई।।1718।।

अर्थ :– ये पाँचों अतीचार त्याग कर जो समाधि धारण करते हैं, वे निरुपाधि स्वरूप उत्तम गति प्राप्त करते हैं। इस व्रत के समान दूसरा कोई व्रत नहीं है। सब व्रतों में सारभूत यही व्रत है।

याकौ जस सुर नर मुनि गावें, धीर चित्त यासों लव लावैं।
नमों नमों या सुमरणकों है, जो काटै जलदी कुमरणकों है।।1719।।

अर्थ :– ऐसे उत्तम सल्लेखना मरण का यश देव, मनुष्य और मुनिगण भी गाते हैं। जिनके चित्त दृढ़ हैं, वे ही भव्य जीव सल्लेखना मरण से प्रीति लगा सकते हैं। जो अति शीघ्र कुमरणों के जाल को नष्ट कर देते हैं, ऐसे सुमरणों को बार-बार नमस्कार हो, नमस्कार हो।

दोहा

उदय होउ सल्लेखणा, जोहि निवारै भ्रांती।
आवै बोध जु घटि विषैं, पइये परम प्रशांती।।1720।।

अर्थ :– सल्लेखना धारण करने से अनादिकालीन तत्त्व सम्बन्धी भ्रान्ति का विनाश हो जाता है, हृदय में सम्यग्ज्ञान प्रकट हो जाता है और परम शांति प्राप्त हो जाती है।

कहे बरत द्वादश सबै, अर सल्लेखण सार।
अब सुनि तप द्वादश तनों, भेद निर्जराकार।।1721।।

अर्थ :– मैंने बारह व्रतों का वर्णन किया है और व्रतों के सारभूत सल्लेखना का भी वर्णन किया है। अब जिसके बारह भेद हैं और जो निर्जरा के कारण हैं, ऐसे तप का वर्णन करता हूँ, सो सुनो।

प्रथमहिं बारह तप विषै, है अनशन अविकार।
जाहि कहैं उपवास गुरु, ताकौ सुनहु विचार।।1722।।

अर्थ :– बारह तपों में पहला अनशन तप है। यह निर्विकार है। गुरुजन इसे उपवास भी कहते हैं। अब इसका विवेचन सुनो।

इन्द्रिनिकी उपासांतता, सो कहिये उपवास।
भोजन करते हू मुनि, उपवासे जिनदास।।1723।।

अर्थ :– जिससे इन्द्रियाँ उपशान्त हो जाती हैं, उसे उपवास कहते हैं। जो जिनेन्द्र भगवान के दास हैं, ऐसे मुनिजनों के भोजन करते हुए भी उपवास होता है।

जो इन्द्रिनि के दास हैं, अज्ञानी अविवेक।
करै उपासा तउ शठा, नहिं व्रत धार अनेक।।1724।।

अर्थ :– जो अज्ञानी एवं अविवेकी इन्द्रियों के दास हैं, वे उपवास करते हैं, किन्तु उनका उपवास कार्यकारी नहीं होता; क्योंकि वे मूर्ख व्रत आदि धारण नहीं करते हैं।

मुनि श्रावक दोऊनि कों, अनशन अति गुणदाय।
जाकरि पाप विनाश ह्वै, भाषै श्री जिनराय।।1725।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि मुनि और श्रावक दोनों को अनशन तप अन्यन्त गुणकारी है; क्योंकि यह तप पापों का नाश करने वाला है।

इन्द्रिनि कों उपशांत करि, करै चित्त कौ रोध।
ते उपवासे उत्तमा, लहै आपकौ बोध।।1726।।

अर्थ :– जो इन्द्रियों को उपशांत करके और चित्त का निरोध करके उपवास करते हैं, वह उपवास तप उत्तम है; क्योंकि उससे आत्मबोध प्राप्त होता है।

गनि उपवासे ते नरा, मन इन्द्रिनि कों जीति।
करैं वास चैतन विषै, शुद्धभाव सों प्रीति।।1727।।

अर्थ :– जो निरन्तर आत्मा में ही निवास करते हैं और अपने शुद्ध भावों में ही जिनकी प्रीति है, ऐसे मनुष्य मन और इन्द्रियों को जीत कर जो उपवास करते हैं, वह उपवास अनशन तप की गिनती में आता है।

इस भव परभव भोग की, तजि आशा ते धीर।
करम–निर्जरा कारणें, करें उपास सु वीर।।1728।।

अर्थ :– धीर–वीर पुरुष इस भव और पर–भव के भोगों की आशा को छोड़ कर मात्र कर्म–निर्जरा के लिए उपवास करते हैं।

आतम ध्यान धरै बुधा, कै जिन श्रुत अभ्यास।
तब अनसन कौ फल लहै, केवल तत्त्व अध्यास।।1729।।

अर्थ :– जो बुद्धिमान जन उपवास करके आत्मध्यान करते हैं, जिनागम का स्वाध्याय करते हैं और मात्र तत्त्व–चिन्तन का अभ्यास करते रहते हैं, उन्हीं का उपवास यथार्थ फलदायक है।

चऊ अहार विकथा चऊ, तजिवौ चारि कषाय।
इन्द्री विषया त्यागिवौ, सो उपवास कहाय।।1730।।

अर्थ :– चारों प्रकार के आहार का त्याग करके भी जब चारों विकथा, चारों कषाय और इन्द्रियों के विषयों का त्याग किया जाता है, तभी वह उपवास कहलाता है।

द्वै विधि अनसन की कहैं, महामुनी श्रुति माहिं।
सावधि निरवधि गुण धरी, जाकरि कर्म नशाहिं।।1731।।

अर्थ :– आचार्यों ने आगम में सावधि और निरवधि के भेद से दो विधियाँ कही हैं। दोनों विधियों से किये गए उपवास गुणों की वृद्धि और कर्मों का नाश करते हैं।

एक दिवस द्वै तीन दिन, च्यारि पांच पखवार।
मासा द्वय त्रय च्यारि हू, मास छमास विचार।।1732।।

वर्षावधि उपवास करि, करै पारनों जोहि।
सावधि अनसन तप भया, भाषै श्री गुरु सोहि।।1733।।

अर्थ :– जो एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पाँच दिन आदि, एक पक्ष, एक माह, दो माह, तीन माह, चार माह, पाँच माह, छह माह और एक वर्ष पर्यन्त की अवधिपूर्वक उपवास करके पश्चात् पारणा करते हैं; उसे आचार्य देव सावधि अनशन तप कहते हैं।

आयु–कर्म थोरौ रहै, तब ज्ञानी व्रत धीर।
जावौ जीव तजैं सबै, असन पान जगवीर।।1734।।

मरणावधि अनसन करैं, सो नरवधि उपवास।
जे धारैं उपवास कों, ते जु करैं अघ नाश।।1735।।

अर्थ :– जो धीर, वीर, व्रती एवं ज्ञानी जन अपनी आयु अल्प जानकर, जीवन पर्यन्त के लिए चारों प्रकार के आहार–जल का त्याग कर मरणावधि उपवास ग्रहण करते हैं, वह निरवधि अनशन तप है। जो इस निरवधि अनशन तप को धारण करते हैं, वे कर्मों का नाश करते हैं।

करत थके उपवास कों, जे न तजे आरम्भ।
जग धंधे में चित्त धरै, तजैं न शठमति दंभ।।1736।।

अर्थ :– जिनका चित्त निरन्तर जगत के धन्धे में प्रीति युक्त रहता है, जो आरम्भ का एवं अभिमान आदि का त्याग न करके मात्र उपवास करते हैं; वे मूर्ख उपवास करके मात्र अपने शरीर को दुर्बल करते हैं।

मोह गहल चंचल दशा, लहै न फल उपवास।
कछुयक काय–कलेश का, फल पावै जगवास।।1737।।

अर्थ :– जो मोह में मदोन्मत्त हैं, जिनका चित्त चंचल है; वे उपवास करके भी उपवास के फल को प्राप्त नहीं कर पाते। काय–क्लेश का किंचित् मात्र फल प्राप्त करके भी जगवास को नहीं छोड़ सकते हैं।

कर्म–निर्जरा फल सही, सो नहिं तिनकों होई।
इह निश्चय सतगुरु कहैं, धारैं बुधजन सोई।।1738।।

अर्थ :– ऐसे मात्र काय–क्लेश से उनको कर्म निर्जरारूप फल किंचित् भी प्राप्त नहीं हो सकता। यह निश्चित है। ऐसा ही आचार्य देव ने कहा है। हे बुद्धिमान जनों! इस बात को अपने हृदय में अवश्य धारण करो।

धन्य धन्य उपवास हैं, देइ सासतो वास।
अब सुनि अवमौदर्य जो, दूजौ तप सुखरास।।1739।।

अर्थ :– अनशन तप को धन्य है! धन्य है! इस अनशन तप से ही शाश्वत वास (मोक्ष) प्राप्त होता है। अब दूसरा अवमौदर्य तप सुनो, जो सुख का भण्डार है।

जो मुनि करै अनोदरी, तजि अहार की वृद्धि।
प्रासुक योग सु अलप अति, ले अहार तप–वृद्धि।।1740।।

अर्थ :– आहार की वृद्धि (पूर्ण आहार) का त्याग कर अनेक मुनिराज अवमौदर्य तप करते हैं। वे साधु तप की वृद्धि के लिए प्रासुक, योग्य और अति अल्प आहार लेते हैं।

करै सु अवमौदर्य कों, करै निर्जरा हेत।
नहिं कीरति को लोभ है, सो मुनि जिन पद लेत।।1741।।

अर्थ :– जो मुनिराज यश के लोभ से यह तप नहीं करते, अपितु कर्म निर्जरा के लिए अवमौदर्य तप करते हैं। वे मुनिराज जिनराज का पद प्राप्त कर लेते हैं।

श्रावक होइ जु व्रत करै, लेइ अलप आहार।
जब स्वाध्याय सु ध्यान ह्वै, मिटैं अनेक विकार।।1742।।

अर्थ :– श्रावक जन भी अल्प–आहार लेकर इस तप को करते हैं। इस अवमौदर्य तप के प्रभाव से वे जब स्वाध्याय में और ध्यान में लीन होते हैं, तब उनके अनेक विकार नष्ट हो जाते हैं।

संध्या पोसह पडिकमण, तासों सधै अदोष।
जो अहार बहु न करै, धरै महागुण कोष।।1743।।

अर्थ :– जो श्रावक अल्प आहार लेकर अवमौदर्य तप करते हैं, सन्ध्या के समय उनके सामायिक और प्रतिक्रमण निर्दोष रीत्या हो जाते हैं और वे श्रावक अनेक गुणों को धारण कर लेते हैं।

कै अनशन अघ नाश कर, कै यह अवमोदर्य।
इन सम और न जग विषै, ए तप अति सौंदर्य।।1744।।

अर्थ :– या तो अनशन तप पापों का नाश करता है या अवमौदर्य तप पापों का नाश करता है। इस जगत में इन दोनों तपों के समान उत्कृष्ट और कोई दूसरा तप नहीं है।

इन बिन कदै न जो रहे, सो पावै व्रतशुद्धि।
ध्यान कारणें जो करै, सो होवे प्रतिबुद्ध।।1745।।

अर्थ :– जो जन इन व्रतों को निरन्तर करते रहते हैं, वे ही व्रत की परम विशुद्धि को प्राप्त होते हैं और जो साधुजन आदि ध्यान सिद्धि के लिए इन तपों का आचरण करते हैं, वे शीघ्रातिशीघ्र प्रतिबुद्धता को प्राप्त हो जाते हैं।

अरु जो मायावी अधम, धरि कीरति को लोभ।
करै सु अलप अहार कों, सो नहिं होई अक्षोभ।।1746।।

अर्थ :– जो मायावी एवं अधम जन यश के लोभ में अवमौदर्य व्रत करते हैं, वे उपशान्त अवस्था को प्राप्त नहीं होते हैं।

अथवा जो शठ अंध धी, यह विचार जिय माहिं।
करै सु अलप अहार जो, सोहू व्रत धरि नाहिं।।1747।।

अर्थ :– अथवा कोई मूर्ख तथा अंध बुद्धि वाले अपने मन में ऐसा विचार करते हैं कि जो अल्पाहार (अवमौदर्य) करते हैं, वे कोई व्रत ही नहीं करते हैं।

जो करिहों जु अहार अति, तौ जैसो तैसो हि।
मिलि हैं मोदक स्वाद करि, तातैं इह न भलौ हि।।1748।।

अलप अहार जु खाहुंगो, बहुत रसीली वस्तु।
इहै भाव धरि जों करै, सो नहिं व्रत्त प्रशस्त।।1749।।

अर्थ :– कोई मूर्ख ऐसा सोचते हैं कि यदि बहुत आहार करूँगा तो ऐसा–वैसा ही भोजन मिलेगा, यदि लड्डू आदि कुछ स्वाद युक्त भी भोजन मिल गया तो उससे क्या भला होगा? यदि अल्पाहार करके व्रत करूँगा तो मुझे बहुत रसीले पदार्थ मिलेंगे – इत्यादि प्रकार के भावों से किया हुआ अवमौदर्य व्रत प्रशस्त नहीं है।

मिष्ट भोज्य अथव सुजस, कारण अल्प अहार।
करै न फल तप को प्रबल, कर्म निर्जराकार।।1750।।

अर्थ :– जो मिष्ट भोजन की लालसा से अथवा यश प्राप्ति की इच्छा से अवमौदर्य तप करते हैं, वह तप प्रबल कर्मों की निर्जरा रूप फल को नहीं देता।

केवल आतम ध्यान के, अर्थ करै व्रत धार।
कै स्वाध्याय सु व्रत के, कारण अल्प अहार।।1751।।

अर्थ :– मात्र आत्मध्यान के लिए अथवा स्वाध्याय की वृद्धि के लिए ही अवमौदर्य व्रत करे।

अल्प अहार–थकी बुधा, रोग न उपजे क्वापी।
निद्रा मनमथ आदि सहु, नहिं पीरै जु कदापि।।1752।।

अर्थ :– हे बुद्धिमानों! अल्पाहार करने से कभी रोग उत्पन्न नहीं होते, निद्रा नहीं सताती और काम–पीड़ा भी कदापि उत्पन्न नहीं होती।

बहु अहार सम दोष नहिं, महा रोग की खानि।
निद्रा मनमथ प्रमुख जों, उपजै पाप निदान।।1753।।

अर्थ :– अधिक आहार रोग की खान है, निद्रा और काम–पीड़ा उत्पत्ति का प्रमुख कारण है तथा पाप का निदान है; अत: इस दोष से बड़ा और कोई दोष नहीं है।

लोकमाहिं कहवत इहै, मरै मूढ़ अति खाय।
कै बिन बुद्धि बोझ कों, भोंदू मरै उचाय।।1754।।

अर्थ :– ''मरै मूढ़ अति खाय'' यह कहावत लोक में प्रसिद्ध है। जैसे कोई बुद्धिहीन भोंदू मनुष्य सीमातीत बोझा सिर पर लादकर मरता है, वैसे ही अधिक खाने वाला मरता है।

तातैं घनो न खाइवौ, करिवो अलप अहार।
याहि करैं सतगुरु सदा, व्रत को बीज अपार।।1755।।

अर्थ :– इसलिए बहुत अधिक न खाकर अल्पाहार ही करना चाहिए। आचार्यों ने इस अवमौदर्य व्रत को ही व्रतों का उत्तम बीज कहा है।

व्रतपरिसंख्या तीसरो, तप ताकों सु विचार।
सुनों सुगुरु भाषैं भया, परम निर्जराकार।।1756।।

अर्थ :– तीसरा व्रतपरिसंख्या नाम का तप भी परम निर्जरा का कारण है। इसे जैसा आचार्यों ने कहा है, वैसा तुम सुनो।

मुनि उतरें आहार कों, करि ऐसी परतिज्ञ।
मन में तौऊ छांटकों, सो धारौ तुम विज्ञ।।1757।।

अर्थ :– मुनिराज जिस समय आहार–चर्या को निकलते हैं, उस समय अनेक नियमों में से

किसी एक नियम का मन में निर्धारण कर प्रतिज्ञा कर लेते हैं। हे विज्ञ! तुम इस प्रतिज्ञा को ही व्रतपरिसंख्या नाम का तप जानो।

एक घरें नहिं पाय हों, तौ न आन घर जाहुँ।
और कछु नहिं खाय हों, यह मिलि हैं तौ खाहुं।।1758।।

अर्थ :– एक घर में यदि अमुक नियम मिलेगा तो आहार करूँगा। नहीं मिलने पर दूसरे घरों में नहीं जाऊँगा। अथवा आज अमुक धान्य या पदार्थ मिलेगा तो वही खाऊँगा, अन्य कोई दूसरा पदार्थ नहीं खाऊँगा।

अथवा ऐसी मन धरै, या विधि के तन चीर।
पहिरे होंगी श्राविका, तौ लेहूँ अन नरी।।1759।।

अर्थ :– अथवा मन में ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि इस प्रकार के वस्त्र पहने हुए श्राविकाएँ आहार देंगी तो आहार-जल ग्रहण करूँगा।

तथा विचारै सो सुधी, कारों बलधा जोहि।
धरै सींग परि गुड़-डला, मिलै पंथ में मोहि।।1760।।

जाऊँ भोजन कारनें, नांतरि नहीं अहार।
इत्यादिक जे अटपटी, करै प्रतिज्ञा सार।।1761।।

अर्थ :– अथवा ऐसा विचार करें कि काला बैल अपने सींगों पर गुड़ की भेली रखे हुए मार्ग में मिलेगा तो ही आहार-जल ग्रहण करूँगा। इस प्रकार की अनेक अटपटी प्रतिज्ञा लेकर आहार को जाना, व्रतपरिसंख्या नाम का तप है।

व्रतपरिसंख्या तप लहैं, जे मुनिराय गहंत।
श्रावक हु इह तप करे, कौन रीति सुन संत।।1762।।

अर्थ :– महामुनिराज तो इस व्रतपरिसंख्यान तप को करते ही हैं, किन्तु श्रावक जन भी इसे करते हैं। हे सज्जनों! श्रावक किस प्रकार करते हैं? वह विधि सुनो।

प्रातहिं संध्या विधि करें, धारहिं सतरा नेम।
ता सम कबहूं व्रत करें, परिसंख्या सों प्रेम।।1763।।

अर्थ :– प्रात:काल और संध्याकाल में श्रावक जन जो सत्रह नियम लेते हैं, उसी के समान कभी-कभी व्रतपरिसंख्यान व्रत भी धारण कर लेते हैं।

धारि गुप्ति चितवै सुधी, अपने चित्त मँझारि।
साखि जिनेश्वर देव हैं, ज्ञायक ज्ञेय अपार।।1764।।

अर्थ :– जिनेन्द्र देव को साक्षी करके और अपार ज्ञेयों को जानने वाले ज्ञायक को साक्षी करके कोई विद्वान श्रावक अपने मन में (कोई एक अटपटी का) गुप्त रूप से चिन्तवन कर लेते हैं।

और न जानें बात इह, जो धारें बुध नेम।
नहीं प्रेम भव–भाव सों, जप तप व्रत सों प्रेम।।1765।।

अर्थ :– जिन्हें सांसारिक भावों से प्रेम नहीं है और जो व्रत, जप और तप में प्रीति रखते हैं, वे बुद्धिमान व्रतपरिसंख्यान का जो नियम अपने मन में लेते हैं, वह नियम अन्य किसी को भी ज्ञात नहीं होने देते हैं।

अनायास भोजन समय, मिलि हैं मोहि कदापि।
रूखी रोटी मूंग की, लेहूँ और न क्वापि।।1766।।

अर्थ :– भोजन के समय अनायास ही आज मुझे मूँग की रूखी रोटी मिलेगी तो खाऊँगा और कोई वस्तु कदापि नहीं खाऊँगा।

इत्यादिक जे अटपटी, धरैं प्रतिज्ञा धीर।
व्रतपरिसंख्या व्रत लहै, ते श्रावक गंभीर।।1767।।

अर्थ :– वे श्रावक धैर्यवान हैं, गम्भीर हैं, जो इत्यादि प्रकार से अटपटी प्रतिज्ञा करके व्रतपरिसंख्यान व्रत धारण करते हैं।

अब सुनि चौथा तप महा, रस परित्याग प्रवीन।
मुनि श्रावक दोऊनि कों, भाषें आतमलीन।।1768।।

अर्थ :– आत्मरस में लीन रहने वाले आचार्य अब रस परित्याग नामक महातप कहते हैं, सो सुनो। इस तप को भी मुनि और श्रावक दोनों यथायोग्य पालन करते हैं।

अति दुख को सागर जगत, तामें सुख नहिं लेश।
चहुंगति भ्रमण जु कब मिटै, कटै कलंक अशेष।।1769।।

अर्थ :– यह जगत दुख का सागर है, इसमें लेशमात्र भी सुख नहीं है। सम्पूर्ण कर्म रूपी कलंक नाश होकर, मेरा चतुर्गति भ्रमण कब मिटेगा।

जग के झूठे रस सबै, एक सरस अति सार।
इहै धारना धर सुधा, होइ महा अविकार।।1770।।

अर्थ :– जगत के सर्व रस झूठे हैं, अत्यन्त सारभूत एक आत्मरस ही सरस है। जो बुद्धिमान इस रस को धारण करते हैं, वे अत्यन्त निर्विकार हो जाते हैं।

भव तैं अति भयभीत जो, डर्यो भ्रमण तैं धीर।
निर्वानी निर्वान जों, चाखै निजरस वीर।।1771।।

अर्थ :– जो संसार से भयभीत हैं, चतुर्गति भ्रमण से भयभीत हैं और वचन–अगोचर निर्वाण सुख की श्रद्धा से अपने निजरस (आत्मरस) को ही चख (अनुभव कर) रहे हैं, वे ही धीर–वीर हैं।

विषहू तैं अति विषम जे, विषया दुख की खानि।
भव–भव मोकूं दुख दियौ, सुख परिणति कों मानि।।1772।।

अर्थ :– पंचेन्द्रियों के विषय विष से भी अधिक विषम हैं और दुख की खान हैं। इन्हें मैंने सुखस्वरूप माना है, इसलिए इन विषयों ने मुझे भव–भव में दुख दिया है।

तातें इनकों त्याग करि, धरौ ज्ञान कों मित्र।
तप जो भव आतप हरै, करण पुनीत पवित्र।।1773।।

अर्थ :– इसलिए इन विषयों का त्याग कर आत्मज्ञान धारण करो। हे मित्र! यह रसपरित्याग तप संसार के ताप को हरण करने वाला है और आत्मा को पवित्र एवं परम पुनीत करने वाला है।

इह चिंतवतौ धीर जो, रस परित्याग करेय।
नीरस भोजन लेय कै, ध्यावै आतम ध्येय।।1774।।

अर्थ :– ऐसा चिन्तवन करते हुए जो रसों का त्याग करते हैं और नीरस भोजन लेकर आत्मा का ध्यान करते हैं, वे ही धीर हैं।

दूध दही घृत तेल अर, मीठो लवण इत्यादि।
रस तजि नीरस अन्न ले, काटै कर्म अनादि।।1775।।

अर्थ :– दूध, दही, घी, तेल, मीठा और नमक आदि का त्याग कर जो नीरस भोजन करते हैं, वे ही महापुरुष इस अनादिकालीन कर्म–जंजीर को काटते हैं।

अथवा मिष्ट कषायलो, खारो खाटो जानि।
कड़वौ और जु चिरपरौ, यह षट्रस परवानि।।1776।।

तजि रस नीरस जो भखै, सो आतम–रस पाय।
देय जलांजलि भ्रमण कों, सूधो शिवपुर जाय।।1777।।

अर्थ :– अथवा मीठा, कषायला, खारा, खट्टा, कडुवा और चरपरा – ये छह रस भी आगम में कहे हैं। इन रसों का त्याग कर जो नीरस भोजन करते हैं, वे ही आत्म–रस को प्राप्त करते हैं और जगत के भ्रमण को जलांजलि देकर (त्याग कर) सीधे मोक्ष–नगर पधार जाते हैं।

भव बाकी ह्वै जो भया, तो पावै सुर–लोक।
सुर थी नर ह्वै मुनिदशा, धारि लहै शिव–थोक।।1778।।

अर्थ :– जिनके अभी कुछ भव शेष हैं, वे मुनिराज इस तप के प्रभाव से स्वर्ग जाते हैं; वहाँ से उत्तम मनुष्य पर्याय धारण कर और मुनि होकर मोक्ष चले जाते हैं।

अथवा सिंगारादि का, नव रस जगत विख्यात।
तिन में शांति सुरस गहै, जो सब रस को तात।।1779।।

अर्थ :– अथवा इस जगत में शृंगार आदि नव रस विख्यात (प्रसिद्ध) हैं। इन नौ रसों में शान्त रस सबका पिता है।

पर रस तजि जिनरस गहै, जाकै राग न रोष।
सो पावै समभाव कों, दूरी करै सहु दोष।।1780।।

अर्थ :– जिनके राग–द्वेष क्षीण हो गये हैं और जो अन्य सब पर रसों का त्याग कर, निज रस में ही अवगाहन करते हैं, वे ही सर्व दोषों का नाश कर साम्यभाव को धारण करते हैं।

रसपरित्याग समान नहिं, दूजौ तप जगमाहिं।
जहां जीभ के स्वाद सहु, त्यागै संशय नाहिं।।1781।।

अर्थ :– इस जगत में रसपरित्याग तप के समान महान तप और कोई अन्य नहीं है। यह तप जिह्वा रस के त्याग से ही हो सकता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

अब विविक्तशय्यासना, पंचम तप सुनि वीर।
राग–द्वेष के हेतु जे, आसन सज्जा चीर।।1782।।

अर्थ :– अब विविक्तशय्यासन नाम का पाँचवाँ तप कहा जा रहा है, सो हे वीर! उसे सुनो। राग–द्वेष के कारणभूत आसन, सज्जा, वस्त्रादि हैं।

तजि मुनिवर निरग्रन्थ ह्वै, वसैं आप मैं धीर।
तन खीणां मन उनमना, जगत रूढ़ गंभीर।।1783।।

अर्थ :– जो निर्ग्रन्थ मुनि इन आसनादि का सर्वथा त्याग कर अपनी आत्मा में निवास करते

हैं, वे ही वीर हैं। इस गंभीर जगत के प्रति और अपने शरीर के प्रति उनका मन अत्यन्त उदासीन रहता है।

पूजा हमरी होयगी, बहुत भजेंगे लोक।
इह बांछा नहिं चित्त में, नहीं हरष अर शोक।।1784।।

सकल कामना-रहित जे, ते साधू शिव मूल।
पाप थकी प्रतिकूल ह्वै, भयै ब्रह्म अनुकूल।।1785।।

अर्थ :- हमारी बहुत पूजा होगी, लोग हमारी मान्यता करेंगे - ऐसी वांछा जिनके मन में नहीं है, जिनके हृदय में हर्ष-विषाद नहीं है और जो सर्व कामनाओं से रहित हैं; वे साधु ही मोक्ष के मूल हैं; क्योंकि वे पापों के प्रतिकूल हैं और अपने आत्मब्रह्म के अनुकूल है।

ते संसार शरीर अरु, भोग थकी जु उदास।
अभ्यंतर निज बोध धर, तप कुशला जिनदास।।1786।।

अर्थ :- जो संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हैं, अभ्यन्तर में आत्मबोध को प्राप्त कर चुके हैं, तपश्चरण करने में कुशल हैं और भगवान जिनेन्द्र के परम भक्त हैं, वे विविक्तशय्यासन तप करते हैं।

उपशमशीला शान्त धी, महा सत्त्व परवीन।
निवसै निर्जन वनविषै, ध्यान लीन तन खीन।।1787।।

अर्थ :- जो स्वभावत: उपशम शील हैं, महा सत्त्वशाली हैं, प्रवीण हैं, जिनकी बुद्धि शान्त है, तप के कारण शरीर क्षीण हो गया है; वे निर्जन वन में जाकर ध्यान करते हैं।

गिरिसिर गुफा मंझार जे, अथवा बसैं मसान।
भूमि माहिं निरव्याकुला, धीर वीर बहु जान।।1788।।

अर्थ :- जो पर्वत के शिखर पर, गुफा के मध्य में अथवा श्मशान भूमि में जाकर निराकुल भाव से ध्यान करते हैं, उन्हें बहुत धीर-वीर जानो।

तरु कोटर सूना घरी, नदी-तीर निवसंत।
कर्म-क्षपावन उद्यमी, ते जैनी मतिवंत।।1789।।

अर्थ :- जो वृक्ष की कोटर में, शून्य गृहों में और नदी के किनारे स्थित होकर कर्म नष्ट करने के उद्यम में लगे हुए हैं अर्थात् ध्यान में लीन हैं; वे ही जैनी बुद्धिमान हैं।

कंकरीली धरती विषैं, विषम भूमि में साध।
तिष्ठैं ध्यावैं तत्त्व कों, आराधन आराधि।।1790।।

अर्थ :- कँकरीली भूमि में और विषम भूमि में अपने शरीर को स्थिर कर बैठ जाते हैं, वहाँ बैठ कर ध्यान करते हैं, तत्त्वों का चिन्तन करते हैं और चारों आराधनाओं का आराधन करते हैं।

जगवासिन की संगती, ध्यान-विघन को मूल।
तातैं तजि जड़ संगती, भये ज्ञान अनुकूल।।1791।।

अर्थ :- जगवासी जीवों की संगति, ध्यान के विघ्न का मूल कारण है; इसलिए वे जड़ संगति का त्याग कर अपने ज्ञानाचरण के अनुकूल आचरण करते हैं।

स्त्री-पशु-बाल-विमूढ़ की, संगती अति दुखदाय।
कायर की संगति थकी, सूरापन विनसाय।।1792।।

अर्थ :- स्त्री, पशु, बालक और मूर्खों की संगति अत्यन्त दुख देने वाली है और धर्म-भीरु मनुष्यों की संगति हमारे धर्म सत्त्व का विनाश करती है।

जे एकांत वसैं सुधी, अनेकांत धरि चित्त।
ते पावै परमेसुरो, लहि रतनत्रय चित्त।।1793।।

अर्थ :- जो बुद्धिमान जन एकान्त में निवास करते हैं और अनेकान्त को अपने चित्त में धारण करते हैं, वे रत्नत्रय को चित्त में धारण करते हुए परमात्म पद को प्राप्त कर लेते हैं।

मुनि की रीति कही भया, सुनि श्रावक की रीति।
जा विधि पंचम तप करै, धरि जिन वचन प्रतीत।।1794।।

अर्थ :- विविक्तशय्यासन व्रत में मुनिराज की विधि कही है। अब श्रावकों के तप की विधि सुनो। पंचम तप की यह विधि जिनेन्द्र भगवान की आज्ञानुसार ही कही जा रही है।

निज नारी हू तैं विरत, परनारी का वीर।
शीलवान शांतिक अती, तप धारे अति धीर।।1795।।

अर्थ :- पर-नारी की क्या बात जो निज-नारी से भी विरक्त हैं, शीलवान हैं और अत्यन्त शांत हैं; वे धीर-वीर ही इस व्रत को धारण करते हैं।

पर-नारी की सेज अर, आसन चीर इत्यादि।
कबहुं न भीटै भव्य जो, तजै काम रागादि।।1796।।

अर्थ :– जो भव्य काम सम्बन्धी रागादि को त्याग कर, पर-स्त्री की शय्या, आसन और वस्त्र आदि का कभी स्पर्श नहीं करते; वे इस तप के धारी हैं।

निज नारी हूं कों तजै, जौ लग त्याग न होय।
तौ लग कबहुँक सेवही, बहुत राग नहिं कोय।।1797।।

अर्थ :– भव्य श्रावक स्व-नारी का भी त्याग कर देते हैं। यदि सर्वथा त्याग नहीं कर पाते तो अल्प रागपूर्वक कभी क्वचित् ही भोग करते हैं।

एक सेज सोवे नहीं, जुदौ जु सोवै जोहि।
जब विविक्तशय्यासना, पावै तप अति सोहि।।1798।।

अर्थ :– जब वे निज-स्त्री के साथ भी एक शय्या पर नहीं सोते हैं, अलग-अलग ही सोते हैं; तब उनका विविक्तशय्यासन तप सुशोभित होता है।

करै परोस न दुष्ट को, तजे दुष्ट कौ संग।
व्यसनी तैं दूरी रहै, पाले व्रत्त अभंग।।1799।।

अर्थ :– जो श्रावक दुष्ट मनुष्यों को भोजन आदि नहीं कराते, दुष्टों की संगति में नहीं रहते हैं और व्यसनी पुरुषों से दूर रहते हैं; वे ही इस तप को अखण्ड रूप से पालन कर सकते हैं।

जे मिथ्यामत धारका, अलगौ तिनसों होइ।
जिनधरमी की संगती, धारै उत्तम सोइ।।1800।।

अर्थ :– जो मिथ्या मत धारियों से अलग रहते हैं और जैनधर्मावलम्बियों की संगति में रहते हैं, वे ही इस उत्तम तप को पाल सकते हैं।

कुगुरु कुदेव कुधर्म का, करै न जो विश्वास।
है विश्वासी जैन को, जिन दासनि को दास।।1801।।

अर्थ :– जो जिनेन्द्र भक्तों के दासों (आचार्यादि) के दास हैं, जैनधर्म के दृढ़ विश्वासी हैं और कुगुरु, कुदेव और कुधर्म में कदापि विश्वास नहीं करते; वे ही इस तप के धारी हैं।

सामायिक पोषा समै, गहै इकंत सुथान।
सो विविक्तशय्यासना, भाषै श्री भगवान।।1802।।

अर्थ :– सामायिक और उपवास आदि के समय एकान्त स्थान में रहना चाहिए। श्रावकों का यह विविक्तशय्यासन तप जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

करनो पंचम तप भया, अब छट्ठो तप धार।
कायकलेस जु नाम है, कहूं सूत्र अनुसार।।1803।।

अर्थ :– पाँचवें तप के बाद अब काय-क्लेश नाम का छठा तप जिनागम के अनुसार कहता हूँ, सो सुनो।

अति उपसर्ग उदय भयौ, ताकरि मन न डिगाय।
क्षमावान शांतिक महा, मेरु समान रहाय।।1804।।

अर्थ :– भयंकर उपसर्ग आ जाने पर भी जिनका मन सुमेरु के समान दृढ़ रहता है, चलायमान नहीं होता, जो क्षमावान हैं तथा महाशान्ति के भण्डार हैं; वे ही इस तप को धारण करते हैं।

देव मनुज तिरजंच कृत, अथवा स्वत: स्वभाव।
उपजौ जो उपसर्ग है, तामैं निर्मल भाव।।1805।।

खेद न आने चित्त में, काय कलेस सहेय।
सो कलेस नहिं पावई, ज्ञान शरीर लहेय।।1806।।

अर्थ :– देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत और स्वाभाविक उपसर्ग आ जाने पर भी जिनके भाव निर्मल रहते हैं; जिनके चित्त में किंचित् भी खेद-खिन्नता नहीं आती, वे ही इस कायक्लेश तप को तपते हैं। इस तप से क्लेश का अनुभव नहीं करते, अपितु ज्ञान-शरीर (मोक्ष) ही प्राप्त करते हैं।

गिरि-सर ग्रीषम मैं रहै, शीतकाल जल-तीर।
वर्षा ऋतु तरु-तल वसइ, सो पावै अशरीर।।1807।।

अर्थ :– ग्रीष्म काल में पर्वतों के शिखर पर, शीत काल में नदी आदि के किनारे और वर्षा ऋतु में जो वृक्षों के नीचे निवास करते हैं; वे ही अशरीरी (मोक्ष) पद प्राप्त करते हैं।

आतापन जोग जु धरै, कष्ट सहै जु अशेष।
अति उपवास करै सुधी, सो तप कायकलेश।।1808।।

अर्थ :– आतापन योग धारण करके अत्यधिक कष्ट सहन करना और बहुत अधिक उपवास करना, कायक्लेश तप है।

कायकलेसें सहु मिटै, तन मन के जु कलेस।
महापाप कर्म जु कटै, गुण उपजेहिं अशेष।।1809।।

अर्थ :– कायक्लेश तप से तन-मन के क्लेश मिट जाते हैं, महापाप कर्म कट जाते हैं और सर्व गुण प्रकट हो जाते हैं।

मुनि श्रावक दोऊनि कों, करिवां कायकलेश।
संकलेसता भाव तजि, इह आज्ञा जगतेश।।1810।।

अर्थ :– भगवान जिनेन्द्र की आज्ञानुसार संक्लेश भावों को छोड़ कर यह कायक्लेश तप मुनि और श्रावक दोनों को करना चाहिए।

वनवासी के अति तपा, घरवासी के अल्प।
अपनी शक्ति प्रमाण तप, करिवां त्याग विकल्प।।1811।।

अर्थ :– वनवासी मुनिराज इस काय-क्लेश तप को विशेष रूप से तपते हैं और श्रावक जन अल्प रूप से तपते हैं। तप और त्याग अपनी शक्ति प्रमाण ही करना चाहिए।

ए षट् बाहिज तप कहै, अब अभ्यन्तर धारि।
इह भासैं श्रुतकेवली, जिनवाणी अनुसार।।1812।।

अर्थ :– ये छह तप बाह्य कहे हैं। आगमानुसार जैसे श्रुतकेवली ने कहे हैं, वैसे छह अभ्यन्तर तप भी धारण करना चाहिए।

दोष न करई आप जो, करवावै न कदापि।
दोष तनो अनुमोदना, करै नहीं बुध कापि।।1813।।

अर्थ :– बुद्धिमान जन कभी स्वयं दोष नहीं करते, दूसरों को भी दोष करने की प्रेरणा नहीं देते। दोषों की अनुमोदना भी वे कदापि नहीं करते हैं।

मन वच तन करि गुणमई, निरदोषों निरुपाधि।
आनन्दी आनंद मय, धारै परम समाधि।।1814।।

अर्थ :– अनेक गुणों से भरपूर, निर्दोष उपाधि आदि दोषों से रहित, आनन्दमय और आनन्द देने वाली परम समाधि को मन, वचन और काय से धारण करें।

अथवा कदै प्रमाद तैं, किंचित लागै दोष।
तौ अपने औगुण सुधी, नहिं गोपै व्रत पोष।।1815।।

श्री गुरु पास प्रकाशई, सरल चित्त करि धीर।
स्वामी लाग्यो दोष मुझ, दण्ड देहु जगवीर।।1816।।

अर्थ :– अथवा यदि क्वचित् किसी व्रत में कुछ दोष लग जावे तो अपने उन अवगुणों (दोषों) को गोपनीय न रखें। सरल चित्त से गुरु के पास जाकर दोष प्रकट करते हुए कहें कि हे जगत्वीर आचार्यश्री! मेरे व्रत में जो दोष लग चुके हैं, उनका प्रायश्चित देकर मुझे शुद्ध कीजिए।

तब जो श्रीगुरु दण्ड दे, व्रत तप दान सुयोग।
सो सब श्रद्धा तें करै, पावै पंथ निरोग।।1817।।

अर्थ :– व्रत, तप, दान एवं योग आदि रूप में जो प्रायश्चित्त आचार्य दें, वह सब श्रद्धापूर्वक पालन करने वाले को ही निरोग पंथ (मोक्षमार्ग) प्राप्त होता है।

एसी मन में ना धरै, अलप हुतो यह दोष।
दियौ दण्ड गुरुने महा, जाकरि तन को शोष।।1818।।

अर्थ :– मन में कभी ऐसा विचार न करें कि दोष तो मुझसे थोड़ा ही हुआ था, किन्तु गुरु ने शरीर का शोषण करने वाला यह बड़ा प्रायश्चित्त क्यों और कैसे दिया है।

सबै त्यागि शंका सुधी, सकल विकलपा डारि।
प्रायश्चित्त करै तपा, गुरु आज्ञा अनुसारि।।1819।।

अर्थ :– बुद्धिमानों को सर्व शंकाएँ छोड़कर और सर्व विकल्पों का त्याग कर गुरु की आज्ञानुसार प्रायश्चित्त तप का पालन करना चाहिए।

बहुरि इच्छै दोष कों, त्यागौ मन वच काय।
देह तनें सौ टूंक ह्वै, तोहु न दोष उपाय।।1820।।

यह विधि के निश्चय सहित, वरतै ज्ञानी जीव।
ताकै तप ह्वै सातमों, भाषें त्रिभुवन-पीव।।1821।।

अर्थ :– हे भाई! पहले किये हुए दोष को मन, वचन और काय से त्याग कर दें, पश्चात् इस शरीर के सौ टुकड़े हो जावें तो भी उस दोष को पुन: न करें। इस विधि के अनुसार निश्चय धारणापूर्वक जो ज्ञानी जीव आचरण करते हैं, उन्हीं के यह सातवाँ तप होता है। ऐसा जिनदेव ने कहा है।

जो चितवै निजरूप कों, ज्ञानस्वरूप अनूप।
चेतनता मंडित विमल, सकल लोक को भूप।।1822।।

अर्थ :– जो तीन लोक का भूप है, मल रहित है, चेतना गुण से मण्डित है, अनुपम है और ज्ञानस्वरूप है – ऐसे निज स्वभाव का चिन्तन करने वाले को दोष कैसे लग सकते हैं।

बार बार ही निज लखै, जानें बारम्बार।
बार बार अनुभव करै, सो ज्ञानी अविकार।।1823।।

अर्थ :– अपने निज-स्वभाव को जो बार-बार देखता है, बार-बार उसी को जानता है और बार-बार उसी का अनुभव करता है; वही निर्विकार ज्ञानी है।

विकथा विषय कषाय तें, न्यारों वरतै सन्त।
ता विरकत के दोष कहु, कैसे उपजे मिंत।।1824।।

अर्थ :– हे मित्र! जो सन्त, विकथा, विषय एवं कषायों से रहित हैं, ऐसे विरक्त महापुरुषों को दोष कैसे लग सकते हैं।

निरदोषी बहुगुण धरै, गुणी महाचिद्रूप।
तासों परचै पाइयो, सो तप धारि अनूप।।1825।।

अर्थ :– निर्दोषी सन्त बहुत गुणों को धारण करते हैं, वे गुणी जन महा चैतन्य स्वरूप होते हैं। जो इन महापुरुषों की सेवा अथवा वैयावृत्ति करते हैं, वे ही सत्पुरुष इस प्रायश्चित्त नामक अनुपम तप को धारण करते हैं।

दोष तनों परिहार जो, कहिये प्रायश्चित्त।
धारै सों निजपुर लहै, गहे सासतो वित्त।।1826।।

अर्थ :– जो दोषों का परिहार करता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। जो इस तप को धारण करता है, वही निज-पुर (मोक्ष पद) प्राप्त करता है और शाश्वत सम्पदा (आत्मसम्पदा) को प्राप्त करता है।

अब सुनि भाई आठमों, विनय नाम तप धार।
विनय मूल जिनधर्म है, विनय सु पंच प्रकार।।1827।।

अर्थ :– हे भाई! अब विनय नाम का आठवाँ (अन्तरंग) तप सुनो और इसे धारण करो; क्योंकि जैनधर्म की मूल जड़ विनय है। इस विनय के पाँच भेद हैं।

दरशन ज्ञान चरित्र तप, ए चउ उत्तम होइ।
अर इन चउ धारका, उत्तम कहिये सोइ।।1828।।

अर्थ :– दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय, तप विनय और उपचार विनय। इन पाँच विनय में से प्रथम चार विनय उत्तम हैं; अत: इन चार विनय को धारण करने वाले ही उत्तम पुरुष होते हैं।

इन पांचनि को अति विनय, सो तप विनय प्रधान।
ताके भेद सुनूं भया, जाकरि पद निरवान।।1829।।

अर्थ :– इन पाँचों विनय को धारण कर अति विनम्र रहना, सो विनय नाम का प्रधान तप है। हे भाई! अब इनके भेद सुनो। इनको धारण करने से निर्वाण पद प्राप्त होता है।

दरसन कहिये तत्त्व की, श्रद्धा अति दृढ़रूप।
ज्ञान जानिवौ तत्त्व कौ, संशय रहित अनूप।।1830।।

अर्थ :– तत्त्वों की अत्यन्त दृढ़ रूप श्रद्धा होना दर्शन विनय है और संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय रहित तत्त्वों को विशेष रूप से जानना, सो ज्ञान विनय है।

चारित थिरता तत्त्व में, अति गलतानी होइ।
तप इच्छा कों रोकिवौ, तन मन दण्डन सोइ।।1831।।

अर्थ :– तत्त्वों में अत्यन्त दृढ़रूप से स्थिर होना चारित्र विनय है और शरीर एवं मन का मुण्डन करना तथा इच्छाओं को रोकना, तप नाम विनय है।

ए है चउ आराधना, इन बिन सिद्ध न कोय।
इनको अति आराधिवौ, विनयरूप तप सोय।।1832।।

अर्थ :– ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ही चार आराधानाएँ हैं। इन चार आराधनाओं को धारण किये बिना कोई भी जीव सिद्ध पर्याय को प्राप्त नहीं कर सकता। इन्हीं चारों आराधनाओं का अति विशेष रूप से आराधन करना विनय तप कहलाता है।

रतनत्रय–धारक जना, तप द्वादश विधि धार।
तिनकी अति सेवा करै, तन मन करि अविकार।।1833।।

सो उपचार कह्यौ विनय, ताके बहुत विभेद।
जिनवर जिन प्रतिमा बहुरि, जिनमन्दिर हर खेद।।1834।।

जिनवानी जिन तीरथा, मुनि आर्याव्रत धार।
श्रावक और सु श्राविका, समदृष्टि अविकार।।1835।।

इनको विनय जु धारिवौ, गुण अनुरागी होइ।
सो तम विनय कहावई, धारै उत्तम सोइ।।1836।।

अर्थ :– बारह प्रकार के तपों को विधिपूर्वक धारण करने वाले और रत्नत्रय को धारण करने

वाले जो साधु एवं श्रावक हैं, निर्विकार भावपूर्वक तन-मन से उनकी अति सेवा करना उपचार विनय है और इसके बहुत भेद हैं। संसार के खेद को हरण करने वाले जिनेन्द्र देव, जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर हैं। इनकी तथा जिनवाणी, जिनतीर्थ, मुनि, आर्यिका एवं शुद्ध सम्यग्दृष्टि श्रावक और श्राविका, गुणों के अनुरागी उत्तम पुरुष - इन सबकी उत्तम विनय करते हैं, वही विनय नाम का तप कहलाता है।

जैसे सेवक लोग अति, सेवें नरपति-द्वार।
तैसे चउविधि संघ कों, सेवै सौ तप धार।।1837।।

अर्थ :- जैसे राजा के द्वार पर जाकर सेवक लोग राजा की सेवा करते हैं, उसी प्रकार जो भव्य जन चतुर्विध संघ की सेवा करते हैं, वही विनय तप के धारक होते हैं।

आप थकी जो उत्तमा, तिन को दासा होइ।
सब सों समता भावई, विनयरूप तप सोइ।।1838।।

अर्थ :- जो अपने से उत्तम पुरुष हैं, उनके दास होकर रहना अर्थात् विनयपूर्वक उनकी सेवा करना और अन्य सब में समता भाव रखना ही विनय तप है।

व्रत बिन छोटे आपतैं, जे सम्यक्त निवास।
जिनधर्मी जिनदास हैं, तिनहूँ सों हित पास।।1839।।

अर्थ :- जो अव्रती हैं एवं अपने से छोटे हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि हैं, जिनधर्मी हैं और जिनेन्द्र देव के परमभक्त हैं; उनसे भी वात्सल्य भाव रखें।

धर्मराग जाके भयो, सो इह विनय धरेय।
पंच प्रकार विनय करिं, भव-सागर उतरेय।।1840।।

अर्थ :- धर्मानुरागी भव्य जन ही इस विनय तप को धारण करते हैं। पाँच प्रकार की इस विनय को धारण करने वाले ही भव-सागर से पार होते हैं।

अब सुनि वैयावृत्त जो नवमो तप सुखदाय।
जो उपचार करै सुधी, पर दुखहर अधिकाय।।1841।।

हरै सकल उपसर्ग जो, ज्ञानिनि के तप धार।
सुधी वृद्ध रोगीनि कों, करै सदा उपगार।।1842।।

अर्थ :- अब सुख देने वाला वैयावृत्य नाम का नववाँ तप सुनो। जो बुद्धिमान उपचार आदि करके दूसरों की पीड़ा को हरण करते हैं, सर्व उपसर्गों का निवारण करते हैं; विद्वान, वृद्ध एवं

रोगियों का उपचार आदि करके उपकार करते हैं, वे ज्ञानी ही इस वैयावृत्य तप के धारक होते हैं।

महिमादिक चाहै नहीं, निरापेक्ष व्रतधार।
वैयावृत्त करै भया, जिनवाणी अनुसार।।1843।।

अर्थ :– जिनके मन में अपनी महिमा आदि की वांछा नहीं है, जो निरपेक्ष भाव से व्रत धारण करते हैं और आगम की आज्ञा के अनुसार वैयावृत्य तप करते हैं (वे परम सुख को प्राप्त होते हैं)।

मुनि कों उचित मुनी करैं, टहल मुनिनि की धीर।
मुनि सेवासम नाहिं कोऊ, त्रिभुवन में गंभीर।।1844।।

अर्थ :– मुनिराज के योग्य जो वैयावृत्य है, वह मुनिराज भी आपस में करें। धैर्यवान श्रावक भी मुनिराजों की वैयावृत्य करें। इस तीन लोक में मुनियों की वैयावृत्य के सदृश और कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है।

श्रावक भोजन पथ्य दे, औषधि आश्रय आदि।
करै भक्ति साधूनि की, इह विधि है जु अनादि।।1845।।

अर्थ :– श्रावक, आहारदान देकर, पथ्य देकर और औषधि आदि देकर साधुओं की भक्ति (वैयावृत्य) करें। यह विधि अनादिकालीन है।

जो ध्यावै निजरूपकों, सर्व विकल्पा टारि।
सम दम भाव हि दृढ़ धरै, वैयावृत्त सो धारि।।1846।।

अर्थ :– जो सर्व विकल्पों को छोड़कर निज आत्मस्वरूप का ध्यान करते हैं और सम-दम भावों में दृढ़ रहते हैं, वही वैयावृत्य तप को धारण करते हैं।

सम कहिये समदृष्टिता, सकल जीव कों तुल्य।
देखैं ज्ञान विचार तैं, इह दृष्टि जु अतुल्य।।1847।।

अर्थ :– जो सर्व जीवों को समान मानते हैं, सबको सम (एक समान) दृष्टि से देखते हैं और जिसका ज्ञान सर्व जीवों को समदृष्टि से ही जानता है, वे समदृष्टि अतुल्य हैं।

दम कहिये मन इन्द्रियों, दतै महा तप धारि।
चित्त लगावै आपसों, सहै लोक की गारि।।1848।।

अर्थ :– जो दम अर्थात् मन और इन्द्रियों का दमन कर महा तप धारण करते हैं, अपना चित्त अपनी आत्मा में लगाते हैं और लोक-निन्दा आदि को शान्ति से सहन कर लेते हैं (वे ही अतुल्य सुख प्राप्त करते हैं)।

तजै लोक व्यवहार कों, धरै अलौकिक वृत्ति।
सो चउगति कों दे जला, पावैं महा निवृत्ति।।1849।।

सुनों सुबुद्धि कान धरि, दसमो तप स्वाध्याय।
सर्व तपनि मैं है सिरै, भाषै त्रिभुवनराय।।1850।।

अर्थ :– जो लौकिक व्यवहार का त्याग कर, अलौकिक वृत्ति को धारण करते हैं, वे चतुर्गति संसार को जला कर महानिवृत्ति (मोक्ष–पद) को प्राप्त कर लेते हैं। हे सुबुद्धिजन! अब दशवाँ स्वाध्याय तप कहते हैं, इसे कान लगा कर (एकाग्र चित्त) सुनो। त्रैलोक्याधिपति जिनेन्द्र देव ने कहा है कि यह तप सर्व तपों का सिरमौर है।

नाहिं चाहै जु महंतता, करवावे नहिं सेव।
चाह नहिं परभाव की, सेवै श्री जिनदेव।।1851।।

दुष्ट विकलपनि कों भया, जो नासन समरत्थ।
सो पावै स्वाध्याय कों, फल केवल परमत्थ।।1852।।

अर्थ :– जो महंतपने की वांछा नहीं करते, अन्य से अपनी सेवा नहीं करवाते और जिनेन्द्र देव की सेवा के अतिरिक्त अन्य पर–भावों को नहीं चाहते तथा जो दुष्ट विकल्पों को नाश करने में समर्थ हैं; वे ही भव्य स्वाध्याय तप के परमार्थ फल को प्राप्त करते हैं।

तत्त्व सुनिश्चय कारनें, करैं शुद्ध स्वाध्याय।
सिद्धि करैं निज ऋद्धि कों, सो आतम लवलाय।।1853।।

अर्थ :– जो तत्त्वों की सुनिश्चयता (सुदृढ़ श्रद्धा) हेतु शुद्ध मन से स्वाध्याय करते हैं, वे अपने आत्म–ऋद्धि की सिद्धि कर आत्मा में लवलीन हो जाते हैं।

आगम अध्यातम मई, जिनवर कौ सिद्धान्त।
ताहि भक्ति करि जो पढ़ै, सो स्वाध्याय सुकान्त।।1854।।

अर्थ :– जिनेन्द्र देव का सिद्धान्तरूप आगम अध्यात्ममय है। जो भव्य जन भक्ति–भाव से ऐसे आगम का पठन–चिन्तन करते हैं, वही उत्तम स्वाध्याय तप है।

केवल आतम अर्थ जो, करै सूत्र अभ्यास।
अपनी पूजा नहिं चहै, पावै तत्त्व अध्यास।।1855।।

अर्थ :– जो अपनी पूजा–प्रतिष्ठा नहीं चाहते, किन्तु आगम के अभ्यास से मात्र निजात्मा का ज्ञान करना चाहते हैं, वही तत्त्वों का सार प्राप्त करते हैं।

अपने कर्म कलंक के, काटन कों श्रुतपाठ।
करैं निरन्तर धर्मधी, नासै कर्म जु आठ।।1856।।

अर्थ :– जो धर्मबुद्धि जीव अपना कर्म–कलंक काटने के लिए निरन्तर स्वाध्याय करते हैं, वे आठ कर्मों का नाश कर देते हैं।

भेद पंच स्वाध्याय के, उपाध्याय भाषेहिं।
जै धारैं ते शांतघी, आतम रस चाखेहिं।।1857।।

अर्थ :– उपाध्याय परमेष्ठी ने स्वाध्याय के पाँच भेद कहे हैं। जो शान्त–चित्तधारी भव्य जन पाँचों प्रकार का स्वाध्याय करते हैं, वे ही निजात्म–रस का रसास्वादन कर पाते हैं।

कही वाचना पृच्छना, अनुप्रेक्षा गुरुदेव।
आमनाय पुनि धर्म को, उपदेशौ बहुभेव।।1858।।

अर्थ :– वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और बहुत भेद युक्त धर्मोपदेश – ये पाँच प्रकार के स्वाध्याय गुरुदेव ने कहे हैं।

ग्रन्थ बांचवौ वाचना, पृछना पूछनरीति।
बारंबार विचारिवौ, अनुप्रेक्षो परतीति।।1859।।

आमनाय कौ जानिवौ, जिनमारग की वीर।
धर्म–कथन करिवौ सदा, कहैं धर्मधर धीर।।1860।।

अर्थ :– ग्रन्थ पढ़ना वाचना है, प्रश्न पूछना पृच्छना है और पढ़े हुए का श्रद्धापूर्वक बार–बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। हे वीर! जिनागम के अनुसार बोलना आम्नाय है और धर्म–धुरन्धर धीर पुरुष जो धर्म का कथन करते हैं, वह धर्मोपदेश है।

निसप्रेही भवभांव तैं, जो स्वाध्याय करेय।
पावै निजज्ञान कों, भवसागर उतरेय।।1861।।

अर्थ :– जो निःस्पृह भाव से स्वाध्याय करते हैं, वे आत्मज्ञान को प्राप्त कर भव–सागर से पार हो जाते हैं।

जो सेवैं जिनसूत्र कों, जग अभिलाष धरेय।
गर्व धरै विद्या तनों, सो चउगति भरमेय।।1862।।

अर्थ :– जो जगत के विषयों की अभिलाषा से जिनागम की सेवा करते हैं और जो विद्या का अभिमान करते हैं, वे चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते हैं।

हम पंडित बहुश्रुत महा, जानैं सकल जु अर्थ।
हमहिं न सेवै मूढ़ धी, देखौ बड़ौ अनर्थ।।1863।।

इहै वासना जो धरै, सो नहिं पंडित कोइ।
आतम भावै जो रमैं, सो बुध पंडित होइ।।1864।।

अर्थ :– हम पंडित हैं, बहुश्रुत के महान ज्ञाता हैं, सर्वागम के अर्थ को जानने वाले हैं; फिर भी ये मूढ़ बुद्धि हमारी सेवा नहीं करते। देखो! ये कितना बड़ा अनर्थ है, ऐसी वासना जिनके मन में घर कर गई हैं, वे पंडित नहीं हैं; किन्तु जो आत्मभाव में रमण करते हैं, वही बुद्धिमान यथार्थत: पंडित हैं।

मान बढ़ाई कारनें, जे श्रुति सेवैं अंध।
ते नहिं पावैं तत्त्व कों, करै कर्म को बन्ध।।1865।।

अर्थ :– जो अन्धे मनुष्य ख्याति, पूजा, लाभ के लिए जिनवाणी की सेवा करते हैं; वे तत्त्व को प्राप्त नहीं कर पाते, मात्र कर्म-बन्ध ही करते हैं।

जैनसूत्र मद मान हर, ताकरि गर्वित होय।
ताहिं उपाय न दूसरौ, भ्रमैं जगत मैं सोय।।1866।।

अर्थ :– जैनागम तो मद को हरण करने वाला है, यदि आगम-ज्ञान प्राप्त कर कोई गर्व करने लगे तो उसका गर्व दूर करने का अन्य कोई उपाय नहीं है, वह नियमत: संसार-परिभ्रमण करेगा।

अमृत विषरूपी भयौ, जाकौ और इलाज।
कहौ, कहा जु बताइये, भाषैं पंडितराज।।1867।।

अर्थ :– विद्वज्जन कहते हैं कि यदि अमृत ही विषरूप हो जाये तो कहो, उसका अन्य दूसरा क्या इलाज है? जो उसे बताया जाये।

जो प्रतिकूल विमूढ़धी, साधर्मिनि तें होइ।
पढ़िवौ गुनिवौ तास के, हाल चाल सम जोइ।।1868।।

अर्थ :– ज्ञानी होकर भी जो मूढ़ बुद्धि साधर्मी जनों के प्रतिकूल चलता है, उसका अध्ययन करना एवं चिन्तन करना हलाहल विष के सदृश है।

राग द्वेष करि परिणम्यूं, करै असूत्र अभ्यास।
सो पावै नहिं धर्म कों, करै न कर्म विनास।।1869।।

अर्थ :– जो राग–द्वेष रूप परिणमन करता है और जैनागम के प्रतिकूल अन्य आगमों का अध्ययन करता है, वह कभी भी धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता और न कर्मनाश ही कर सकता है।

युद्ध कथा कामादिका, कुकथा चावै मूढ़।
लोक–रिझावन कारणें, सो पद लहै न गूढ़।।1870।।

अर्थ :– जो मूर्ख, लोक को रंजायमान करने के लिए युद्ध–कथा एवं काम–भोग आदि कथाओं में अनुराग रखते हैं, वे कभी गूढ़ (मोक्ष) पद को प्राप्त नहीं कर सकते।

जो जानै निजरूप कूं, अशुचि देह तैं भिन्न।
सो निकसै भवकूप तैं, भटके भाव अभिन्न।।1871।।

अर्थ :– जो इस अपवित्र शरीर से अपने आत्मस्वरूप को भिन्न मानते हैं और अपने अभिन्न स्वभाव में ही रमण करते हैं, वे भव–समुद्र से निकल जाते हैं।

जानैं निज पर भेद जो, आतमज्ञान प्रवीन।
सो स्वामी सब लोक कौ, सदा सांत–रस लीन।।1872।।

अर्थ :– आत्मज्ञान में प्रवीण जो जन निज और पर के भेद को जानते हैं, वे तीन लोक के स्वामी होकर निरन्तर शांत रस में लवलीन रहते हैं।

बिना निजातम जानिवै, ह्वै न कर्म को रोध।
आगम पाठ करै तऊ, नाहिं नाहि कछु बोध।।1873।।

अर्थ :– निजात्म तत्त्व के ज्ञान बिना कर्मों का संवर कदापि नहीं हो सकता। वे यद्यपि आगम का अभ्यास करते हैं तो भी उन्हें आत्मबोध नहीं होगा, नहीं होगा।

लखिवौ आतमभाव कौ, सो स्वाध्याय बखानि।
मुनि श्रावक दोऊनि कौ, यह परमारथ जानि।।1874।।

अर्थ :– मुनि और श्रावक दोनों के लिए परमार्थ यही है कि स्वाध्याय के अभ्यास से उन्हें अपने आत्मस्वरूप का यथायोग्य ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

अब सुनि ग्यारम तप महा, कायोत्सर्ग शिवदाय।
काया कौ उतसर्ग जो, निर्ममता ठहराय।।1875।।

अर्थ :– अब मोक्ष–प्रदाता कायोत्सर्ग नाम का ग्यारहवाँ तप सुनो। काय के उत्सर्ग का अर्थ है, शरीर से निर्ममता होना।

त्याग्यां बैठ्यौ देह कों, नहीं देह सों नेह।
लग्यौ रंग निजरूपसों, बरसै आनंद मेह।।1876।।

अर्थ :– जिसने शरीर का त्याग कर दिया है, अब जिसे शरीर से किंचित् भी राग नहीं है और जिस पर निज आत्मस्वरूप का रंग चढ़ गया है, उसके सदा मानो आनन्द रूप मेघ बरसता है।

छिदौ भिदौ ले जाहु कोउ, प्रलय होउ निजसंग।
यह काया हमरी नहीं, हम चेतन चिद अंग।।1877।।

अर्थ :– यह शरीर हमारा नहीं है। यह भले छिद जाओ, भिद जाओ, चाहे कोई इसे ले जाओ अथवा इसका नाश हो जावो; हम तो अपने चैतन्य चिद्रूप के साथ निवास करते हैं।

इहै भावना उर धरै, जल–मल–लिप्त शरीर।
महारोग पीड़ै तऊ, भजै न औषध धीर।।1878।।

अर्थ :– हृदय में सदा यह भावना भाना चाहिए कि यह शरीर जल (मूत्र) और मल (विष्टा) से लिप्त है अर्थात् मल–मूत्र का पिटारा है। जो धीर–वीर पुरुष हैं, वे महारोग हो जाने पर भी औषधि का सेवन नहीं करते हैं।

व्याधि तनों न उपाय को, शिव कौ करै उपाय।
इन्दी–विषय न सेवई, सेवै चेतनराय।।1879।।

अर्थ :– कल्याणेच्छु जन, शरीर से व्याधि दूर करने का उपाय नहीं करते हैं, अपितु मोक्ष प्राप्ति का ही उपाय करते हैं। इन्द्रिय–विषयों का सेवन नहीं करते हैं, अपितु अपने चैतन्य स्वभाव का ही सेवन करते हैं।

भयौ विरक्त जु भोग तैं, भोजन सज्जा आदि।
काहू की परवा नहीं, भैटौ ब्रह्म अनादि।।1880।।

अर्थ :– इस तप को तपने वाले नाना प्रकार से रसयुक्त भोजन से, बनाव – शृंगार से और भोगों से विरक्त रहते हैं और अपने अनादि–अनिधन ब्रह्मस्वरूप में लीन रहते हैं, अन्य किसी की भी चिन्ता नहीं करते हैं।

निजस्वरूप चितवन जग्यौ, भग्यौ भोग कौ भाव।
लग्यौ चित्त चेतन थकी प्रकट्यो परम प्रभाव।।1881।।

अर्थ :– जो निज–स्वरूप के चिन्तन में सदा जाग्रह रहते हैं, जिनके भोग–भाव नष्ट हो चुके हैं, चेतन स्वभाव में ही चित्त रम जाने से उनकी आत्मा में परम प्रभाव प्रकट हो जाता है।

शत्रु मित्र सहु सम गिनै, तजै राग अरु दोष।
बंध–मोक्ष तें रहित निज, रूप लख्यौ गुण कोष।।1882।।

अर्थ :– राग–द्वेष का त्याग कर देने से जिनकी दृष्टि शत्रु और मित्र में समान रहती है, वे बंध और मोक्ष के विकल्प से रहित होते हुए मात्र अपने गुण रूपी खजाने को ही देखते रहते हैं।

बेसरी छन्द

हे विरकत पुरुषनि कों भाई, इह कायोतसर्ग सुख–दाई।
अरु जे तन पाषन है लागा, ते पावै नहिं भाव विरागा।।1883।।

अर्थ :– हे भाई! विरक्त पुरुषों को यह कायोत्सर्ग तप बहुत सुख देने वाला है। जो मनुष्य, शरीर के पोषण में ही लगे रहते हैं, वे कभी वैराग्य भाव को प्राप्त नहीं हो सकते।

उपकरणादिकमें मन राखें, ते नहिं ज्ञान सुधारस चाखैं।
जग व्यवहार तजै नहिं जौलों, नहिं कायोत्सर्ग तप तौलों।।1884।।

अर्थ :– जिन साधुओं का मन पीछी–कमण्डलु आदि उपकरण में ही लगा रहता है, वे ज्ञानरूपी अमृत–रस का आस्वादन नहीं कर पाते। जब तक जगत व्यवहार का त्याग नहीं होता, तब तक कायोत्सर्ग तप का फल प्राप्त नहीं होगा।

नाम त्याग कौ है उतसर्गा, कंपैं नहिं जा है उपसर्गा।
तब कायोत्सर्गा तप पावै, निज चेतन सों चित्त लगावै।।1885।।

अर्थ :– त्याग का नाम उत्सर्ग है। जो अपने चित्त को चेतन स्वभाव में ही रमाते हैं और उपसर्ग आने पर जो कम्पायमान नहीं होते, वे ही कायोत्सर्ग तप को प्राप्त होते हैं।

एक दिवस द्वै दिवसा भाई, पाख मास ऊभौ हि रहाई।
चउमासी छहमासी वर्षा, रहै जु उभौ चित्त में हरषा।।1886।।

अर्थ :– हे भाई! चित्त में हर्षित होते हुए कोई एक दिन, दो दिन, एक पक्ष, एक मास, एक ऋतु, चार मास अथवा छह मास पर्यन्त खड़े रहकर कायोत्सर्ग तप करते हैं।

लहि निज ज्ञान भयौ अति पुष्टा, जाहि न घेरै विकलप दुष्टा।
सो कायोत्सर्ग तपधारी, पावै शिवपुर आनन्दकारी।।1887।।

अर्थ :– इस कायोत्सर्ग तप को धारण करने वाले भव्य जीवों के मन पर दुष्ट विकल्प घेरा नहीं डालते हैं, वे अपने आत्मज्ञान को पुष्ट करते हुए शाश्वत आनन्दकारी मोक्ष–पद को प्राप्त कर लेते हैं।

मुनि के यह तप पूरण होई, श्रावक के किंचित् तप जोई।
श्रावक हू नहिं देह-सनेही, जानो आतम तत्त्व विदेही।।1888।।

अर्थ :- मुनिजन इस तप को पूर्ण रूप से धारण करते हैं। श्रावक जन भी शरीर से राग छोड़कर इस तप को कुछ रूप में पालन करते हुए एवं आत्मतत्त्व पर श्रद्धा रखते हुए परम्परा से देह रहित (मोक्ष) पद को प्राप्त कर लेते हैं।

मरणतनों भय तिनके नाहीं, ते कायोत्सर्ग तपमाहीं।
अब सुनि बारम तप है ध्याना, जा परसाद लहै निज ज्ञाना।।1889।।

अर्थ :- जिनके मन में मरण का भी भय नहीं होता, वे ही इस कायोत्सर्ग तप का अनुष्ठान करते हैं। अब बारहवाँ ध्यान नाम का तप सुनो। इस ध्यान तप के प्रसाद से भव्य जीव आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं।

अन्तर एक मुहूरत काला, ह्वै एकाग्रचित व्रत पाला।
ताकौ नाम ध्यान है भाई, च्यारि भेद भाषै जिनराई।।1890।।

अर्थ :- किसी एक पदार्थ पर चित्त का एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एकाग्र रहना ध्यान नाम का तप है। जिनेन्द्र भगवान ने ध्यान के चार भेद कहे हैं।

द्वै प्रशस्त द्वै निंद्य बखानैं, श्रुत अनुसार मुनिन ने जानैं।
आरति रौद्र अशुभ ए दोई, धर्म शुकल अति उत्तम होई।।1891।।

अर्थ :- मुनिराजों ने आगम के अनुसार आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान के भेद से चार भेद कहे हैं। इनमें आर्त और रौद्र - ये दो ध्यान अप्रशस्त हैं तथा धर्म और शुक्ल - ये दो ध्यान प्रशस्त हैं।

आरति तीव्र कषायें होई, महातीव्र तैं रौद्र जु सोई।
मन्द कषायें धर्म सु ध्याना, जाहि न पावै जीव अज्ञाना।।1892।।

अर्थ :- तीव्र कषाय से आर्तध्यान होता है और महा तीव्र कषाय से रौद्र ध्यान होता है। मन्द कषाय से धर्मध्यान होता है, किन्तु अज्ञानी जन इस विषय को जानते नहीं हैं।

धर्मध्यानतैं शुकल सु ध्यान, शुकलध्यानतैं केवल ज्ञान।
रहित कषाय शुकल है सूधा, जा सम और न ध्यान प्रबूधा।।1893।।

अर्थ :- धर्मध्यान से शुक्लध्यान होता है और शुक्लध्यान से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। शुक्लध्यान के समान और कोई प्रबुद्ध ध्यान नहीं है। यह शुक्लध्यान कषायरहित जीवों के होता है।

चार ध्यान ए भाषैं भाई, तिनके सोला भेद कहाई।
ते तुम सुनहु चित्त धरि मित्रा, त्यागौ आरति रौद्र विचित्रा।।1894।।

अर्थ :– हे भाई! ये चार ध्यान कहे गये हैं। इन चार ध्यानों के सोलह भेद होते हैं। हे मित्र! तुम इन सोलह ध्यानों के लक्षण सुनो और उन्हें चित्त में धारण करो तथा उनमें से जो अति विचित्र हैं, ऐसे आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग करो।

आरति के चउ भेद जु खोटे, पशुगति दायक औगुण मोटे।
इष्टवियोग अनिष्टसंजोगा, पीरा चिंतन होई अजोगा।।1895।।

चौथो बंधनिदान कहावै, जो जीवनिको भव भरमावै।
वस्तु मनोहर को जु वियोगा, होय तबै धारै शठ सोगा।।1896।।

इष्ट वियोगारत सो जानों, दुखतरुवर कौ मूल बखानों।
दूजौ भेद अनिष्ट संजोगा, ताकौ भाव सुनौ भविलोगा।।1897।।

अर्थ :– आर्तध्यान के चार भेद हैं; जो खोटे हैं, बड़े-बड़े अवगुणों से भरे हैं और तिर्यंच गति के कारण हैं। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग और अत्यन्त अयोग्य पीड़ा-चिन्तन तथा निदान बन्ध नामक आर्तध्यान हैं।

ये ध्यान जीवों को नियमत: संसार-परिभ्रमण कराते हैं। इष्ट पदार्थ का वियोग हो जाने पर मूर्ख जन शोक करते हैं, इसे इष्ट वियोगज आर्तध्यान कहते हैं। यह ध्यान दुखरूपी वृक्ष का मूल कहा गया है। दूसरा भेद अनिष्ट संयोगज है। हे भव्य जीवों! इसके भाव को सुनो।

वस्तु अनिष्ट मिलै जब आई, शोच करै तब भोंदू भाई।
भववन में भरमैं शठमति सो, पाप बांधि पावै दुरगति सो।।1898।।

अर्थ :– मूर्ख जन अनिष्ट वस्तु का संयोग होने पर दुख या चिन्ता करते हैं, जिससे वे मूर्ख पाप का बंध कर दुर्गति जाते हैं और संसार रूपी वन में भटकते रहते हैं।

रोगनि करि पीड्या अति शठ जन, आरति धार जो अपने मन।
सो पीरा-चितवन है तीजौ, आरतध्यान सदा तजि दीजौ।।1899।।

अर्थ :– रोग जनित अत्यन्त पीड़ा उत्पन्न हो जाने पर मूर्ख जन अपने मन में जो आर्तध्यान करते हैं, उसे पीड़ा चिन्तन नाम का तीसरा आर्तध्यान कहते हैं। इसे सदा के लिए त्याग देना चाहिए।

चौथो आरति त्यागौ भाई, बंधनिदान महा दुखदाई।
जप तप व्रत करि चाहै भोगा, ते जग माहिं महाशठ लोगा।।1900।।

अर्थ :– निदान बन्ध नाम का चौथा आर्तध्यान महा दुखदाई है। हे भाई! इसका भी त्याग कर देना चाहिए; क्योंकि जो लोग जप, तप और व्रत करके भोगों की चाह करते हैं, इस संसार में वे ही महा मूर्ख हैं।

ए चारों आरति दुखदाई, भव–कारण भाषै जिनराई।
रौद्रध्यान के चारि विभेदा, अब सुनि जे दायक अतिखेदा।।1901।।

अर्थ :– ये चारों आर्तध्यान दुख देने वाले हैं और संसार के कारण हैं – ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। अब अत्यन्त दुख देने वाले रौद्रध्यान के चार भेद सुनो।

हिंसाकरि आनन्द ज मानै, हिंसानन्दी धर्म न जानै।
मृषावाद करि धरै अनंदा, मृषानन्द सो जियको फन्दा।।1902।।

अर्थ :– हिंसा करके आनन्द मानना हिंसानन्दी रौद्रध्यान है। हिंसानन्दी रौद्रध्यानी जीव धर्म को बिलकुल नहीं जानते। झूठ बोलकर आनन्द मानना मृषानन्दी रौद्रध्यान है। जीव को संसार में फँसाने के लिए यह रौद्रध्यान एक प्रकार का फन्दा ही है।

चोरी ते आनंद उपजावै, सो अघ चौर्यानन्द कहावै।
परिग्रह बढें होय आनन्दा, सो जानों जु परिग्रहानन्दा।।1903।।

अर्थ :– चोरी में आनन्द उत्पन्न कराने वाला पापरूप यह चौर्यानन्दी रौद्रध्यान है और परिग्रह की वृद्धि में आनन्द मानना परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान है।

ए चउ भेद हरें सुख साता, दुरमतिरूप उग्र दुखदाता।
पर विभूति की घटती चाहैं, अपनी संपत्ति देखि उमाहै।।1904।।

अर्थ :– परिग्रहानन्दी रौद्रध्यानी दूसरे की सम्पत्ति की क्षति चाहता है और अपनी सम्पत्ति की वृद्धि में उत्साहित होता है। ये चारों रौद्रध्यान सुख–शांति का हरण करने वाले हैं, दुर्मति रूप हैं, उग्र हैं और दुख ही देने वाले हैं।

रौद्रध्यान के लक्षण एई, त्यागैं धन्य धन्य हैं तेई।
आरति रुद्र ध्यान ए खोटा, इन करि उपजै पाप जु मोटा।।1905।।

अर्थ :– जो रौद्रध्यान का त्याग कर देते हैं, वे ही धन्य हैं, धन्य हैं। बहुत भयंकर पाप उत्पन्न कराने वाले ये आर्त–रौद्र नामक दोनों ध्यान अत्यन्त खोटे हैं।

दुखके मूल सुखनि के खोवा, ए पापी हैं जगत डुबोवा।
चउ आरति के पाये भाई, तिर्यग्गति कारण दुखदाई।।1906।।

अर्थ :– हे भाई! आर्तध्यान के ये चारों भेद दुख के मूल हैं, सुख का नाश करने वाले हैं, पाप–स्वरूप हैं, अत्यन्त दुखदाई जो तिर्यंच गति उसमें उत्पन्न कराने वाले हैं और संसार–समुद्र में डुबाने वाले हैं।

रौद्रध्यान के चार ए पाये, अधोलोकके दायक गाये।
अशुभध्यान ये दोय विरूपा, लगे जीव के विकलप रूपा।।1907।।

अर्थ :– रौद्रध्यान के चारों भेद नरक गति में ले जाने वाले हैं। आर्त और रौद्र – ये दोनों ध्यान जीवों को विकल्प उत्पन्न कराने वाले हैं और विरूप (खोटे) हैं।

नरक निगोद प्रदायक तेई, वसैं मिथ्यात धरा मैं एई।
कबहुं कदाचित् अणुव्रत ताई, काहू के रौद्र जु उपजाई।।1908।।

अर्थ :– ये दोनों ध्यान नरक–निगोद प्रदान करने वाले हैं और मिथ्यात्व रूपी भूमि में पटकने वाले हैं। यदि पुण्य योग से क्वचित्–कदाचित् कोई जीव अणुव्रत (बारह व्रत) धारण कर पंचम गुणस्थानवर्ती भी हो जाता है तो भी कभी–कभी किसी जीव को वहाँ भी रौद्रध्यान हो जाता है।

महावृत्त लों आरतध्याना, कबहुँक छट्ठे परमित थाना।
काहू के उपजें त्रय पाये, सप्तम ठाणे सर्व नसाये।।1909।।

अर्थ :– महाव्रत धारण कर लेने वाले छठवें गुणस्थानवर्ती किन्हीं–किन्हीं मुनिराज के आर्तध्यान के तीन पाये उत्पन्न हो जाते हैं। सातवें गुणस्थान में आर्तध्यान सर्वथा नहीं होता है।

भोगारति उपजै नहिं भाई, जो उपजै तो मुनि न कहाई।
अब सुन धर्मध्यान की बातें, जे सहु पाप पंथ कों घातें।।1910।।

अर्थ :– छठवें गुणस्थान में निदानबन्ध (भोगारति) नाम का आर्तध्यान उत्पन्न नहीं होता और यदि उत्पन्न हो जावे तो वे मुनिराज छठवें गुणस्थान में नहीं रह सकते। हे भाई! अब धर्मध्यान का विवेचन सुनो। जो सर्व पाप–मार्ग का नाश करने वाला है।

धर्म जु वस्तु स्वभाव कहावै, पंडितजन तासों लब लावै।
क्षमा आदि दशलक्षण धर्मा, जीवदया बिनु कटई न कर्मा।।1911।।

अर्थ :– वस्तु–स्वभाव को धर्म कहते हैं। विद्वज्जनों की विशेष प्रीति इसी से होती है। क्षमा आदि दशलक्षण धर्म भी कहे गये हैं। जीव–दया भी धर्म है। इसके बिना कर्म नहीं कट सकते हैं।

इत्यादिक जिन–भाषित जेई, धारैं धर्म धीर हैं तेई।
धर्म विषैं एकाग्र सुचिता, विषय–भोगसे अतिहि विरत्ता।।1912।।

अर्थ :– जिनेन्द्र देव द्वारा कहे गये और भी धर्म हैं। उनको धारण करने वाले जो धीर पुरुष हैं, वे ही इस धर्मध्यान को धारण करते हैं। जो विषय-भोगों से अत्यन्त विरक्त होते हैं, उनका ही चित्त धर्मध्यान में एकाग्र होता है।

जे वैराग्य परायण ज्ञानी, धर्मध्यानके हों हिं सुध्यानी।
जो विशुद्धभावनि में लागा, जिनतें राग दोष सहु भागा।।1913।।

अर्थ :– जो वैराग्य-परायण हैं और ज्ञानी हैं, वे ही उत्तम धर्मध्यान के स्वामी होते हैं। जिनका मन विशुद्ध भावना में संलग्न रहता है, उनसे राग-द्वेष दूर भाग जाते हैं।

एक अवस्था अंतर बाहिर, निरविकल्प निज निधि के माहिर।
ध्यावै आमतभाव सुधीरा, ह्वै एकाग्रमना वर वीरा।।1914।।

अर्थ :– जिनकी बाह्याभ्यान्तर में एक ही अवस्था होती है, जो निर्विकल्प हैं और जो स्व-निधि के ही स्वामी हैं, वे ही धीर पुरुष आत्मभाव का ध्यान करते हैं और उन्हीं श्रेष्ठ पुरुषों का चित्त धर्मध्यान में एकाग्र होता है।

जे निजरूपा हैं समभावा, ममत वितीता जग निरदावा।
इन्द्री जीति भये जु जितिन्द्री, तिनकों ध्यानी कहैं अतिन्द्री।।1915।।

अर्थ :– जो निज-भाव में लीन हैं, समता-भावी हैं, जो निर्ममत्व हैं, जगत से निरपेक्ष हैं और इन्द्रियों को जीत कर जो जितेन्द्रिय हो गये हैं; वे ही उत्तम धर्मध्यानी हैं। ऐसा जितेन्द्रियों ने कहा है।

चितवन्ता चेतन गुण-धामा, ध्यानहिं लीना आतमरामा।
निरमोहा निरद्वन्द सदा ही, चित में कालिम नाहिं कदा ही।।1916।।

अर्थ :– जो निर्मोही हैं, निर्द्वन्द्व हैं एवं जिनकी चित्त में कभी कालिमा का प्रवेश नहीं होता और जो चैतन्य गुण के स्थान-स्वरूप आत्मा का ही चिन्तवन करते हैं, वे भव्य जीव ही ध्यान में लीन हो पाते हैं।

जेहि अनुभवैं निज चित धन कों, रोकैं मन कों सौखें तन कों।
आनन्दी निज ज्ञानस्वरूपा, तिनके धर्म रु ध्यान निरूपा।।1917।।

अर्थ :– जो अपने चैतन्यरूपी धन का अनुभव करते हैं, मन का निरोध करते हैं, तप आदि के द्वारा शरीर का शोषण करते हैं और अपने ज्ञानस्वरूप में ही सदा आनन्दित रहते हैं, उन्हीं भव्य जीवों को अनुपम धर्मध्यान की प्राप्ति होती है।

मैत्री मुदिता करुणा भाई, अर मध्यस्थ महासुखदाई।
एहि भावना भावै जोई, धर्मध्यान कौ ध्याता सोई।।1918।।

अर्थ :– जो धर्मध्यान के ध्याता होते हैं; उन्हें महासुख देने वाली मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ – इन चारों भावनाओं को भाते रहना चाहिए।

सर्व जीव सों मैत्रीभावा, गुणी देखि चित मैं हरषावा।
दुखी देखि करुणा उर आनै, लखि विपरीत राग नहिं ठानैं।।1919।।

द्वेष जू नाहिं धरै जु महन्ता, है मध्यस्थ महा गुणवन्ता।
बहुरि धर्म के चारि जु पाया, ते सम्यक्दृष्टिनि कों भाया।।1920।।

अर्थ :– सर्व जीवों के प्रति मैत्री–भाव रखना मैत्री भावना है। गुणी जनों को देख कर चित्त में हर्ष होना प्रमोद भावना है। दुखी जनों को देखकर हृदय में करुणाभाव उत्पन्न होना कारुण्य भावना है। महा गुणवन्त और महन्त पुरुष विपरीत वृत्ति वाले के प्रति भी राग–द्वेष नहीं करते, यह माध्यस्थ भावना है। धर्मध्यान के चारों पाये सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होते हैं।

आज्ञाविचय कहावै जोई, श्री जिनवर ने भाष्यौ सोई।
ताकी दृढ़ परतीति करै जो, संशय विभ्रम मोह हरै जो।।1921।।

अर्थ :– जो संशय, विभ्रम और मोह का त्याग कर जिनेन्द्र कथित वाणी में दृढ़ श्रद्धा रखते हैं, उसे जिनवर ने आज्ञाविचय नाम का प्रथम पाया कहा है।

कर्म नाश कौ उद्यम ठानै, रागद्वेष की परणति भानै।
सो अपायविचयो है दूजौ, तिरै जगतथी धारै तू जौ।।1922।।

अर्थ :– राग–द्वेष की परिणति को दूर कर, कर्म–नाश करने का उद्यम करना अपाय विचय नाम का दूसरा पाया है। यदि तू इस अपायविचय धर्मध्यान को धारण करता है तो नियमत: इस जगत से तिर जावेगा।

करै उपाय शुद्ध भावनि कौ, अर निरवाण पुरी पावनिकौ।
तीजौ नाम विपाकविचय है, भव–भावनि तैं भिन्न रहे हैं।।1923।।

अर्थ :– संसार–जन्य भावों से भिन्न रहते हुए शुद्ध भावों की प्राप्ति का और निर्वाण प्राप्ति का उपाय करना तीसरा विपाकविचय नाम का धर्मध्यान है।

शुभ के उदय संपदा आवै, अशुभ उदय आपद बहु पावै।
दोऊ जानै तुल्य सदा ही, हर्ष विषाद धरै न कदा ही।।1924।।

अर्थ :– शुभोदय से सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं और अशुभोदय से बहुत आपत्तियाँ आती हैं। इन परिस्थितियों में क्रमश: हर्ष–विषाद न करते हुए दोनों को सदा ही तुल्य मानना यह विपाकविचय धर्मध्यान का फल है।

पुनि संठाणविचय है चौथौ, सर्व जगत कों जानैं थोथौ।
तीन लोक को जानि सरूपा, जिनमारग अनुसार अनूपा।।1925।।

अर्थ :– सर्व जगत को सार–हीन मानते हुए अनुपम जिनागम के अनुसार तीन लोक का स्वरूप जानना चौथा संस्थानविचय नाम का धर्मध्यान है।

सबकौ भूषण चेतनराया, चैतन सों नहिं दूजौ भाया।
सर्व लोक सूं छांड़ि जु प्रीती, चेतन की धारै परतीती।।1926।।

अर्थ :– हे भाई! चेतन रूपी राजा सबके आभूषण–सदृश है। चेतन के समान और कोई दूसरा नहीं है; अत: सर्व लोक की प्रीति छोड़ कर, मात्र अपने चैतन्य–स्वभाव की श्रद्धा करना चाहिए।

चेतन भावनि मैं लौ लावै, अपनों रूप आप में ध्यावै।
ए हैं धरमध्यान के भेदा, सकल–प्रदायक पाप–उछेदा।।1927।।

अर्थ :– जब अपने निज चैतन्य–भावों के प्रति प्रीति हो जाती है, तब ही आत्मस्वरूप का ध्यान होता है। धर्मध्यान के ये चारों भेद शुक्लध्यान को प्रदान करने वाले और पापों का उच्छेद करने वाले हैं।

चौथे गुणठाणें होइ धर्मा, संपूरण गुणठाणें परमा।
धर्मध्यान कें चउ गुणठाणा, ते देवाधिदेव ने जाणा।।1928।।

अर्थ :– धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है और सप्तम गुणस्थान तक रहता है। इस प्रकार धर्मध्यान के चार गुणस्थान हैं। देवाधिदेव जिनेन्द्र देव ने कहा है कि सम्पूर्ण धर्मध्यान सप्तम गुणस्थान में होता है।

अहमिन्द्रादिक पद फल ताकौ, वरणे जाहिं न अति गुण जाकौ।
कारण सुकल ध्यान कौ एही, धर्मध्यान तैं सुकल जु लेही।।1929।।

अर्थ :– धर्मध्यान के सर्व गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता है। अहमिन्द्रादि पद प्राप्त होना, धर्मध्यान का फल है। धर्मध्यान ही शुक्लध्यान का कारण है। धर्मध्यान से ही शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है।

मुनि श्रावक दोऊ के गाया, धर्मध्यान सो नहीं उपाया।
मुनि को पूरणरूप प्रवानों, श्रावक के कछु नून बखानों।।1930।।

अर्थ :– मुनि और श्रावक दोनों के धर्मध्यान होता है। श्रावक के धर्मध्यान के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। मुनिराजों के पूर्ण धर्मध्यान हो सकता है, किन्तु श्रावक के मुनिराजों से कुछ न्यून धर्मध्यान होता है।

मुनि के अति ही निश्चलताई, श्रावक के किंचित् थिरताई।
परिग्रह चंचलता कौ मूला, जातैं धर्म न होय सथूला।।1931।।

अर्थ :– धर्मध्यान में मुनिराजों का चित्त तो एकदम निश्चल हो सकता है, किन्तु श्रावक का मन किंचित् ही स्थिर होता है। चित्त की चंचलता में परिग्रह मूल कारण है, जिनके पास भी परिग्रह है, उन्हें निश्चल धर्मध्यान नहीं हो सकता है।

पै तृष्णा छांड़ी बहुतेरी, करि मरजादा परिग्रह केरी।
तातैं धर्मध्यान के पात्रा, श्रवक हू जाणों गुणगात्रा।।1932।।

अर्थ :– गुण ही जिनका शरीर है, ऐसे जिन श्रावकों ने बहुत अधिक परिग्रह से तृष्णा छोड़कर परिग्रह की मर्यादा कर ली है; वे श्रावक धर्मध्यान के पात्र हैं।

धर्मध्यान के च्यारि स्वरूपा और हु श्रीगुरु कहे अनूपा।
इक पिंडस्थ पदस्थ द्वितीया, रूपस्था तीजौ गनि लीया।।1933।।
रूपातीत चतुर्थम भेदा, हद्द धर्म की पाप–उछेदा।
इनके भेद सुनौ मन लाये, जाकरि सुकलध्यान कूं पाये।।1934।।

अर्थ :– आचार्यश्री ने धर्मध्यान के अनुपम चार स्वरूप (भेद) और कहे हैं। पहला पिण्डस्थ ध्यान, दूसरा पदस्थ ध्यान, तीसरा रूपस्थ ध्यान और चौथा रूपातीत ध्यान। पाप का नाश करने वाले धर्मध्यान की यह अन्तिम सीमा है। जिनसे शुक्लध्यान की प्राप्ति की जाती है, ऐसे इन चारों ध्यानों को एकाग्रचित्त से सुनो।

पिंड माहिं सब लोक विभूती, चितवै ज्ञानी निज अनुभूती।
पिंडलोक कौ राजा चेतन, जाहि स्पर्श सकै न अचेतन।।1935।।

अर्थ :– पिण्डस्थ ध्यान में ज्ञानी पुरुष अपनी आत्मानुभूति को ही लोक की सर्व विभूति मान कर चिन्तवन करता है। पिण्डलोक का राजा चेतन है, कोई भी अचेतन पदार्थ इसका स्पर्श नहीं कर सकता।

ताकौ ध्यान करै जो ध्यानी, सो होवै केवल निज ज्ञानी।
बहुरि पदस्थ ध्यान बुध धारै, जिन भाषित पद मन्त्र विचारे।।1936।।

अर्थ :– जो ध्यानी अपने चैतन्य स्वरूप का ध्यान करते हैं, वे निज ज्ञानी केवली हो जाते हैं। पिण्डस्थ ध्यान के बाद बुद्धिमान जन जिनेन्द्र कथित मन्त्र पदों का विचार करते हुए पदस्थ ध्यान करते हैं।

पंच परमगुरु मंत्र अनादी, ध्यावै धीर त्याग क्रोधादी।
णमोकार के अक्षर भाई, पैंतीसी, पूरण सुख दाई।।1937।।

अर्थ :– पंच परमगुरु (णमोकार) मन्त्र अनादि है, धीर पुरुष क्रोधादि विकारी भावों का त्याग कर इस महामंत्र का ध्यान करते हैं। हे भाई! णमोकार में पैंतीस अक्षर हैं, जो पूर्ण सुख देनेवाले हैं।

षोड़श अक्षर मंत्र महंता, पंच परमगुरु नाम कहन्ता।
मंत्र षडाक्षर अ र हं त सि द्धा, अ सि आ उ सा पंच प्रबुद्धा।।1938।।

अर्थ :– पंचपरमगुरुओं का नाम कहनेवाला सोलह अक्षरों का महान मन्त्र है। 'अरहंत सिद्ध' – यह छह अक्षरों का मंत्र है और 'अ, सि, आ, उ, सा' – यह पाँच अक्षरों का प्रबुद्ध मंत्र है।

णमोकार के पैंतिस अक्षर, प्रसिद्ध छै अरु षोडस अक्षर।
अरहंत सिद्ध आयरिय उवझाया, साहू जपें ते अंक गिनाया।।1939।।

अर्थ :– णमोकार मन्त्र के पैंतीस अक्षर तो प्रसिद्ध ही हैं और ''अरिहंत सिद्ध आइरिय-उवझाय साहू'' – इसमें सोलह अक्षर होने से सोलह अंकों वाला मंत्र है।

चउ अक्षर अ र हं त जपौ जू, सिद्ध नाम उर माहिं थपौ जू।
द्वे अक्षर भूलौ मतिं भाई, सिद्ध सिद्ध यह जाप कराई।।1940।।

अर्थ :– 'अ र हं त' – ये चार अक्षर का मंत्र जपें, 'सिद्ध' – नाम हृदय में स्थापित करें। हे भाई! दो अक्षर मत भूलो। सिद्ध-सिद्ध यह जाप करते रहने चाहिए।

मन्त्र इकाक्षर है ओंकारा, ब्रह्मबीज इह प्रणव अपारा।
पंच परमपद या अक्षर में, याहि ध्यान जग मैं नहिं भरमैं।।1941।।

अर्थ :– ॐकार एकाक्षर मन्त्र है, ब्रह्मबीज है और अनुपम प्रणव है। इस ॐ अक्षर में पंच परमेष्ठी निहित है। इस ॐ का ध्यान करने वाला संसार में परिभ्रमण नहीं करता है।

शुक्लरूप अति उज्जल सजला, ध्यावै प्रणवातै है विमला।
सौऽहं सौऽहं अजपा जापा, हरै सन्त के सब सन्तापा।।1942।।

अर्थ :– यह ॐ अक्षर शुक्ल (श्वेत) रूप है, अति उज्ज्वल है और सजल है। इस प्रणव बीज का ध्यान करने से आत्मा निर्मल (मल रहित) हो जाती है। सोऽहं–सोऽहं – यह अजपा जाप्य है अर्थात् इसकी केवल ध्वनि लगानी होती है। इसकी गिनती नहीं करनी होती। यह सोऽहं की ध्वनि संतों के भी सर्व क्लेश हरण कर लेती है।

इह सुर सबही प्राणीगत के, होवै श्वास उश्वास सबनिके।
पै नहिं याकौ भेद जु पावै, तातैं भोंदू भव भरमावै।।1943।।

अर्थ :– यह स्वर, श्वास और उच्छ्वास रूप में जगत के सर्व प्राणियों के होता है, किन्तु जो मूर्ख इसका रहस्य नहीं समझते, वे भव–भव में भ्रमण करते हैं।

जो यह नाद सुनैं वरवीरा, पावै शुक्लध्यान गुणधीरा।
उज्ज्वलरूप दाय ए अंका, ध्यावै सो नासै अघ–पंका।।1944।।

अर्थ :– जो श्रेष्ठ वीर पुरुष अपने अन्त:करण में इस नाद को सुनने लगते हैं, वे गुणधीर शुक्लध्यान को प्राप्त कर लेते हैं। यह अंक अपना उज्ज्वल स्वरूप देने वाला है। जो इसका ध्यान करते हैं, उनका पापरूपी कीचड़ नाश हो जाता है।

जिनवर सो नहिं देव जु कोई, अजपा सो नहिं जाप सु होई।
मंत्र अनेक जिनागम गाये, ते ध्यानी पुरुषनि ने ध्याये।।1945।।

अर्थ :– जिनेन्द्र देव जैसा कोई देव नहीं है और अजपा (मात्र अनुभव गोचर होने वाले अपने आत्मस्वभाव) के सदृश कोई दूसरा जाप्य नहीं है। जिनागम में अनेक मन्त्र कहे गये हैं और अनेक महापुरुषों ने उनका ध्यान भी किया है।

सब में पंच परमगुरु नामा, पंच इष्ट बिन मंत्र निकामा।
मन्त्राक्षरमाला जो ध्यावैं, नाम पदस्थ ध्यान सो पावै।।1946।।

अर्थ :– सर्व मन्त्रों में पंच परमेष्ठी के नाम होते हैं। इष्ट फल देने वाले पंच परमेष्ठियों के नाम बिना जितने मन्त्र हैं, वे सब निष्काम हैं अर्थात् निष्प्रयोजनभूत हैं। अक्षरमाला मन्त्र का जो ध्यान किया जाता है, वही पदस्थ ध्यान कहलाता है।

अब सुनि तीजौ भेद जु भाई, है रूपस्थ महासुखदाई।
कृत्रिम और अकृत्रिम मूरति, जिनवर की ध्यावै शुभ सूरति।।1947।।

अर्थ :– हे भाई! अब महासुख देने वाला रूपस्थ नाम का तीसरा भेद सुनो। जो शुभाकृति वाले कृत्रिम अथवा अकृत्रिम जिनमूर्तियों का ध्यान करते हैं, वह रूपस्थ ध्यान है।

जिनवर कौ साकार स्वरूपा, तेरम गुणठाणें जु अनूपा।
अतिशय प्रतिहार्य धर स्वामी, धरै अनंत चतुष्टय नामी।।1948।।

अर्थ :– अनन्त चतुष्ट के स्वामी, अतिशय रूप अष्ट प्रतिहार्य को धारण करने वाले, तेरहवें गुणस्थान में वर्तन करने वाले और साकार स्वरूप को धारण करने वाले जिनेन्द्र देव हैं।

समवशरण शोभित जिनदेवा, ताहि चितारै उर धरि सेवा।
पुनि तजि रूप रंग गुणवाना, ध्यावै चौथौ भेद सुजाना।।1949।।

अर्थ :– समवसरण में शोभायमान जिनेन्द्र देव को हृदय में धारण कर ध्यान करना रूपस्थ ध्यान है और रूप, रंग एवं आकृति आदि को छोड़कर मात्र गुणों का ध्यान करना चौथा रूपातीत ध्यान है।

रूपातीत समान न कोई, धर्मध्यान कौ भेद जु होई।
ध्यावै सिद्धरूप अतिशुद्धा, निराकार निरलेप प्रबुद्धा।।1950।।

अर्थ :– धर्मध्यान के चतुर्थ भेद रूप इस रूपातीत ध्यान के समान और कोई ध्यान नहीं है। निराकार, निर्लेप, प्रकृष्ट ध्यान के धनी, अत्यन्त शुद्ध सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करना भी रूपातीत ध्यान है।

पुरुषाकार अरूप गुसांई, निरविकार निरदूषण सांई।
वसुगुण आदि अनंत गुणकार, अवगुण–रहित अनंत प्रभाधर।।1951।।
लोकशिखर परमेसुर राजै, केवलरूप अनूप विराजै।
जिनकों उर–अन्तर जे ध्यावै, रूपातीत ध्यान ते पावै।।1952।।
सिद्ध समान आपकों देखै, निश्चयनय कछु भेद न पेखै।
व्यवहारे प्रभु के हम दासा, निश्चय शुद्ध बुद्ध अविनाशा।।1953।।

अर्थ :– जो पुरुषाकार हैं, अरूपी हैं, निर्विकार हैं, दूषण रहित हैं, अष्ट गुण युक्त हैं, अनन्त गुणों के भण्डार हैं, ज्ञान की अनन्त प्रभा को धारण करने वाले हैं और सर्व अवगुणों से रहित हैं, जो परमेश्वर लोक शिखर पर शोभायमान हैं, अनुपम हैं और केवलज्ञान स्वरूप हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी का जो अपने अन्त:करण में ध्यान करते हैं; वे ही इस रूपातीत ध्यान को प्राप्त हो जाते हैं। हम व्यवहार नय से भगवान जिनेन्द्र देव के दास हैं किन्तु निश्चय नय से शुद्ध, बुद्ध और अविनाशी स्वभाव वाले हैं।

ए चारूं ध्यावैं जो धर्मा, ते हि पिछानै श्रुत कौ मर्मा।
धर्मध्यान चहुं गति मैं होई, सम्यक बिन पावै नहिं कोई।।1954।।

अर्थ :– जो धर्मध्यान के इन चारों भेदों का भली प्रकार ध्यान करते हैं, वे ही जिनागम के मर्म को पहचानते हैं। धर्मध्यान चारों गति के जीवों को हो सकता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीवों को ही होता है।

छट्ठम सप्तम मुनि के ठाणा, पंचम ठाणें श्रावक जाणा।
चौथे अव्रत सम्यकज्ञानी, तेऊ धर्मध्यान के ध्यानी।।1955।।

अर्थ :– छठे–सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती सम्यग्ज्ञानी जीव धर्मध्यान के स्वामी हैं।

चौथे सों ते सप्तम ताई, धर्मध्यान कों कहैं गुसांई।
धर्मध्यान परभाव सुज्ञानी, नासै दस प्रकृति निज ध्यानी।।1956।।

अर्थ :– जिनेन्द्र देव ने चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम गुणस्थान पर्यन्त धर्मध्यान कहा है। धर्मध्यान में लीन सम्यग्ज्ञानी जीव के धर्मध्यान के प्रभाव से दस प्रकृतियों का नाश हो जाता है।

प्रथम चौकरी तीन मिथ्याता, सुर नारक अर आयु बिख्याता।
अष्टम सों चौदम लों सुकला, सुकल समान न कोई विमला।।1957।।

अर्थ :– अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु – इन दस प्रकृतियों का नाश हो जाता है। शुक्लध्यान के समान विमल और कोई ध्यान नहीं है। यह शुक्लध्यान अष्टम गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त होता है।

शुक्लध्यान मुनिराज हि ध्यावै, शुकल करी केवलपद पावैं।
शुकल नसावैं प्रकृति समस्ता, करै शुकल रागादि विध्वस्ता।।1958।।

अर्थ :– इस शुक्लध्यान के स्वामी मुनिराज ही हैं। यह शुक्लध्यान सर्व कर्म प्रकृतियों का नाश करता है, रागादि भावों का विध्वंस करता है और केवलज्ञान पद को प्राप्त कराता है।

जै जिन आतम सों लव लावैं शुकल तिनों के श्रीगुरु गावैं।
शुक्लध्यान के चारि जु पाये, ते सर्वज्ञदेव ने गाये।।1959।।

अर्थ :– आचार्य देव ने कहा है कि जिनका ध्यान आत्मा में ही लगा रहता है, उन्हें शुक्लध्यान होता है। सर्वज्ञ देव ने शुक्लध्यान के चार पाये कहे हैं।

द्वै शुकला द्वै सुकल जु पर्मा, जानै श्री जिनवर सहु मर्मा।
प्रथम पृथक्त वितर्कविचारा, पृथक नाम है भिन्न प्रचारा।।1960।।

अर्थ :– शुक्लध्यान के दो पाये छद्मस्थों के होते हैं और शेष दो पाये केवली के होते हैं, अत: उनका मर्म जिनेन्द्र देव ही जानते हैं। शुक्लध्यान का प्रथम पाया पृथक्त्ववितर्क वीचार नाम का है। पृथक् नाम भिन्न का है।

भिन्न भिन्न निज भाव विचारै, गुण पर्याय स्वभाव निहारै।
नाम वितर्क सूत्र कौ होई, श्रुति अनुसार लखै निज सोई।।1961।।

अर्थ :– अपने आत्मभावों का भिन्न-भिन्न प्रकार से चिन्तन करना, गुण एवं पर्यायों के स्वभाव का ध्यान करना। वितर्क नाम सूत्र का है। अत: श्रुत के अनुसार अपनी आत्मा का चिन्तन करना अर्थात् ध्यान करना।

भावथकी भावांतर भावै, पहलो शुकल नाम सो पावै।
दूजौ है एकत्ववितर्का, अवीचार अगणित दुति अर्का।।1962।।

अर्थ :– जो भाव से भावान्तर का ध्यान करता है, वह शुक्लध्यान का प्रथम पाया है। एकत्ववितर्क अवीचार नाम का दूसरा पाया है। इसकी प्रभा (क्रान्ति) अगणित सूर्यों की प्रभा के सदृश होती है।

भयो एकता में लवलीना, एकीभाव प्रकट जिन कीना।
श्रुत अनुसार भयौ अविचारी, भेदभाव परिणति सब टारी।।1963।।

अर्थ :– दूसरे पाये का ध्यान करने वाले मुनिराज एकत्व को प्रकट करके उस एकत्व में ही लीन रहते हैं। श्रुत का अवलम्बन भी नहीं लेते, अत: अविचारी हैं। भेद-भाव की भी सब परिणति यहाँ समाप्त हो जाती है।

तीजौ सूक्षम किरियाधारी, सूक्षम जोग करै अविकारी।
चौथो जोग रहित निहकिरिया, जाहि ध्याय साधू भव तिरिया।।1964।।

अर्थ :– तीसरा पाया सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का है। यह पाया सूक्ष्म योग को भी अविकारी कर देता है। अर्थात् योग निरोध करता है। चौथा पाया व्युपरतक्रियानिवृत्ति नाम का है। यह ध्यान योग रहित केवली के होता है और इसका ध्यान करने वाले तत्क्षण मोक्ष चले जाते हैं।

अष्टम ठाणें पहलो पायो, बारम ठाणैं दूजौ गायौ।
तीजौ तेरम ठाणें जानों, चौथो चौदम ठाणें मानों।।1965।।

अर्थ :– आठवें गुणस्थान में शुक्लध्यान का प्रथम पाया होता है, बारहवें गुणस्थान तक दूसरा पाया जाता है, तेरहवें में तीसरा पाया और चौदहवें गुणस्थान में चतुर्थ पाया होता है।

इनके भेद सुनों धरिभावा, जिन करि नासै सकल विभावा।
होंहिं पवित्र भाव अधिकाई, जे अब तक हुए नहिं भाई।।1966।।

अर्थ :– जो शुक्लध्यान के उपर्युक्त चारों पायों को ध्यान से सुनते हैं, उनके सर्व विभाव नाश हो जाते हैं और उनके ऐसे पवित्र भाव हो जाते हैं, जैसे पूर्व में कभी नहीं हुए थे।

भाव अनन्त ज्ञान सुख आदी, तिनको धारक वस्तु अनादी।
लिये अनन्ता शक्ति महन्ती, धरै विभूति अनन्तानन्ती।।1967।।

अर्थ :– यह आत्मा नाम की वस्तु अनादि से है, ज्ञान एवं सुख आदि अनन्त गुणों की धारी है, अनन्त शक्ति युक्त है और अनन्तानन्त विभूति को धारण करने वाली है।

अपनी आप माहिं अनुभूति, अति अनंतता अतुल प्रभूती।
अपने भाव तेहि निज अर्था और सबै रागादि अनर्था।।1968।।

अर्थ :– अनन्त और अतुल प्रभुत्व को धारण करने वाली निज स्वभाव की अनुभूति है। अपनी आत्मा के निज भाव ही प्रयोजनभूत हैं और सब रागादि भाव अनर्थ की जड़ हैं।

अपनो अर्थ आपमें जानै, आतम सत्ता आप पिछानै।
इक गुण तैं दूजौ गुण जावै, ज्ञान थकी आनन्द बढ़ावै।।1969।।

अर्थ :– अपनी आत्मसत्ता की श्रद्धा दृढ़ होने से अपने प्रयोजन की सिद्धि अपने आप में ही जानते हैं। गुण से गुणान्तर का ध्यान करते हैं और आत्मज्ञान से अपने आनन्द की वृद्धि करते हैं।

गुण अनन्त में लीलाधारी, सो पृथक्त वीतर्क विचारी।
अर्थ थकी अर्थांतर जावै, निज गुण सत्ता माहिं रमावै।।1970।।

अर्थ :– अपने अनन्त गुणों में ध्यान द्वारा क्रीड़ा करना पृथक्त्व वितर्क विचार है। अर्थ से अर्थान्तर पर जाते हुए भी अपने गुणों की सत्ता में रमण (ध्यान) करते हैं।

योग थकी योगान्तर गमना, राग द्वेष मोहादिक वमना।
शब्द थकी शब्दान्तर सोई, ध्यावै शब्द–रहित ह्वै सोई।।1971।।

अर्थ :– राग, द्वेष और मोह का वमन कर योग से योगान्तर और शब्द से शब्दान्तर पर जाते हुए ही शब्द रहित होकर ध्यान करते हैं।

व्यंजन नाम शुद्ध परजाया, जाकौ नाश न कबहुँ बताया।
वस्तु शक्ति गुण शक्ति अनन्ती, तेई पर्यय जानि महन्ती।।1972।।

अर्थ :– शुद्ध पर्याय का नाम व्यंजन है, इसका कभी विनाश नहीं होता। वस्तु शक्ति और गुणशक्ति अनन्ती हैं, इसी प्रकार पर्याय शक्ति भी जानना चाहिए।

व्यंजन तैं व्यंजन परि आवे, निज स्वभाव तजि कितहु न जावै।
श्रुति अनुसार लखै निजरूपा, चिनमूरति चैतन्य स्वरूपा।।1973।।

अर्थ :– व्यंजन से व्यंजनान्तर होते हुए भी अपने निज स्वभाव के ध्यान से विचलित नहीं होते हैं। श्रुत के अनुसार चिन्मूर्ति और चैतन्य स्वरूप अपने स्वभाव का ही ध्यान करते हैं।

जैनसूत्र में भाव श्रुती जो, प्रगटै अनुभव ज्ञानमती जो।
सो पृथक्त वितर्क विचारा, ध्यावै साधू ब्रह्म विहारा।।1974।।

अर्थ :– जो साधु अपने ब्रह्म (आत्मा) में ही विहार (ध्यान) करते हैं, ज्ञानस्वरूप होते हुए जैन सूत्रानुसार भाव श्रुतरूप जो अनुभव प्रकट होता है, वह पृथक्त्व वितर्कवीचार ध्यान का फल है।

दोहा

जानि पृथक्त अनन्तता, नाम वितर्क सिद्धंत।
है विचार अविचार निज, इह जानों विरतन्त।।1975।।

अर्थ :– अनन्तता को पृथक्त्व और सिद्धान्त को वितर्क जानो। निज की अभिन्नता का चिन्तन अविचार है। यह पृथक्त्ववितर्क विचार का वृत्तान्त है।

बेसरी छन्द

लेश्या शुकल भाव अति शुद्धा, मन वच–काय सबै जु निरुद्धा।
यामैं एक और है भेदा, सो तुम धारहु टारहु खेदा।।1976।।

अर्थ :– मन, वचन और काय का निरोध करने से जो शुद्ध भाव होते हैं, उसे शुक्लध्यान कहते हैं। इसमें एक भेद और है जो खेद को नष्ट करने वाला है, अत: तुम इसको धारण करो।

उपशमश्रेणी क्षपक जु श्रेणी, तिनमें क्षायक मुक्ति निसैनी।
पहलो शुक्ल जु दोऊ धारै, दूजौ क्षपक बिना न निहारै।।1977।।

अर्थ :– उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी के भेद से श्रेणियाँ दो प्रकार हैं। इनमें क्षपकश्रेणी मोक्ष की नसैनी है। शुक्लध्यान का प्रथम पाया दोनों श्रेणी वाले मुनिराजों के होता है और दूसरा पाया क्षकपश्रेणी वालों के ही होता है।

उपशम बारे ग्यारम ठाणा, परम्परै उतरै गुणठाणा।
जो कदाचि भवहू तैं जाई, तौ अहमिन्द्रलोक कों जाई।।1978।।

अर्थ :– उपशम श्रेणी वाले ग्यारहवें गुणस्थान तक ही जाते हैं, फिर क्रमश: नीचे के गुणस्थानों में उतरते हैं। यदि कदाचित् किन्हीं की आयु पूर्ण हो जावे तो वे मर कर अहमिन्द्र होते हैं।

नर ह्वै करि धारे फिर धर्मा, चढ़ैं क्षपकश्रेणी जु अमर्मा।
क्षपक श्रेणिधर धीर मुनिन्दा, होवे केवलरूप जिनिन्द्रा।।1979।।

अर्थ :– स्वर्गलोक से आकर मनुष्य होते हैं और मुनिव्रत धारण कर धर्मध्यान से शुक्लध्यान में जाकर क्षपकश्रेणी माँडते हैं। वे धीर–वीर मुनीन्द्र क्षपकश्रेणी चढ़ केवलज्ञान प्राप्त कर जिनेन्द्र रूप धारण कर लेते हैं।

बारम ठाणें दूजौ शुकला, प्रकटै जा सम और न विमला।
द्वै में क्षपकश्रेणि अधिकाई, कही जाय नहिं क्षपक बढ़ाई।।1980।।

अर्थ :– बारहवें गुणस्थान तक दूसरा शुक्लध्यान होता है, इसके समान और कोई निर्मल ध्यान नहीं है। क्षपकश्रेणी की प्रशंसा नहीं की जा सकती है। इस क्षपकश्रेणी में शुक्लध्यान के दो पाये होते हैं।

अष्टम ठाणें प्रगटै श्रेणी, सप्तम लों श्रेणी नहिं लेणी।
क्षपक श्रेणिधर शुकल निवासा, प्रकृति छतीस नवें गुण नासा।।1981।।
दसमें सूक्षम लोभ खिणावै, दशमाथी बारम कों जावैं।
ग्यारम कों पैंडौ नहिं लेवे, दूजौ शुकलध्यान सुख बेवे।।1982।।

अर्थ :– सप्तम गुणस्थान तक श्रेणी नहीं होती। श्रेणी का प्रारम्भ अष्टम गुणस्थान से होता है। क्षपकश्रेणी कर उत्तम शरीर में निवास करते हुए नवम गुणस्थान में छत्तीस प्रकृतियों का नाश करते हैं पश्चात् दशम गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का नाश कर सीधे बारहवें गुणस्थान में चले जाते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान की सीढ़ी नहीं चढ़ते और दूसरे शुक्लध्यान के सुख का अनुभव करते हैं।

साधकता की हद्द बताई, बारमठाण महा सुखदाई।
जहां षोड़शा प्रकृति खिपावै, शुद्ध एकता में लब लावै।।1983।।

अर्थ :– साधकता की सीमा बारहवें गुणस्थान तक ही है। शुद्ध एकता में लीन रहने से यह अवस्था महा सुखदाई है। इस गुणस्थान में सोलह प्रकृतियों का नाश हो जाता है।

सोरठा

माया मोह पिशाच, पहले पाये से श्रीमुनी।
तर्जो जग को नाच, पायौ ध्यायो दूसरौ।।1984।।

अर्थ :– महा मुनिराज जगत को नाच नाचने वाले मोह-माया रूपी पिशाच को प्रथम पाये में ही छोड़कर दूसरे पाये का ध्यान करते हैं।

है एकत्ववितर्क, अीवचार दूजौ महा।
कोटि अनन्ता अर्क, जाकौ सो तेज न लहै।।1985।।

अर्थ :– अनन्त करोड़ सूर्यों का तेज भी जिसके तेज को प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसा एकत्ववितर्क अविचार नाम का दूसरा पाया है।

ज्ञानावरणीकर्म, दर्शनावरणी हू हते।
रह्यौ नाहिं कछु मर्म, अन्तराय अन्त जु भयौ।।1986।।

अर्थ :– ज्ञानावरण और दर्शनावरण का नाश हो जाने से और अन्तराय कर्म का भी अन्त हो जाने से अब कुछ भी मर्म (दोष) नहीं रहा।

निरविकल्प रस माहिं, लीन भयौ मुनिराज सो।
जहाँ भेद कछु नाहिं, निजगुण पर्ययभावतें।।1987।।

अर्थ :– अब वे मुनिराज निर्विकल्प रस में ही लीन रहते हैं, अब वहाँ अपने गुण एवं पर्यायों आदि में कुछ भी भेद नहीं है।

द्रव्य सूत्र परताप, भावसूत्र दरस्यो तहाँ।
गयो सकल सन्ताप, पाप पुण्य दाऊ मिटै।।1988।।

अर्थ :– द्रव्य श्रुत के प्रताप से जहाँ भावश्रुत प्रकट हो गया है। सर्व सन्ताप नष्ट हो गया है और पुण्य-पाप - ये दोनों भी वहाँ नष्ट हो चुके हैं।

एक भाव में भाव, लखै अनन्तानन्त ही।
भागे सकल विभाव, प्रगटे ज्ञानादिक गुणा।।1989।।

अर्थ :– सकल विभाव नष्ट हो चुके हैं, ज्ञानादि सर्व गुण प्रकट हो चुके हैं और एक भाव ही अनन्तानन्त भाव दिखाई देने लगे हैं।

अपनों रूप निहार, केवल के सन्मुख भयौ।
कर्म गये सब हारि, लरि न सकै जासें न को।।1990।।

अर्थ :– जिनसे सर्व कर्म हार चुके हैं, कोई भी कर्म लड़ने में अब समर्थ नहीं है। अपना स्वरूप प्रकट हो जाने से जो केवलज्ञान के सम्मुख हैं।

एकहि अर्थै लीन, एकहि शब्दै माहिं जो।
एकहि योग प्रवीन, एकही व्यंजन धारियौं।।1991।।

अर्थ :– जो एक ही अर्थ में लीन हैं। एक ही शब्द, एक ही योग और एक ही व्यंजन को धारण करने वाले हैं।

एकत्व नाम अभेद, नाम वितर्क विद्धंत कौं।
निरविचार निरवेद, दुजौ पायो इह कह्यौ।।1992।।

अर्थ :– एकत्व नाम अभेद का है, वितर्क नाम सिद्धान्त का है और अवीचार नाम निरवेद का है। ऐसा यह दूसरा पाया है।

जहाँ विचार न कोय, भागे विकलप जाल सहु।
क्षीणकषायी होइ, ध्यानारूढ भयौ मुनी।।1993।।

अर्थ :– जहाँ कोई विचार नहीं है, सर्व विकल्प जाल नष्ट हो चुके हैं, ध्यानारूढ़ वे मुनिराज क्षीणकषायी हैं।

दूजौ पायो येह, गायौ गुरु आज्ञा थकी।
करै कर्म को छेह, अब सुनि तीजौ शुक्ल तू।।1994।।

अर्थ :– गुरु की आज्ञा से कर्म को छेद करने वाला यह दूसरा पाया कहा है। अब तुम शुक्लध्यान का तीसरा पाया सुनो।

सूक्षम किरिया नाम, प्रगटै तेरम ठाण जो।
जो निज केवल धाम, श्रुतज्ञानी के है परे।।1995।।

अर्थ :– सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती जिसका नाम है, जो श्रुतज्ञानियों के परे हैं, तेरहवें गुणस्थान में जो केवलज्ञान हो जाने पर ही होता है।

लोकालोक समस्त, भासै केवल बीध में।
केवल सो न प्रशस्त, सर्व लोक में और कोउ।।1996।।

अर्थ :– समस्त लोकालोक केवलज्ञान में प्रतिभासित होता है। सर्व लोक में केवलज्ञान से प्रशस्त और कोई नहीं है।

जे अघातिया नाम, गोत्र वेदनी आयु हैं।
तिनकों नाशै राम, परम शुकल केवल थकी।।1997।।

अर्थ :– नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु के अघातिया कर्म हैं। मात्र परम शुक्लध्यान इन कर्मों का नाश कर देता है।

पिच्यासी प्रकृती जु, जिनके ठाणें तेरमें।
जरो जेवरी सी जु, तिनकूं नाशै सो प्रभू।।1998।।

अर्थ :– तेरहवें गुणस्थान में जली हुई रस्सी के समान जो पच्यासी प्रकृतियाँ हैं, उनका नाश भी तीसरा पाया ही करता है।

सूक्षम क्रिया प्रवृत्ति, ध्यावै तीजौ शुकल सो।
बादर जोग निवृत्ति, कायजोग सक्षम रहै।।1999।।

करै जु सूक्षम जोग, तेरम गुण के छेहु रै।
पावै तबै अजोग, चौदमगुण ठाणें प्रभू।।2000।।

अर्थ :– सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नाम का तीसरा पाया बादर काययोग की निवृत्ति कर सूक्ष्म काययोग कर देता है, पश्चात् तेरहवें गुणस्थान के अन्त में उसका भी नाश कर देता है, तब वह प्रभु आत्मा चौदहवें गुणस्थान में विराजमान हो जाता है।

तहां सु चौथौ ध्यान, है जु समुच्छिन्न क्रिया।
ताकरि श्री भगवान, बेहत्तरि तेरा हतै।।2001।।

अर्थ :– वहाँ समुच्छिन्न नाम के चौथे पाये से वे भगवान बहत्तर प्रकृतियों का नाश कर देते हैं।

गई प्रकृति समस्त, सौ उपरि अड़ताल जे।
भये भाव जड़ अस्त, चेतन गुण प्रगटै सबै।।2002।।

अर्थ :– यहाँ सर्व एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ नष्ट हो जाने से सर्व जड़ भाव अस्त हो जाते हैं और पूर्ण चेतन गुण प्रकट हो जाता है।

करनी सकल उठाय, कृत्य कृत्य हूवौ प्रभू।
सो चौथो शिवदाय, परम शुकल जानों भया।।2003।।

अर्थ :– सर्व करनी नष्ट हो जाने के कारण वे प्रभु कृतकृत्य हो जाते हैं, तब मोक्ष देने वाला परम शुक्लध्यान का चौथा पाया प्रकट होता है।

पंच लघुक्षर काल, चौदम ठाणें तिथि करै।
रहित जगत जंजाल, जगत–शिखर राजै सदा।।2004।।

अर्थ :– पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है, उतने समय चौदहवें गुणस्थान में रह कर जगत के जंजाल से रहित होते हुए सदा के लिए लोकशिखर पर विराजमान हो जाते हैं।

बहुरि न आवै सोय, लोकशिखामणि जगत तें।
त्रिभुवन कौ प्रभु होय, निराकार निर्मल महा।।2005।।

अर्थ :– निराकार, महानिर्मल, त्रिभुवनपति तथा लोकशिखामणि भगवान फिर कभी इस जगत में लौट कर नहीं आते हैं।

सबकी करनी सोइ, जानै अन्तरगत प्रभू।
सर्व–व्याप को होई साखी भूत अव्याप को।।2006।।

अर्थ :– वे प्रभु सब जीवों की अन्तरंग प्रवृत्ति को जानते हैं। प्रत्यक्ष में अव्यापक होते हुए भी वे सर्व–व्यापी हैं।

ध्यान समान न कोइ, ध्यान ज्ञान कौ मित्र है।
सो निज ध्यानी होइ, ताकों मेरी वंदना।।2007।।

अर्थ :– ध्यान–समान अन्य कोई नहीं है। ध्यान ही ज्ञान का मित्र है, अत: जो–जो आत्मध्यानी हैं, उन सबको मेरा (दौलतरामजी का) वन्दन है।

धर्म मूल ए दोय, ध्यान प्रशंसा योग्य है।
आरति रुद्र न होय, सा उपाय करि जीव तू।।2008।।

अर्थ :– धर्मध्यान और शुक्लध्यान – ये दो ही धर्म के मूल हैं; अत: ये दो ही प्रशंसा के योग्य हैं। हे जीव! तू ऐसा उपाय कर, जिससे तुझे कभी आर्तध्यान और रौद्रध्यान न हों।

धर्म अगति कौ दीप, शुकल रतन कौ दीप है।
निज गुण आप समीप तिन कों ध्यावौ लोक तजि।।2009।।

अर्थ :– धर्मध्यान अग्नि का दीपक है और शुक्लध्यान रत्न का दीपक है। अपने गुण अपने ही समीप हैं; अत: लोक का त्याग कर निज का ही ध्यान करना योग्य है।

ध्यान तनूं विस्तार, कहि न सकै गणधर मुनी।
कैसे पावैं, पार, हमसे अलपमती भया।।2010।।

अर्थ :– ध्यान का इतना विस्तार है कि गणधर मुनिराज भी इसका विवेचन करने में जब असमर्थ हैं, तब हम जैसे अल्प बुद्धि कैसे पार पा सकते हैं।

तप जप ध्यान निमित्त, ध्यान समान न दूसरौ।
ध्यान धरौ निज चित्त, जाकरि भवसागर तिरौ।।2011।।

अर्थ :– जप और तप – ये ध्यान के निमित्त हैं, ध्यान समान और कोई दूसरा नहीं है। ध्यान से भव–समुद्र पार किया जा सकता है; अत: ध्यान को ही अपने चित्त में सदा काल धारण करना चाहिए।

तपकू हमरी ढोक, जामैं ध्यान जु पाइये।
मैटै जग कौ शोक, करैं कर्म की निर्जरा।।2012।।

अर्थ :– जो संसार के शोक का नाश करता है, कर्म की निर्जरा करता है और जिसमें ध्यान का समावेश है; उस तप को हमारा नमस्कार हो।

अनशन आदि पवित्र, ध्यान लगै तप गाइया।
बारा भेद विचित्र, सुनौ अबै समभाव जो।।2013।।

अर्थ :– अनशन आदि छह बाह्य और ध्यान आदि छह अन्तरंग – इस पवित्र तप के बारह भेद कहे हैं। अब समभाव को कहते हैं, सो सुनो।

।। इति द्वादश तप निरूपणम् ।।

।। अथ सम–भाव वर्णन।।

छप्पय

राग द्वेष अर मोह, एहि रोकै सम भावैं।
जिनकरि जग के जीव, नाहिं शिवथानक पावैं।
तेरा प्रकृति राग, द्वेष की बारा जानो।
मोह तनी हैं तीन, ए अट्ठाईस बखानों।।
एक मोह के भेद दो, दर्शन चारित्र ए।
दर्शन मोह मिथ्यात भव, जहां न सम्यक सोहए।।2014।।

अर्थ :– राग, द्वेष और मोह – इन तीन का निरोध होने से सम–भाव प्रकट होता है। संसारी जीव सम–भाव के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों में से तेरह प्रकृतियाँ राग की हैं, बारह प्रकृतियाँ द्वेष की और तीन प्रकृतियाँ मोह की हैं। दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप से मोहनीय कर्म के दो भेद हैं। जहाँ दर्शनमोहरूप मिथ्यात्व होता है, वहाँ सम्यक्त्व

नहीं रहता है।

राग द्वेष ए दोय, जानि चारित्र जु मोहा।
इनकरि तप नहीं व्रत, एह पापो पर द्रोहा।।
इनकी प्रकृति पचीस, तेहि तजि आतमरामा।
छांडौ तीन मिथ्यात, यही दोषनि के धामा।।
स्वपर विवेक विचार बिना, धर्म अधर्म न जो लखै।
सौ मिथ्यात अनादि प्रथम, ताहि त्यागि निजरस चलैं।।2015।।

अर्थ :– चारित्रमोहनीय के राग और द्वेष, ये दो भेद हैं। ये दोनों पाप रूप हैं और धर्मद्रोही हैं, अत: इनके रहते तप और व्रत नहीं होते हैं। इन दोनों की (13+12=25) पच्चीस प्रकृतियाँ हैं। हे आतमराम! इन्हें छोड़ो और दोषों के स्थानस्वरूप तीनों मिथ्यात्व भी छोड़ो। दर्शनमोहनीय का प्रथम भेद मिथ्यात्व है। यह जीव के साथ अनादि से लगा हुआ है। इसके रहते स्व-पर का विचार नहीं होता और धर्म-अधर्म की पहचान नहीं होती। इसका त्याग करनेवाले ही निजरस का स्वाद लेते हैं।

दूजौ मिश्र मिथ्यात, होय तीजे गुणठाणें।
जहां न एक स्वभाव, शुद्ध आतम नहिं जाणें।।
सत्य असत्य प्रतीति, होय दुविधामय भावें।
ताहि त्यागि गुणखानि, शुद्ध निजभाव लखावै।।
तीजी सम्यक प्रकृति मिथ्यात, समकित मैं उदवेग कर।
भलौ दोयतें तीसरौ, तौ पन चंचल भाव धर।।2016।।

अर्थ :– दूसरा मिश्रमिथ्यात्व है। यह केवल तीसरे गुणस्थान में होता है। वहाँ जीव का एक स्वभाव नहीं रहता और वह शुद्ध आत्मा को भी नहीं जानता है। दुविधामय भाव रहने से सत्य और असत्य की प्रतीति भी नहीं होती है। इसे त्यागने से गुणों की खान स्वरूप शुद्ध निजभाव की प्रतीति हो जाती है। तीसरी सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व है, जो सम्यग्दर्शन में उद्वेग पैदा करती है। उपर्युक्त दो मिथ्यात्वों की अपेक्षा यह तीसरी सम्यक्त्व नाम की मिथ्यात्व प्रकृति भली है तो भी चंचल भाव उत्पन्न करती रहती है।

दोहा

कहे तीन मिथ्यात ए, दरशन मोह विकार।
अब चारित्र जु मोह कौ, भेद सुनौ निरधार।।2017।।

अर्थ :– दर्शनमोह के विकार-स्वरूप ये तीन मिथ्यात्व कहे जा चुके हैं। अब चारित्र मोहनीय के भेद निराधार होकर सुनो।

कही कषाय जु षोडसो, नो-कषाय नव मेलि।
ए पच्चीसों जानिये, राग द्वेष की बेलि।।2018।।

अर्थ :– जो कषाय के सोलह भेद कहे हैं, उनमें नव (नौ) नो कषाय और मिला देने से पच्चीस कषायें हो जाती हैं। ये ही राग-द्वेष की बेल हैं।

चउ माया चउ लोभ अर, हासि रती त्रय वेद।
ए तेरा हैं राग की, देहिं प्रकृति अति खेद।।2019।।

अर्थ :– चारों प्रकार की चार माया, चार लोभ, हास्य, रति और तीनों वेद - ये तेरह प्रकृतियाँ (कषायें) राग की हैं और ये अत्यन्त खेद देने वाली हैं।

चार क्रोध अर मान चउ, अरति शोक भय जानि।
दुरगंधा ये द्वादशा, प्रकृति द्वेष की मानि।।2020।।

अर्थ :– चार क्रोध, चार मान, अरति, शोक भय और जुगुप्सा - ये बारह प्रकृतियाँ द्वेष की मानी गयी हैं।

लगीं अनादि जु काल की, भरमावै जु अनंत।
विनसैं भव्यनि के भया, ह्वै न अभवि के अन्त।।2021।।

अर्थ :– हे भाई! ये कषायें अनादि काल से लगी हुई हैं और अनन्त काल तक भ्रमण कराती रहेंगी। भव्य जीवों के इनका विनाश हो सकता है, किन्तु अभव्य जीवों के इनका अन्त कदापि नहीं होता।

रोकै सम्यकदृष्टि कों, कोकै सकल विभाव।
ढोकै मिथ्यादृष्टि कों, नहिं जामें समभाव।।2022।।

अर्थ :– ये सर्व कलायें समीचीन दृष्टि को रोकती हैं और सभी विभावों को मुखर करती हैं। मिथ्या दृष्टि को वन्दनीय बनाती हैं और इनमें सम-भाव नहीं होता है।

अनंतानुबन्धी इहै, प्रथम चौकरी जानि।
त्यागै तीन मिथ्यात जुत, सो समदृष्टि मानि।।2023।।

अर्थ :– अनन्तानुबन्धी की प्रथम चौकड़ी और तीन मिथ्यात्व - इनका त्याग करने पर ही जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

छप्पय छन्द

समकित बिनु नहिं, होत, शांतिरूपी समभावा।
चौथे गुणठाणें जु कछुक, सम भाव लखावा।।
द्वितीय चौकरी बहुरि, सोहु अव्रतमय भाई।
नाम अप्रत्याख्यान, जा छतैं व्रत न पाई।।
दोय चौकरी तीन मिथ्या, त्याग होय श्रावक व्रती।
प्रगटै गुणठाण जु पंचमैं, पापनिकी परिणति हती।।2024।।

अर्थ :– सम्यक्त्व के बिना शांतिरूप सम–भाव कदापि नहीं होते। यह सम–भाव चतुर्थ गुणस्थान में किंचित् होता है। हे भाई! दूसरी चौकड़ी अव्रतमयी है, इसका नाम अप्रत्याख्यानावरण है। इसके रहते हुए जीव के व्रत नहीं होते हैं, अत: दो चौकड़ी और तीन मिथ्यात्व इनका त्याग होने पर ही श्रावक व्रती होता है और उसके पाप–परिणति को हरने वाला पाँचवाँ गुणस्थान प्रकट हो जाता है।

चढ़ै तहां समभाव, होय रागादिक नूना।
अव्रत तैं गनि ऊँच, साधुव्रत्तनि तैं ऊना।।
तृतिय चौकरी जानि, नाम है प्रत्याख्यानी।
रोकै मुनिव्रत एह, ठाण छट्ठो शुभध्यानी।।
तीन चौकरी तीन मिथ्या, छांड़ि साधु ह्वै संजमी।
वृद्धि होय समभावई, मन इन्द्री सब ही दमी।।2025।।

अर्थ :– यह जीव अव्रती श्रावक से कुछ ऊँचा हो जाता है, किन्तु साधुव्रत से कुछ हीन रहता है, इसलिए इसके पूर्व की अपेक्षा समभाव तो कुछ बढ़ जाता है और रागादिक भाव कुछ कम हो जाते हैं। तीसरी चौकड़ी का नाम प्रत्याख्यानावरण है। यह चौकड़ी मुनिव्रत नहीं होने देती। तीन चौकड़ी और तीनों मिथ्यात्व को छोड़ देने पर छठे गुणस्थानवर्ती शुभध्यानी साधु संयमी होते हैं यहाँ मन और सर्व इन्द्रियों का दमन हो जाता है और समताभाव की विशेष वृद्धि हो जाती है।

दोहा

चौथी संजुलना सही, रोकै केवलज्ञान।
जाके तीव्र उदय–थकी, होय न निश्चल ध्यान।।2026।।

अर्थ :– चौथी संज्वलन की चौकड़ी यथाख्यात चारित्र को रोकती है। इस चौकड़ी के उदय से निश्चल ध्यान नहीं होता है।

छप्पय छन्द

चौथी चौकरि टारै, नाम संजुलन जवै ही।
नौ–कषाय नव भेद, नाशि जावै जु सबै ही।।
यथाख्यातचारित्र, उपजै बारम ठाणें।
पूरण तब समभाव, होय जिनसूत्र प्रमाणें।।
क्रोध मान छल लोभ, चारुं एक एक चउ भेद ए।
ह्वै षोड़श नव युक्त ये, मोह प्रकृति अति खेद ए।।2027।।

अर्थ :– संज्वलन नाम की चौथी चौकड़ी और नव नोकषायों का जब नाश हो जाता है, तब यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होता है। यह चारित्र बारहवें गुणस्थान में उत्पन्न होता है। यहाँ जिनागम के कथाननुसार पूर्ण सम–भाव प्रकट हो जाता है। चारों चौकड़ियों के चार क्रोध, चार मान, चार माया और चार लोभ – इन सोलह कषायों में नव नोकषायों को मिला देने से चारित्र–मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियाँ हैं। ये अत्यन्त दुख देने वाली हैं।

दोहा

अनंतानुबंधी प्रथम, द्वितीय अप्रत्याख्यान।
तीजी प्रत्याख्यान है, चउथी है संजुलान।।2028।।

कही चौकरी चारि ए , चारो गति की मूल।
चार–तनी सोला भई, भेद मोक्ष प्रतिकूल।।2029।।

अर्थ :– प्रथम अनन्तानुबन्धी, द्वितीय अप्रत्याख्यान, तृतीय प्रत्याख्यान और चतुर्थ संज्वलन ये चारों चौकड़ी चारों गतियों की मूल हैं। इन चारों की सोलह कषायें हैं, जो मोक्ष के प्रतिकूल हैं।

हास्य अरति रति शोक भय, दुरगंधा दुखदाय।
नो–कषाय ए नव कही, पंचबीस समुदाय।।2030।।

अर्थ :– हास्य, अरति, रति, शोक, भय, जुगुप्सा और तीन वेद – ये नौ नोकषाय मिल कर पच्चीस का समुदाय है।

राग द्वेष की प्रकृति ए, कही पचीस प्रमान।
तीन मिथ्यात समेत ए, अट्ठाईस बखान।।2031।।

अर्थ :– ये पच्चीसों कषायें राग–द्वेष की हैं। इनमें तीन मिथ्यात्व मिला देने से अट्ठाईस हो जाती हैं।

जायं जबै सब ही भया, तब पूरण समभाव।
यथाख्यातचारित्र ह्वै, क्षीणकषाय प्रभाव।।2032।।

अर्थ :– जब ये पच्चीस कषायें चली जाती हैं, तभी सम्पूर्ण सम–भाव प्रकट होता है और तभी यथाख्यात चारित्र होता है, जिसके प्रभाव से क्षीणकषाय गुणस्थान होता है।

मुनि के जातैं, अलप हैं, छठैं सातमें ठाण।
पन्द्रा प्रकृति अभाव तैं, ता माफिक सम जाण।।2033।।

अर्थ :– छठे–सातवें गुणस्थान में वर्तन करने वाले मुनिराजों के इस अट्ठाईस में से पन्द्रह प्रकृतियों का अभाव हो जाने से उसके अनुपात का साम्य–भाव होता है, जो क्षीणकषायी के साम्य–भाव से अल्प ही होता है।

श्रावक के यातें, अलप, पंचम ठाणें जाण।
ग्यारा प्रकृति गयां थकीं, ता माफिक परवाण।।2034।।

अर्थ :– पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के ग्यारह प्रकृतियों का ही अभाव हुआ है, अत: इनका साम्य–भाव उसी अनुपात में होता है, जो मुनिराज के साम्य–भाव की अपेक्षा अल्प है।

श्रावक के अणुव्रत है, इह जानों निरधार।
मुनि के पंच महाव्रता, समिति गुपति अविकार।।2035।।

अर्थ :– यह निर्णीत है कि श्रावक के अणुव्रत होते हैं और मुनिराजों के निर्दोष महाव्रत, समिति और गुप्ति होती हैं।

श्रावक के चौथे अलप, चौथो अव्रत ठाण।
तहां सात प्रकृति गई, ता माफिक ही जाण।।2036।।

अर्थ :– अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के चतुर्थ गुणस्थान होता है, उसके मात्र सात प्रकृतियों का अभाव हुआ है; अत: उस श्रावक के उसी अनुपात में साम्य–भाव होता है।

गुणठाणा समभाव के, ह्वै ग्यारा तहकीक।
चौथे सूं ले चौदमा–तक नहिं बात अलीक।।2037।।

अर्थ :– चतुर्थ गुणस्थान से चतुर्दश गुणस्थान पर्यन्त के ग्यारह गुणस्थान ही सम–भाव के हैं, यह बात पूर्ण सत्य है।

चौथे र्जघन जु जानिये, मध्य पंचमें ठाण।
छट्ठा सूं दसमा लगै, बढ़तो बढ़तो जाण।।2038।।

अर्थ :– साम्य–भाव चतुर्थ गुणस्थान में जघन्यरूप से और पंचम गुणस्थान में मध्यम रूप से होता है, पश्चात् छठे गुणस्थान से दशम गुणस्थान पर्यन्त बढ़ता–बढ़ता जाता है।

बारम तेरम चौदवें, है पूरण समभाव।
जिन शासन को सार यह, भव–सागर की नाव।।2039।।

अर्थ :– बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानों में साम्य–भाव पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है। यह साम्य–भाव ही जैन–शासन का सार है और यही भवसमुद्र से पार होने के लिए नाव है।

छप्पय

छट्ठमसों ले.... जुगल मुनी के जाणा।
तिनकौ सुनहुं विचार, जैनशासन परवाणा।।
छट्ठम सप्तम ठाण, प्रकृति पंद्रा जब त्यागी।
तीन मिथ्यात विख्यात, चौकरी इक तीन उ भागी।।
तब उपजै सम भावई, श्रावक के अधिकौ महा।
पै तथापि तेरा रही, तातें पूरण नहिं कहा।।2040।।

अर्थ :– मुनिराजों के छठे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यन्त एक साथ जो साम्य–भाव होता है, जैनागम के अनुसार उस पर विचार किया जा रहा है, उसे सुनो। छठे–सातवें गुणस्थान में तीन चौकड़ी की बारह और तीन मिथ्यात्व – इस प्रकार जब इन पन्द्रह प्रकृतियों का नाश हो जाता है, तब वहाँ जो साम्य–भाव प्रकट होता है, वह श्रावक के साम्य–भाव से अधिक होता है, किन्तु अभी तेरह प्रकृतियाँ शेष है; अत: साम्य–भाव पूर्ण नहीं हुआ है।

रही चौकरी एक और गनि नो–कषाय नव।
तिनकौ नाश करेय, सो न पावै कोई भव।।
छट्टे तीव्र जु उदै, सातवें मंद जु इनकौ।
इनमैं षट् हास्यादि, आठवें अन्त जु तिनकौ।।
क्रोध मान अर कपट नो, वेद तीनही नहिं यां।
चौथे चौकरि लोभ सूक्षम दश, वेंठाण विनाशिया।।2041।।

अर्थ :– जो अवशेष (संज्वलन की) एक चौकड़ी और नौ नोकषायों का त्याग और कर देता है वह फिर संसार में पैदा नहीं होता। इन तेरह कषायों का छठे गुणस्थान में तीव्र उदय होता है और सातवें गुणस्थान में मंद उदय होता है। हास्यादि छह नोकषायों का विनाश आठवें गुणस्थान के

अन्त में हो जाता है। चौथी चौकड़ी गत क्रोध, मान और माया का तथा तीनों वेद का नवमें गुणस्थान में और सूक्ष्म लोभ का दसवें गुणस्थान के अन्त में विनाश हो जाता है।

चाल छन्द

एकादशमा द्वादशमा, पुनि तेरम अर चौदशमा।
समभाव तने गुणथाना, ए चार कहे भगवाना।।2042।।

अर्थ :– ग्यारहवाँ, बारहवाँ, तेरहवाँ और चौदहवाँ – ये चार गुणस्थान पूर्ण सम–भाव के हैं। ऐसा भगवान जिनेन्द्र ने कहा है।

ग्यारम है पतन स्वभावा, डिगि जाय तहाँ समभावा।
बारहमैं परम पुनीता, जा सम नहिं कोई अजीता।।2043।।

अर्थ :– ग्यारहवाँ गुणस्थान पतन स्वभाव वाला है; अत: वहाँ का सम–भाव डिग जाता है। बारहवाँ गुणस्थान परम पुनीत है, इसके समान और कोई अजय स्थान नहीं है।

तेरम चौदम गुणठाणा, परमातरूप बखाना।
समभाव तहाँ है पूरा कीये रागादिक चूरा।।2044।।

अर्थ :– तेरहवाँ, चौदहवाँ गुणस्थान परमात्मा स्वरूप हैं। रागादि भावों का चूरा कर देने से यहाँ पूर्ण सम–भाव होता है।

नहिं यथाख्यात सौ कोई, समभाव–सरूपी सोई।
इह सम उतपत्ति बताई, रागादिक नाश कराई।।2045।।

अर्थ :– यथाख्यात चारित्र के समान और कोई सम–भाव वाला चारित्र नहीं है। रागादि भावों का नाश हो जाने से सम–भावों में ही यथाख्यात चारित्र की उत्पत्ति होती है।

अब सुनि सम लक्षण संता, जा विधि भाषैं भगवंता।
जीवौ–मरिवौ सम जानै, अरि–मित्र समान बखानै।।2046।।

अर्थ :– भगवान जिनेन्द्र ने जिस विधि से सम–भाव का लक्षण कहा है, उसे मैं कहता हूँ; सो सुनो! जीवन–मरण और शत्रु–मित्र में सम–भाव रखना समता है।

सुख–दुख अर पुण्य जु पापा, जानै सम ज्ञान–प्रतापा।
सब जीव समान विचारै, अपने से सर्व निहारै।।2047।।

अर्थ :– ज्ञान के प्रताप से सुख–दुख और पुण्य–पाप को समान जानता है। सब जीवों के

प्रति समता-भाव रखता है और अपनी आत्मा के समान ही सबको देखता है।

चिंतामणि-पाहन तुल्या, जिसके समभाव अतुल्या।
सुरगति अर नरक समाना, सब राव रंक सम जाना।।2048।।

अर्थ :- जिसके अतुल्य समता-भाव जाग्रत हो जाता है वह चिन्तामणि रत्न और पत्थर को तुल्य मानता है तथा देवगति और नरक गति एवं राजा और रंक में सम-भाव रखता है।

जिनके घर मैं नहिं ममता, उपजी सुखसागर समता।
वन-नगर समान पिछानैं, सेवक साहिब सम जानैं।।2049।।

अर्थ :- जिनके हृदय में ममता नहीं रहती हैं, उन्हीं के हृदय में सुख-सागर स्वरूप समता उत्पन्न होती है। वे वन ओर नगर तथा सेवक और स्वामी में समता भाव रखते हैं।

समसान-महल सम भावै, जिनके न विषमता आवै।
है लाभ-अलाभ समाना, अपमान-मान सम जाना।।2050।।

अर्थ :- जिनके समता भाव जाग्रत हो जाता है उन्हें श्मशान और महल, लाभ-अलाभ तथा मान और अपमान आदि में कहीं भी विषमता उत्पन्न नहीं होती है।

गिरि-ग्राम समान जिनूँ के, सुर-कीट समान तिनूँ के।
सुरतरु-विषतरु सम दोऊ, चन्दन-कर्दम सम होऊ।।2051।।

अर्थ :- समताधारी की दृष्टि में पर्वत और ग्राम, देव और कीड़ा (तुच्छ जन्तु), कल्पवृक्ष और विषवृक्ष तथा चन्दन और कर्दम समान होते हैं।

गुरु-शिष्य न भेद विचारै, समता परिपूरण धारैं।
जानै सम सिंह-सियाला, जिनके समभाव विशाला।।2052।।

अर्थ :- जिनके हृदय में पूर्ण समता है, वे गुरु और शिष्य में भेद नहीं मानते तथा जिनके मन में विशाल सम-भाव है, वे सिंह और सियार को समान-दृष्टि से देखते हैं।

संपति-विपदा द्वै सरिखी, लघुता-गुरुता सम परखी।
कंचन लोहा सम जाके, रंच न है विभ्रम ताके।।2053।।

अर्थ :- समताधारी के लिए सम्पत्ति-विपत्ति समान है, लघुता और गुरुता समान है तथा स्वर्ण और लोहा समान है। उसके मन में रंचमात्र भी विभ्रम उत्पन्न नहीं होता है।

रति-अरति हानि अर वृद्धि, रज सम जानैं सब ऋद्धि।
खर-कुंजर तुल्य पिछानै, अहि फूलमाल सम जानैं।।2054।।

अर्थ :– वे रति–अरति, हानि और वृद्धि, रज और ऋद्धि, गधा और हाथी तथा सर्प और फूलमाला को समान मानते हैं।

नारी–नागिन सम देखै, गृह कारागृह सम पेखै।
सम जानैं इष्ट–अनिष्टा, सम मानैं अबलि–बलिष्टा।।2055।।

अर्थ :– वे नारी और नागिन, गृह और कारागृह, इष्ट और अनिष्ट तथा बलिष्ठ और निर्बल में समान दृष्टि रखते हैं।

जे भोग रोग सम जानै, सब हर्ष रोग सम मानैं।
रस नीरस रंग कुरंगा, सुसबद कुसबद सम अंगा।।2056।।

अर्थ :– जो भोग और रोग को सम जानते हैं, रोग और हर्ष को, रस और नीरस को सुरंग और कुरंग को तथा सुस्वर और दुःस्वर को समान मानते हैं, वे ही समताधारी हैं।

शीतल अर उष्ण समाना, दुरगंध सुगंध प्रमाना।
नहिं रूप कुरुप जु भेदा, जिनके समभाव निवेदा।।2057।।

अर्थ :– जिनके परिणामों में समता–भाव है; उन्हें शीत और उष्ण, सुगन्ध और दुर्गन्ध तथा रूप और कुरूप में कोई भेद ज्ञात नहीं होता है।

चक्री अर निरधन दोई, कछु भेदभाव नहिं होई।
चक्राणी अर इन्द्राणी, अति दीन नारि सम जाणी।।2058।।

अर्थ :– चक्रवर्ती और निर्धन में उन्हें कोई भेदभाव नहीं है। चक्राणी और इन्द्राणी एवं अति दीन नारी में भी उनका सम–भाव होता है।

इन्द्र नागेन्द्र नरेन्द्रा, पुनि सर्वोत्तम अहमिन्द्रा।
सूक्षम जीवनि सम देखै, कछु भेद भाव नहिं पेखें।।2059।।

अर्थ :– इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और सर्वोत्तम अहमिन्द्र एवं सूक्ष्म जीवों में कुछ भेदभाव नहीं रखते हैं। सब में सम–भाव रखते हैं।

थुति निंदा तुल्य गिनैं जो, पापनि के पुंज हनैं जो।
कृमि कुन्थुकृष्ण सम तुल्या, पायौ समभाव अतुल्या।।2060।।

अर्थ :– जिन्होंने पाप–पुण्य का नाश कर दिया है, उनकी दृष्टि में निन्दा और स्तुति समान है। जिनके पास अतुल्य सम–भाव है, उन्हें कृमि और कुन्थु–सम दिखाई देते हैं।

सेवा उपसर्ग समाना, बैरी बाँधव सम माना।
जिनके द्विज शूद्र सरीखा, सीखी सद्गुरु की सीखा।।2061।।

अर्थ :– जिन्होंने सद्गुरु की सीख (शिक्षा) ग्रहण कर ली है; उन्हें सेवा और उपसर्ग समान हैं, बैरी और बांधव समान हैं तथा ब्राह्मण और शूद्र समान हैं।

बन्दै निन्दै सो सरिखौ, समभावनि तन जिन परिखौ।
समता रस पूरण प्रकट्यौ, मिथ्यात महाभ्रम विघट्यौ।।2062।।

अर्थ :– जिनका मिथ्यात्व महाभ्रम नष्ट हो गया है, समतारस पूर्णरूपेण प्रकट हो चुका है और जो सम-भावों से ही अपने आप को देखते हैं, उन्हें वन्दना और निन्दा दोनों समान हैं।

तिनकी लखि शांत सु मुद्रा, रौद्र जु त्यागै अति रुद्रा।
चीता मृगवर्ग न मारै, अति प्रीति परस्पर धारै।।2063।।

अर्थ :– समताधारी मुनिराज की शान्त मुद्रा देख कर रौद्र प्राणी भी अपनी रौद्रता छोड़ देते हैं। चीते मृग-समूह को नहीं मारते, अपितु परस्पर में प्रीति-भाव धारण कर लेते हैं।

गरुड़ा नहिं नाग विनासै, नागा नहिं दादर नासै।
उन्दर मारै न विडाला, पंखिनि सौं प्रीति विशाला।।2064।।

अर्थ :– गरुड़ नाग को नहीं मारता, नाग मेंढक को नहीं खाता, बिलाव चूहों को नहीं मारता और पक्षियों से भी अति विशाल प्रीति करने लगता है।

तिर विद्याधर नर कोई, सुर असुर न बाधक होई।
काहू कूं राव न दंडै, दुरजन दुरजनता छंड़ै।।2065।।

अर्थ :– विद्याधर मनुष्य, देव और असुर - ये कोई भी बाधा नहीं देते हैं, राजा किसी को दण्ड नहीं देते और दुर्जन भी अपनी दुर्जनता छोड़ देते हैं।

काहूके चोर न पैसे, चोरी होवे कहु कैसे।
लखि समता-धारक मुनि कों, त्यागै पापी पापनि कों।।2066।।

अर्थ :– समताधारी मुनिराज को देखकर पापी, पाप प्रवृत्ति छोड़ देते हैं। जब कोई चोर ही नहीं होता है, तब धन-पैसे की चोरी कैसे होगी?

डाकिनि को जोर न चालै, हिंसक हिंसा सब टालै।
भूता नहिं लागत पावै, राक्षस व्यंतर भजि जावै।।2067।।

अर्थ :– हिंसक प्राणी भी अपनी हिंसा वृत्ति को छोड़ देते हैं। डाकिनी का जोर नहीं चल पाता, भूत नहीं लगते और राक्षस तथा व्यन्तर भी भाग जाते हैं।

मंतर न चलैं जु किसी के, ये हैं परभाव रिषी के।
कोहू काहू नहिं मारै, सब जीव मित्रता धारै।।2068।।

अर्थ :– समताधारी ऋषियों का ऐसा प्रभाव होता है कि किसी द्वारा किये हुए मन्त्र आदि कार्य नहीं करते और किसी को मरते नहीं हैं, आपस में सब जीव मित्रता धारण कर लेते हैं।

हरिनी मृगपति के छावा, देखैं निज–सुत समभावा।
बाघनि कूँ गाय चुखावै, मार्जारो हंस खिलावै।।2069।।

अर्थ :– हिरणी शेरनी के बच्चे को अपना पुत्र समझती है, बाघिन गाय के बछड़े को दूध पिलाती है और मार्जार हंस को खिलाता है।

ल्याहि अर मीढा इकठे, नाहर अर बकरा बइठे।
काहू कौ जोर न चालै, समभाव दुखनि कों टालै।।2070।।

अर्थ :– ल्याही और मीढा एक साथ घूमते हैं तथा नाहर और बकरा एक साथ बैठते हैं। सम–भाव सब दुखों को दूर कर देता है। इसके सामने किसी का भी जोर नहीं चलता है।

रोगिनि के रोग नसावे, सोगिनि के लोग बिलावै।
कारागृह तें सब छूटें, कोउ काहू को नहिं लूटै।।2071।।

अर्थ :– रोगियों के रोग नाश हो जाते हैं। शोक करने वालों का शोक विलीन हो जाता है। कारागृह से सब बन्दी छूट जाते हैं और किसी को लूटता नहीं है।

इह ब्रह्म सुविद्यारूपा, निरदोष विराग अनूपा।
अति शांतिभाव को मूला, समसों नहिं शिव अनुकूला।।2072।।

अर्थ :– यह समता–भाव ही ब्रह्म है, उत्तम विद्या स्वरूप है, निर्दोष है, विरागरूप है, अनुपम है और शान्तिभाव का मूल है। साम्य–भाव के अतिरिक्त मोक्ष के अनुकूल और कोई नहीं है।

नहिं समता पर छै कोऊ, सब श्रुति कौ सार जु होऊ।
जो ममता कौ परित्यागी, सो कहिये सम बड़भागी।।2073।।

अर्थ :– समता के समान अन्य कोई नहीं है। सर्व श्रुतज्ञान का सार समता ही है। जो ममता के त्यागी होते हैं, वे पुण्यवान ही समताशाली होते हैं।

मन इन्द्रिय कौ जु निरोधा, सो दम कहिये प्रतिबोधा।
सम तें क्रोधादि नशाया, दम तें भोगादि भगाया।।2074।।

अर्थ :– ज्ञानियों ने मन और इन्द्रियों के निरोध को ही दम कहा है। समता से क्रोधादि का नाश हो जाता है और इन्द्रिय दमन से भोग भाग जाते हैं।

सम दम निरवाण प्रदाया, काहे धारौ नहिं भाया।
सब जैनसूत्र समरूपा, समरूप जिनेश्वर भूपा।।2075।।

अर्थ :– हे भाई! ये शम और दम निर्वाण प्रदाता हैं। आप इन्हें क्यों नहीं धारण करते हो? सर्व जैनागम समरूप हैं और जिनेन्द्र रूप राजा भी समरूप ही हैं।

समताधर उचविधि संघा, समभाव भवोदधि लंघा।
पूरण सम प्रभुके पईये, तिन तैं लघु मुनिके लइये।।2076।।

अर्थ :– चतुर्विध संघ भी समताधारी है; क्योंकि समता भाव ही संसार-समुद्र का उल्लंघन कर सकता है। पूर्ण साम्य-भाव प्रभु जिनेन्द्र के होता है और उससे कुछ हीन साम्य-भाव मुनिराजों के होता है।

तिनतैं, श्रावक के नूना, सम करै कर्मगण चूना।
श्रावक तैं चौथे ठाणें, कछुइक घटता परमाणें।।2077।।

अर्थ :– मुनिराज के साम्य-भाव से कुछ न्यून व्रती श्रावक के और श्रावक से कुछ न्यून साम्य-भाव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती के होता है। साम्य-भाव कर्म-समूह का नाश कर देता है।

सम्यक् बिना समता नाहीं, सम नाहिं मिथ्यामत माहीं।
ममता है मोह सरूपा, समता है ज्ञान प्ररूपा।।2078।।

अर्थ :– सम्यक्त्व बिना समता नहीं आती। मिथ्यादृष्टि जीव के समता नहीं होती। ममता मोहस्वरूप है और समता ज्ञानस्वरूप है।

सब छांडि विषमता भाई, ध्यावौ समता शिवदाई।
सम की महिला मुनि गावै, सम को सुरपति शिर नावै।।2079।।

अर्थ :– हे भाई! सर्व विषमताओं का त्याग कर, मोक्ष-सुख देने वाली समता को ही धारण करो। मुनिराज भी इस समता की महिमा गाते हैं और इस समता को देवेन्द्र भी नमस्कार करते हैं।

सम सौं नहिं दूजौ जग मैं, इह सम केवल जिनमग मैं।
सम अर्थ सकल तप वृत्ता, सम है मारग निरवृत्ता।।2080।।

अर्थ :– इस जगत में समता समान और कोई दूसरा नहीं है। यह साम्य–भाव मात्र जिनमार्ग में ही है। सम्पूर्ण तप और व्रत का प्रयोजन समता ही है। निर्वृत्ति मार्ग का फल भी समता ही है।

जो प्राणी समरस भावै, सो जनम मरण नहिं पावै।
यम नियमादिक जे जोगा, सब मैं समभाव अलोगा।।2081।।

अर्थ :– जो प्राणी सम–रस में निमग्न रहते हैं, वे जन्म–मरण के दुखों को प्राप्त नहीं होते। यम–नियम आदि जितने योग हैं, उन सब में साम्य–भाव ही अलौकिक है।

सम कौ जस कहत न आवै, जो सहस जीभ करि गावै।
अनुभव अमृतरस चाखै, सोई समता दिढ़ राखै।।2082।।

अर्थ :– यदि कोई हजार जिह्वाओं से भी समता का यश कहना चाहें तो भी नहीं कह सकते हैं। जो अनुभवरूपी अमृतरस का आस्वादन लेते हैं, वे ही साम्यभाव को दृढ़ रख सकते हैं।

।। इति समभाव निरूपणम् ।।

।। अथ सम्यक्त्व वर्णन ।।

सवैया इकतीसा

अष्ट मूलगुण कहे, बारह वरत कहे, कहे तप द्वादश जु समभाव साधका।
सम सा न कोऊ और सर्व कौ जु सिरमोर, याही करि पावै ठोर आतम आराधका।
विषमता त्यागि अर समता के पंथ लागि, छाड़ौ सब पाप जेहि धर्म के विराधका।
ग्यारै प्रतिमा जु भेद दोषनिकौ करै छेद, धारै नर धीर धरि सकै नाहिं बाधका।।2083।।

अर्थ :– अष्ट मूलगुण और बारह व्रत कह चुके हैं तथा साम्य–भाव के साधन स्वरूप बारह तप भी कहे जा चुके हैं। समता सबकी सिरमौर है, इसके समान और कोई नहीं है। आराधक इस साम्य–भाव से अपने आत्मरूपी धाम (स्थान) को प्राप्त कर लेता है। धर्म–विराधक सब पापों को छोड़ दें और सर्व विषमताओं का त्याग कर समता के पन्थ में लगें। ग्यारह प्रतिमाएँ सर्व दोषों का छेद करने वाली हैं। जो धैर्यवान मनुष्य इन प्रतिमाओं को धारण कर लेते हैं, उन्हें कोई बाधा नहीं दे सकता।

दोहा

पड़िमा नाम जु तुल्य कौ, मुनिमारग की तुल्य।
मारग श्रावक कौ महा, भाषैं देव अतुल्य।।2084।।

अर्थ :– प्रतिमा नाम तुल्यता का है। मुनि–मार्ग के तुल्य ही श्रावक का उत्तम मार्ग है, अतुल्य जो जिनेन्द्र देव हैं, उन्होंने ऐसा कहा है।

बहुरि प्रतिज्ञा कों कहैं, प्रतिमा श्रीभगवान।
होंहिं प्रतिमा धारका, श्रावक समतावान।।2085।।

अर्थ :– जिनदेव ने प्रतिज्ञा को भी प्रतिमा कहा है। प्रतिज्ञाधारी श्रावक समतावान होता है।

मुनि के लहुरे वीर हैं, श्रावक पड़िमाधार।
मुनि श्रावक के धर्मको, मूल जु समकित सार।।2086।।

अर्थ :– प्रतिमाधारी श्रावक मुनि के छोटे भाई हैं। मुनिधर्म और श्रावक धर्म इन दोनों का मूल और सार सम्यग्दर्शन है।

सम्यक चउ गति के लहैं, कहै कहालों कोइ।
पै तथापि वरणन करूँ, संवेगादिक सोइ।।2087।।

अर्थ :– चारों गति के जीव सम्यक्त्व धारण कर सकते हैं। कोई सम्यक्त्व की महिमा कह ही नहीं सकता, फिर भी मैं संवेग आदि गुण वाले सम्यक्त्व का कुछ वर्णन करता हूँ।

सम्यक के गुण अतुल हैं, श्रावक तिरि नर होय।
मुनिव्रत मनुजहि धारहीं, द्विज छत वाणिज होय।।2088।।

अर्थ :– सम्यक्त्व के अतुल गुण हैं। तिर्यंच और मनुष्य ही पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक हो सकते हैं, किन्तु मुनिव्रत मात्र मनुष्य ही धारण कर सकते हैं। मुनष्यों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण वाले ही मुनिव्रत ले सकते हैं।

संवेगो निरवेद अर, निंदन गरुहा जानि।
समता भक्ति दयालुता, वात्सल्यादिक मानि।।2089।।

अर्थ :– संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, समता, भक्ति, दया और वात्सल्य – ये सम्यग्दृष्टि जीव के प्रमुख गुण हैं।

धर्म जिनेसुर कथित जो, जीवदयामय सार।
तासौं अधिक सनेह है, सो संवेग विचार।।2090।।

अर्थ :– भगवान जिनेन्द्र द्वारा कथित दयामयी धर्म में अधिक स्नेह होने का नाम संवेग है।

भव तन भोग समस्त तें, विरकत भाव अखेद।
सो दूजौ निरवेद गुण, करै कर्म कौ छेद।।2091।।

अर्थ :– हर्षपूर्वक संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होना दूसरा निर्वेग नाम का गुण है। यह कर्मों का उच्छेद करता है।

तीजौ निंदन गुण कह्यौ, निज कों निंदै जोइ।
मन मैं पछितावौ करैं, भव भरमण कौ सोइ।।2092।।

अर्थ :– अपनी स्वयं की निन्दा करना, दोष हो जाने पर मन में पश्चात्ताप होना तीसरा निन्दा नाम का गुण है। यह गुण भव-भ्रमण का नाश करता है।

चौथौ गरहा गुन महा, गुरु पै भाषै वीर।
अपने औगुन समकिती, नहीं छिपावै धीर।।2093।।

अर्थ :– धैर्यवान सम्यग्दृष्टि जीव अपने अवगुण नहीं छिपाता, अत: अपने यथावत् दोष गुरु से कह देना चतुर्थ गरहा नाम का महा गुण है।

पंचम उपशम गुण महा, उपशमता अधिकाय।
प्राण हरै ताहू थकी, वैर न चित्त धराय।।2094।।

अर्थ :– परिणाम अत्यन्त उपशम (शान्त) रूप हो जाना। कोई प्राण हरण भी करने लगे तो भी चित्त में उसके प्रति वैरभाव नहीं रखना पाँचवाँ उपशम नाम का महागुण है।

छट्टौ गुण भक्ति धरैं, सम्यकदृष्टि संत।
पंच परमपद की महा, धारै सेव महंत।।2095।।

अर्थ :– पंच परमेष्ठी की महान सेवा करना और उनके प्रति बहुमान के भाव रखना सम्यग्दृष्टि जीव का छठा भक्ति नाम का गुण है।

सप्तम गुण वात्सल्य जो, जिन धर्मिनि सों राग।
अष्टम अनुकंपा गुणों, जीवदया व्रत लाग।।2096।।

अर्थ :– साधर्मियों से अनुराग रखना सातवाँ वात्सल्य गुण है और जीवों के प्रति दया होना आठवाँ अनुकम्पा नाम का गुण है।

उक्तं च गाथा - (अन्यत्र भी कहा है) -

संवेओ णिव्वेओ, णिंदण गरुहा य उवसवो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा, अट्ठ गुणा हुंति सम्मत्ते।।

अर्थ :– संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा। सम्यग्दृष्टि जीव के ये आठ गुण हैं।

चौपाई

भव्यजीव चहुँगति के माहीं, पावै समकित संशय नाहीं।
पंचेन्द्री सैनी बिनु कोय और न सम्यग्दृष्टि होय।।2097।।

अर्थ :– चारों गति के भव्य जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है। तिर्यंच गति में सैनी पंचेन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है।

जब संसार अलप ही रहै, तब सम्यग्दर्शन कों गहै।
प्रथम चौकरी तीन मिथ्यात्व, ए सातों प्रकृति विख्यात।।2098।।

अर्थ :– जिनका संसार अल्प रह जाता है, उन्हीं को सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। प्रथम चौकड़ी और तीन मिथ्यात्व – ये सात प्रकृतियाँ विख्यात हैं।

इनके उपशम तैं जो होय, उपशम नाम कहावै सोय।
इनके क्षय तै क्षायिक नाम, पावै मनुष महागुण धाम।।2099।।

अर्थ :– इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व होता है, उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं और इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व होता है, उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। महागुणों के धारक मनुष्य ही इस क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं।

क्षायिक मनुष बिना नहिं लहै, क्षायिक तुरत ही भव–वन दहै।
केवल आदि मूल इह होय, क्षायिक सो नहिं सम्यक कोय।।2100।।

अर्थ :– क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ मनुष्य के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं होता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव शीघ्र (अधिक से अधिक चौथे भव में) ही भव रूपी वन का दहन कर देता है। क्षायिक सम्यक्त्व के सदृश और कोई सम्यक्त्व नहीं है; क्योंकि क्षायिक सम्क्त्व ही केवलज्ञान का मूल है।

अब सुनि क्षय–उपसम कौ रूप, तीन प्रकार कह्यौ जिनभूप।
प्रथम चौकरी क्षय है जहाँ, तीन मिथ्यात उपसमैं तहाँ।।2101।।
पहली क्षय–उपशम सो जानि, जिनवानी उर मैं परवानि।
प्रथम चौकरी पहल मिथ्यात, ए पाँचौं क्षय ह्वै दुखदात।।2102।।
द्वै मिथ्यात उपशमें जहाँ, दूजौ क्षय–उपशम है तहाँ।
प्रथम चौकरी द्वै मिथ्यात, ए षट क्षय होवैं जड़ तात।।2103।।

तृतिय मिथ्यात उपशमैं भया, तीजौ क्षय–उपशम सो लया।
वेदकसम्यक चार प्रकार, ताके भेद सुनों निरधार।।2104।।

अर्थ :– अब क्षयोपशम सम्यक्त्व का स्वरूप सुनो। जिनेन्द्र ने इसे तीन प्रकार का कहा है। जहाँ प्रथम चौकड़ी का क्षय (अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना) और तीनों मिथ्यात्व का उपशम होता है, वह प्रथम प्रकार का क्षयोपशम सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व मोहनीय मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाले जीवों के होता है। जिनवाणी के ये वचन हृदय में प्रमाण मानना चाहिए। प्रथम चौकड़ी और प्रथम मिथ्यात्व दुख देने वाली इन पाँच प्रकृतियों का जहाँ क्षय हो जाता है और शेष दो मिथ्यात्व का उपशम होता है, वह दूसरे प्रकार का क्षयोपशम सम्यक्त्व है। प्रथम चौकड़ी और दो मिथ्यात्वों का अर्थात् छह प्रकृतियों का क्षय और तीसरे मिथ्यात्व का उपशम जहाँ होता है, वह तीसरे प्रकार का क्षयोपशम सम्यक्त्व हैं। वेदक सम्यक्त्व चार प्रकार का है, सब इसके भेदों को सुना।

प्रथम चौकरी क्षय है जहाँ, दोय मिथ्यात उपशमैं तहाँ।
तृतिय मिथ्यात उदय जब होय, पहलौ वेदक जानौ सोय।।2105।।

अर्थ :– प्रथम चौकड़ी का क्षय, दो मिथ्यात्वों का उपशम तथा सम्यक्त्व प्रकृतिरूप एक मिथ्यात्व प्रकृति का जहाँ उदय होता है, वहाँ प्रथम प्रकार का वेदक सम्यक्त्व होता है।

प्रथम चौकरी प्रथम मिथ्यात, ए पाँचौं क्षय होय विख्यात।
द्वितीय मिथ्यात उपशमैं जहाँ, उदय होय तीजे कौ तहाँ।।2106।।
भेद दूसरौ वेदक तणों, जिनमारग अनुसारें भणों।
प्रथम चौकरी दो मिथ्यात, ए षट् प्रकृति होय जब घात।।2107।।
उदय तीसरौ मिथ्या होय, तीजौ वेदक कहिये सोय।
प्रथम चौकरी मिथ्या दोय, इन छहूँ को उपशम जब होय।।2108।।
उदय होय तीजौ मिथ्यात, सो चौथो वेदक विख्यात।
ए नव भेद सु सम्यक कहे, निकट भव्य जीवनि नें गहे।।2109।।

अर्थ :– प्रथम चौकड़ी और प्रथम मिथ्यात्व – इन पाँच प्रकृतियों का जहाँ क्षय होता है, द्वितीय मिथ्यात्व का उपशम और तृतीय मिथ्यात्व का उदय होता है, वह द्वितीय प्रकार का वेदक सम्यक्त्व है, जो यहाँ जिनागम के अनुसार ही कहा गया है। प्रथम चौकड़ी और दो प्रकार के मिथ्यात्व – इन छह प्रकृतियों का जहाँ घात हो जाता है और तीसरे प्रकार के मिथ्यात्व का उदय

होता है, वह तीसरे प्रकार का वेदक सम्यक्त्व होता है। प्रथम चौकड़ी और दो मिथ्यात्व – इन छह प्रकृतियों का उपशम और तीसरे मिथ्यात्व का उदय जहाँ होता है, वह चौथे प्रकार का वेदक सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के ये नव (1 + 1 + 3 + 4 = 9) भेद कहे हैं, निकट भव्य जीव ही सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं।

दोहा

क्षय–उपशम वरतै त्रिविध, वेदक च्यारि प्रकार।
क्षायिक उपशम भेलि करि, नवधा समकित धार।।2110।।

अर्थ :– क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तीन प्रकार का और वेदक सम्यक्त्व चार प्रकार का है। इनमें एक–एक प्रकार वाले क्षायिक और उपशम सम्यक्त्व और मिला देने पर सम्यक्त्व नौ प्रकार का होता है।

नवमे क्षायिक सारिखौ, समकित होय न और।
अविनाशी आनंदमय, सो सबकौ सिर मौर।।2111।।

अर्थ :– इन नौ प्रकार के सम्यक्त्वों में क्षायिक सम्यक्त्व के समान और कोई सम्यक्त्व नहीं है, यह क्षायिक सम्यक्त्व अविनाशी है, आनन्दमय है और सर्व सम्यक्त्वों का सिरमौर है।

पहली उपशम ऊपजै, पहली और न कोय।
उपशम के परसाद तें, पादे क्षायिक होय।।2112।।

अर्थ :– (अनादि मिथ्यादृष्टि को) सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व ही होता है। सर्वप्रथम और कोई भी सम्यक्त्व नहीं हो सकता है। उपशम सम्यक्त्व के प्रसाद से ही क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

टीका – उपशम से क्षयोपशम होता है, पश्चात् क्षायिक होता है। उपशम सम्यक्त्व से क्षायिक कभी नहीं हो सकता है।

क्षायिक बिनु नहिं कर्मक्षय, इह निश्चय परवानि।
क्षायिक दाकय सर्व ए, सम्यग्दर्शन मानि।।2113।।

अर्थ :– यह निश्चित है कि क्षायिक सम्यक्त्व के बिना कर्म क्षय नहीं हो सकता; अत: क्षायिक सम्यग्दर्शन ही सब कुछ देने वाला है। यह मानना चाहिए।

उपशमादि सम्यक्त सर्व, आदि अन्त जुत जानि।
क्षायिकौं नहिं अन्त है, सादि अनन्त बखानि।।2114।।

अर्थ :– उपशम सम्यक्त्व आदि और अन्त सहित है अर्थात् सादि-शान्त है। क्षायिक का अन्त नहीं है, अत: वह आदि-अनन्त है।

सम्यक्दृष्टि सर्व ही, जिनमारग के दास।
देव धर्म गुरु तत्त्व को, श्रद्धा अविचल भास।।2115।।

अर्थ :– सर्व सम्यग्दृष्टि जिनमार्ग के (अनुगामी) दास होते हैं। इनकी देव, धर्म, गुरु और सात तत्त्वों पर अविचल श्रद्धा होती है।

अनेकांत सरधा लिया, शांतभाव धर धीर।
सप्तभंग वाणी रुचै, जिनवर की गंभीर।।2116।।

अर्थ :– ये धीर शान्तभावधारी और अनेकान्त के श्रद्धालु होते हैं। इन्हें भगवान जिनेन्द्र की गम्भीर और सप्तभंगमय वाणी ही रुचिकर होती है।

जीव अजीवादिक सबै, जिन आज्ञा परवान।
जानै संशय रहित जो, धारै दृढ़ सरधान।।2117।।

अर्थ :– सम्यग्दृष्टि जीव संशय रहित होते हुए जिनेन्द्राज्ञानुसार ही जीव-अजीवादि सर्व तत्त्वों को जानते हैं और उसी पर दृढ़ श्रद्धा रखते हैं।।

सप्त तत्त्व षट् द्रव्य, नव पदार्थ परतक्ष।
अस्तिकाय है पंच ही, तिनकौ धारे पक्ष।।2118।।

अर्थ :– जो जिनेन्द्र के प्रत्यक्ष हैं, ऐसे सात तत्त्व, षट् द्रव्य, नौ पदार्थ और पाँच पंचास्तिकाय के ही ये पक्षधर होते हैं।

इष्ट पंच परमेष्ठि कौ और इष्ट नहिं कोय।
मिष्ट वचन बोले सदा, मनमैं कपट न होय।।2119।।

अर्थ :– इनके इष्ट पंच परमेष्ठी ही हैं। इन्हें अन्य कोई इष्ट नहीं होता। इनका मन निष्कपट होता है और ये सदा मीठे वचन ही बोलते हैं।

तजै अष्ट ही गर्व जो, है निगर्व गुणवान।
पुत्र-कलत्रादिक उपरि, ममता नाहिं बखान।।2120।।

अर्थ :– ये गुणवान आठ मदों का त्याग कर निर्गर्व रहते हैं। पुत्र-स्त्री आदि के ऊपर भी ममत्व भाव नहीं रखते हैं।

तृण सम मानै देह कों, निजसम जानै जीव।
धरै महा उपशांतता, त्यागै भाव अजीव।।2121।।

अर्थ :– ये अपनी शरीर को तृण-समान और सर्व प्राणियों को अपनी आत्मा के समान मानते हैं। जड़ (विभाव) भावों का त्याग कर महा उपशान्त भावों को धारण करते हैं।

सेवै विषयनि कों तऊ, नहीं विषय सूं राग।
वरतै गृह आरम्भ मैं, धारि भाव वैराग।।2122।।

अर्थ :– विषयों का सेवन अवश्य करते हैं, किन्तु विषयों से राग नहीं करते हैं। वैराग्यभाव रखते हुए ही गृह के आरम्भ-सारम्भ में वर्तन करते हैं।

कबै दशा वह होयगी, धरियेगा मुनिवृत्त।
अथवा श्रावक वृत्त ही करियेगा जु प्रवृत्त।।2123।।

अर्थ :– ये निरन्तर चिन्तन करते हैं कि मेरा ऐसा समय कब आयेगा, जब मैं मुनिव्रत धारण करूँगा अथवा श्रावक व्रत धारण करके प्रतिमा रूप व्रतों का पालन करूँगा।

धिग धिक अव्रतभाव कों, या सम और न पाप।
क्षणभंगुर विषया सबै, देहिं कुगति दुख ताप।।2124।।

अर्थ :– मेरे इस अव्रतभाव को धिक्कार है, धिक्कार है। इस अव्रत के समान और कोई पाप नहीं है। ये विषय क्षणभंगुर हैं और कुगतियों में अनेक दुख और सन्ताप देने वाले हैं। (सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा चिन्तन करता है।)।

इहै भावना भाव तो, भोगनि तैं जु उदास।
सो सम्यकदरसी भया पावै तत्त्व विलास।।2125।।

अर्थ :– वे सम्यग्दृष्टि जीव समदर्शी होकर तत्त्वों के विलास (सार) को प्राप्त कर लेते हैं और उपर्युक्त भावों से भावित होने के कारण भोगों से उदास रहते हैं।

सप्तम गुण के ग्रहण कों, रागी होय अपार।
साधुनिक की सेवा करै, सो सम्यक गुण धार।।2126।।

अर्थ :– सम्यक् गुणधारी वे भव्य सप्तम गुणस्थान को ग्रहण करने के अति अनुरागी होते हैं; अत: साधुओं की सेवा में संलग्न रहते हैं।

साधर्मिन सौं नेह अति, नहिं कुटुम्ब सौं नेह।
मन नहिं मोह-विलास मैं, गिनै न अपनी देह।।2127।।

अर्थ :– कुटुम्बियों से स्नेह नहीं रखते, किन्तु साधर्मियों से अति स्नेह रखते हैं। अपने शरीर को कुछ भी नहीं मानते और न मन में मोह–विलास ही रखते हैं।

जीव अनादि जु काल को, बसै देहमें एह।
बंध्यौ कर्म प्रपंचसों, भव मैं भ्रमौ अच्छेह।।2128।।

अर्थ :– यह जीव अनादिकाल से देह में निवास कर रहा है और कर्म–समूह से बँधा हुआ है; अत: संसार में निरन्तर भ्रमण कर रहा है।

त्याग जोग जगजाल सब, लेन जोग निजभाव।
इह जाके निश्चय भयौ, सो सम्यक परभाव।।2129।।

अर्थ :– जगत का सब जंजाल त्यागने योग्य है और अपना निजात्मभाव ग्रहण करने योग्य है, जिनको ऐसा निश्चय हुआ है, वह सब सम्यग्दर्शन का ही प्रभाव है।

भिन्न–भिन्न जानै सुधी, जड़–चेतन कौ रूप।
त्यागै देह सनेह जो, भावै भाव अनूप।।2130।।

अर्थ :– इसी सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ज्ञानी जन जड़ और चेतन के स्वभाव को भिन्न–भिन्न जानते हैं, शरीर से ममत्व त्याग देते हैं और अपने अनुपम आत्मस्वरूप की भावना भाते हैं।

क्षीर नीर की भाँति ये, मिलैं जीव अर कर्म।
नाहिं तथापि मिलैं कदै, भिन्न–भिन्न हैं धर्म।।2131।।

अर्थ :– जीव और कर्म दूध और पानी के सदृश मिले हुए हैं, किन्तु फिर भी कभी मिलते नहीं हैं; क्योंकि दोनों के स्वभाव धर्म भिन्न–भिन्न हैं।

यथा सर्प की कंचुकी, यथा खड्ग कौ म्यान।
तथा लखै बुध देह कों, पायौ आतमज्ञान।।2132।।

अर्थ :– जिन्हें आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है, ऐसे बुद्धिमान जन अपनी देह को आत्मा से उसी प्रकार भिन्न मानते हैं, जैसे कंचुकी सर्प से भिन्न है और खड्ग म्यान से भिन्न है।

दोष समस्त वितीत जो, वीतराग भगवान।
ता बिन दूजौ देव नहिं, इह धारै सरधान।।2133।।

अर्थ :– वीतराग भगवान के सर्व दोष व्यतीत हो चुके हैं; अत: उनके समान अन्य कोई और देव नहीं है। ऐसा श्रद्धान सम्यग्दृष्टि जीव ही धारण करता है।

सर्व जीव की जो दया, ताहि सरदहै धर्म।
गुरु माने निर्ग्रन्थ कों, जाके रंच न भर्म।।2134।।

अर्थ :– सब जीवों पर दया करना ही धर्म है और गुरु निर्ग्रन्थ ही हैं। ऐसा श्रद्धा रखता है। इसमें रंचमात्र भी भ्रम नहीं रखता है।

जपै देव अरहंत कों, दास भाव धरि धीर।
रागी दोषी देव की, सेव तजै वर वीर।।2135।।

अर्थ :– सम्यग्दृष्टि धीर पुरुष दास भाव से अरहन्त देव का ही जाप (पूजा) करते हैं। वे श्रेष्ठ वीर पुरुष रागी–द्वेषी देवों की सेवा का त्याग कर देते हैं।

रागी दोषी देव कों, जो मानै मतिहीन।
धर्म गिनै हिंसा विषैं, सो मिथ्या मत लीन।।2136।।

परिग्रह धारक कों गुरु, जो जानें जग माहिं।
सो मिथ्यादृष्टि महा, यामै संशय नाहिं।।2137।।

अर्थ :– जो बुद्धिहीन मनुष्य रागी–द्वेषी देवों की मान्यता करते हैं, हिंसा में धर्म मानते हैं और मिथ्यामत में लीन रहते हैं, परिग्रहधारियों को गुरु मानते हैं; वे नियमत: मिथ्यादृष्टि जीव हैं, इसमें किंचित् भी संशय नहीं है।

कुगुरु कुदेव कुधर्म कों, जो ध्यावै हिय अन्ध।
सो पावैं दुरगति दुखा, करै पाप कों बंध।।2138।।

अर्थ :– हृदय (विवेक) के अन्धे जो पुरुष कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा करते हैं, वे पाप का बंध करते हैं और दुर्गति में अत्यन्त दुख भोगते हैं।

सम्यग्दृष्टि चिंतवै, या संसार मंझार।
सुख कौ लेश न पाइये, दीखै दुख अपार।।2139।।

अर्थ :– सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा चिन्तन करते हैं कि इस संसार में सुख लेशमात्र भी प्राप्त नहीं होता है। अपार दुख ही दुख दिखाई देता है।

लक्ष्मी–दाता और नहिं, जीवनि कों जग माहिं।
लक्ष्मी दासी धर्म की, पाप थकी विनसाहि।।2140।।

अर्थ :– इस संसार में जीवों को लक्ष्मी देने वाला कोई नहीं है। लक्ष्मी तो धर्म की दासी है अर्थात् धर्म से लक्ष्मी आती है और पाप से विनश जाती है।

जैसौ उदय जु आवही, पूरब बांध्यौ कर्म।
तैसौ भुगतैं जीव सब, यामैं होय न भर्म।।2141।।

अर्थ :– पूर्व भव में जैसा कर्मबन्ध किया है, वैसा ही उदय आता है और वैसा ही फल सब जीव भोगते हैं। इसमें कोई भी संशय नहीं है।

पुण्य भलाई कार है, पाप बुराई कार।
सुख–दुखदाता होय यह और न कोई विचार।।2142।।

अर्थ :– पुण्य भलाई करने वाले हैं और पाप बुराई करने वाले हैं। ये दोनों ही सुख–दुख देने वाले हैं। इसमें अन्य कोई विचार योग्य नहीं है।

निमित मात्र पर जीव हैं, इह निहचै निरधार।
अपने कीये आप ही, फल भुगते संसार।।2143।।

अर्थ :– सर्व संसारी जीव अपने किये हुए फल को आप ही भोगते हैं, दूसरे जीव तो निमित्त मात्र ही हैं। यह नियमत: निर्णीत है।

पुण्य थकी सुर नर हुवै, पाप थ की भरमाय।
तिर नारक दुरगति विषै, भव–भव अति दुख पाय।।2144।।

अर्थ :– पुण्य योग से जीव देव और मनुष्य गति में जाते हैं और पाप योग से जीव तिर्यंच और नरक आदि दुर्गतियों में भ्रमण करते हैं तथा भव–भव में अत्यन्त दुख प्राप्त करते हैं।

पाप समान न शत्रु है, धर्म समान न मित्र।
पाप महा अपवित्र है, पुण्य कछुक पवित्र।।2145।।

अर्थ :– पाप समान कोई शत्रु नहीं है और धर्म समान कोई मित्र नहीं है, पाप महा अपवित्र है और पुण्य किंचित् पवित्र है।

पुण्य–पाप तें रहित जो, केवल आतम भाव।
सो उपाय निरवाण कौ, जामैं नहीं विभाव।।2146।।

अर्थ :– विभाव भाव से रहित और पुण्य–पाप से रहित जो केवल मात्र निज आत्मभाव है, वही निर्वाण का परम उपाय है।

झूठी माया जगत की, झूठौ सब संसार।
सत्य जिनेसुर धर्म है, जाकरि ह्वै भव–पार।।2147।।

अर्थ :– जगत की माया झूठी है और यह सब संसार झूठा है। केवल मात्र जिनेन्द्र देव का धर्म ही सत्य है; अत: इसी धर्म को धारण कर भव–समुद्र को पार किया जा सकता है।

व्यंतर देवादिकनि कों, जे शठ लक्ष्मी हेत।
पूजैं ते आपद लहैं, लक्ष्मी देय न प्रेत।।2148।।

अर्थ :– जो मूर्ख धन प्राप्ति के लिए व्यन्तर आदि देवों की पूजा करते हैं, वे आपत्ति ही मोल लेते हैं; क्योंकि कोई भी प्रेत लक्ष्मी आदि नहीं देते हैं।

भक्ति किये पूजा थके, जो व्यन्तर धन देय।
तौ सब ही धनवन्त ह्वै, जग जन तिनकों सेय।।2149।।

अर्थ :– भक्ति और पूजा करने मात्र से यदि व्यन्तर आदि देव धन देते हैं तो उनकी सेवा करने वाले सर्व जगत–जन को धनवान होना चाहिए।

क्षेत्रपाल चंडी प्रमुख, पुत्र कलत्र धनादि।
देन समर्थ न कोइ कों, पूजैं शठ जन बादि।।2150।।

अर्थ :– क्षेत्रपाल और चण्डी आदि प्रमुख कोई भी देव धन, पुत्र एवं स्त्री आदि देने में समर्थ नहीं हैं; अत: मूर्ख जन इनकी पूजन व्यर्थ ही करते हैं।

जो भवितव्यता जीव कौ, जा वियधान करि होय।
जाहि क्षेत्र जा काल मैं, नि:संदेह ह्वै सोय।।2151।।

अर्थ :– जिस जीव के जिस काल में, जिस क्षेत्र में ओर जिस विधान से जैसी भवितव्यता होनी है, नि:संदेह वही होगी।

जान्यौ जिनवरदेव ने, केवलज्ञान मंझार।
होनहार संसार कौ, ता विधि ह्वै निरधार।।2152।।

अर्थ :– संसारी जीवों की जो होनहार जिनेन्द्र देव ने अपने केवलज्ञान में जानी है, वह उसी विधि से होती है।

इह निश्चय जाके भयौ, सो नर सम्यकवन्त।
लखै भेद षट् द्रव्य के, भावै भाव अनन्त।।2153।।

शंका भागी चित्त तें, भयो निशंकित वीर।
गुण परजाय स्वभाव निज, लखैं आप मैं धीर।।2154।।

अर्थ :– ऐसा निश्चय जिसके मन में होता है, वही मनुष्य सम्यक्त्ववान होता है। जो षट् द्रव्यों के भेदों को देखता है और उसके अनन्त भावों को भाता है तथा जिसके चित्त से शंका निकल जाती है, वही वीर नि:शंकित है। वह धीर अपने आप में अपनी निज आत्मा की गुण–पर्यायों को देखता है।

दृढ़ प्रतीत जिनवैन की, सम्यकदृष्टि सोय।
जाकै संशय जीव में, सो मिथ्याती होय।।2155।।

अर्थ :– जैनागम में दृढ़ श्रद्धा रखने वाला सम्यग्दृष्टि होता है और जैनागम में शंका रखने वाला मिथ्यादृष्टि होता है।

सोरठा

जो नहिं समझी जाय, जिनवाणी अति सूक्षमा।
तो ऐसे उर लाय, संदेह न मन आनै सुधी।।2156।।

बुद्धि हमारी मन्द, कछु समझैं कछु नाहिं।
जो भाष्यौ जिनचंद, सो सब सत्य स्वरूप है।।2157।।

अर्थ :– जिनागम में प्रतिपादित अति सूक्ष्म प्रमेय जो हमारी समझ में नहीं आते हैं, उसमें भी बुद्धिमान जन संदेह नहीं करते हैं, अपितु अपने हृदय में ऐसा विचार करते हैं कि हमारी बुद्धि मंद है; अत: जिनागम की कुछ बातें समझ में आती हैं और कुछ समझ में नहीं आती हैं, किन्तु फिर भी भगवान जिनेन्द्र देव ने अपनी वाणी से जो कहा है, वह सब सत्य स्वरूप है।

उदय होयगो ज्ञान, अब आवरणु नसाइगौ।
प्रगटेगौ निज ध्यान, तब सब जानी जायगी।।2158।।

अर्थ :– अभी ज्ञानावरण कर्म का उदय है, ज्ञानावरण कर्म का नाश होकर जब निज ध्यान से ज्ञान प्रकट होगा, तब सर्व प्रमेय जानने में आ जायेंगे।

जिनवानी सम और, अमृत नहिं संसार में।
तीन भुवन सिरमौर, हरै जन्म जर–मरण जो।।2159।।

अर्थ :– जिनवाणी के समान अमृत इस संसार में और कोई नहीं है। जिनवाणी तीन भुवन की सिरमौर है और जन्म–मरण को हरण करने वाली है।

जिनधर्मिनि सों नेह, लग्यौ नेह जिनधर्म सू।
बरसै आनन्द मह, भक्त भयो जिनराज को।।2160।।

अर्थ :– जिन्हें जैनधर्म से लगाव लग गया है, उनका जैन–धर्मावलम्बियों के प्रति भी बहुत स्नेह होता है, वे जिनराज के भक्त होते हैं और उनके हृदय में आनन्दरूपी मेघ की वर्षा होती रहती है।

सो सम्यक् धरि धीर, लहै निजातम भावना।
पावै भवजल तोर, दरसन ज्ञान चरित्त तैं।।2161।।

अर्थ :– जो धीर सम्यक्त्व को धारण कर निजात्मा की भावना को प्राप्त कर लेते हैं, वे दर्शन, ज्ञान और चारित्र के माध्यम से संसार–समुद्र को पार कर लेते हैं।

ऋद्धिनि में बड़ ऋद्धि, रतननि में रतन जु महा।
या मस और न सिद्धि, यह निश्चय धारौ भया।।2162।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन ऋद्धियों में सर्व महान ऋद्धि है और रत्नों में महारत्न है, इसके समान और कोई सिद्धि नहीं है। यह निश्चय धारण करो।

योगिनि में निज योग, सम्यक् दरसन जानि तू।
हनै सदा सब शोक, है आनन्दमयी महा।।2163।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन सर्व योगों में निज योग है। ऐसा तू जान। यह सदा सर्व शोक का हरण करने वाला है और महा आनन्दमयी है।

जोगीरासा

वन्दनीक है सम्यग्दृष्टि, यद्यपि व्रत न कोई।
निन्दनीक है मिथ्यादृष्टि, जों तपसी हू होई।।
मुक्ति न मिथ्यादृष्टि पावै, तपसी पावै स्वर्गा।
ज्ञानी व्रत बिना सुरपुर ले, तपधरि ले अपवर्गा।।2164।।

अर्थ :– यद्यपि व्रत नहीं है, फिर भी सम्यग्दृष्टि वन्दनीक है और भले तपस्वी है, किन्तु यदि मिथ्यादृष्टि है तो निन्दनीय है। मिथ्यादृष्टि जीव मोक्ष नहीं जाते हैं, तपस्वी स्वर्ग जाते हैं। व्रत बिना सम्यग्ज्ञानी जीव स्वर्ग जाते हैं और भावलिंगी तपस्वी मोक्ष जाते हैं।

दुरगति बन्ध करै नहिं ज्ञानी, सम्यकभावनि माहीं।
मिथ्याभावनि में दुरगति को, बन्ध होय बधि नाहीं।
समकित बिन नहिं श्रावकव्रत्ती, अर मुनिव्रत हू नाहीं।
मोक्ष हु सम्यक् बाहिर नाहीं, सम्यक आपहि माहिं।।2165।।

अर्थ :– सम्यग्भावों से युक्त ज्ञानी पुरुष दुर्गति का बन्ध नहीं करते हैं। मिथ्या भावों से युक्त जीव दुर्गति का बंध करते हैं। सम्यक्त्व बिना जीव ज्ञानी नहीं होता, व्रती श्रावक नहीं होता और महाव्रती भी नहीं होता है। मोक्ष सम्यक्त्व के बाहर नहीं है और सम्यक्त्व अपने आप में ही है।

अंग निशंकित आदि जु अष्टा, धारै सम्यक सोई।
शंका आदि दोष मल रहिता, निरमल दरशन होई।।
जिनमारग भाषै जु अहिंसा, हिंसा परमत भाषै।
हिंसा मारग की तजि सरधा, दयाधर्म दृढ़ राखै।।2166।।

अर्थ :– जो नि:शंकित आदि आठ अंगों को धारण करते हैं, वही सम्यग्दृष्टि होते हैं। जो सम्यग्दर्शन शंकादि दोष एवं मल रहित होता है, वही निर्मल होता है। जिनमार्ग अहिंसा को प्रोत्साहन देता है और परमत हिंसा को कहता है। हिंसा मार्ग का त्याग कर दयाधर्म में ही दृढ़ श्रद्धा रखना चाहिए।

संदेह न जाके जिय माहीं, स्यादवाद कौ पंथा।
पकरै त्यागि एक नयवादी, सुनै जिनागम ग्रन्था।।
पहली अंग निशंसै सोई, दूजौ कांक्षा रहिता।
जामैं जगकी वांछा नाहीं, आतम अनुभव सहिता।।2167।।

अर्थ :– स्याद्वाद का मार्ग पकड़ कर जो एकान्तवाद का त्याग कर देते हैं और जैनागम के ग्रन्थों को सुन कर जिनके हृदय में संदेह नहीं रहता है, उनके पहला नि:शंकित अंग होता है। जो आत्मानुभव सहित हैं और जगत की वांछा जिनके नहीं है, उनके कांक्षा रहित नि:कांक्षित अंग है।

शुभकरणी करि फल नहिं चाहै, इहभव परभव के जो।
करै कामना–रहित जु धर्मा, ज्ञानामृत फल ले जो।।
इह भाष्यौ नि:कांक्षित अंगा, अब सुनि तीजै भेदा।
निरविचिकित्सा अंग है भाई, जा करि भव–भ्रम छेदा।।2168।।

अर्थ :– शुभ कार्य करके जो इस भव और पर–भव सम्बन्धी किसी भी फल की वांछा नहीं करते हैं, कामना रहित होकर धर्मकार्य करते हैं और ज्ञानामृत का ही फल प्राप्त करते हैं, वह नि:कांक्षित अंग कहा गया है। अब हे भाई! तीसरा निर्विचिकित्सा अंग सुनो, जो भव–भ्रमण का छेद करने वाला है।

जे दश लक्षण धर्म धरैया, साधु शांतरस लीना।
तिनकौ लखि रोगादिक युक्ता, सेव करै परवीना।।

सूग न आनै मन मैं क्यूं ही, हरै मुनिनिकी पीरा।
सो सम्यग्दृष्टि जिनधर्मा, तिरै तुरत भवनीरा।।2169।।

अर्थ :– दशलक्षण धर्म को धारण करने वाले तथा शांत रस में लीन रहने वाले साधुजनों को रोग युक्त देख कर, चतुर मनुष्यों के द्वारा उनकी जो सेवा की जाती है। ग्लानि रहित मन से जिस किसी प्रकार से भी मुनिराजों की पीड़ा को जो हरण करते हैं, वे जैनधर्मावलम्बी सम्यग्दृष्टि हैं और वे शीघ्र ही भव–समुद्र से तिर जाते हैं।

चौथौ अंग अमूढ़ स्वभावा, नहीं मूढ़ता जाकै।
जीवघातमैं धर्म न जानै, संशय मोह न ताके।।
अति अवगाढ़ गाढ़ परतीती, कुगुरु कुदेव न पूजै।
जिनशासन कौ शरणो ले करि, जाय न मारग दूजै।।2170।।

अर्थ :– अमूढ़ स्वभाव वाला चौथा अंग है। जिनके मूढ़ता नहीं होती है, जो जीव घात में धर्म नहीं मानते हैं, जिनके हृदय में संशय–मोह नहीं हैं, जो कुगुरु और कुदेव की पूजा नहीं करते। ऐसे जीवों की जैनधर्म में गाढ़ और अवगाढ़ रूप से श्रद्धा रहती है, वे जैनशासन की ही शरण ग्रहण करते हैं, अन्य मार्ग में अर्थात् अन्य मत में नहीं जाते हैं।

जानै जीवदया मैं धर्मा, दया जैन ही माहीं।
आन धर्म मैं करुणा नाहीं, परतछ जीव हताई।।
जो शठ लज्जा लोभ तथा, भय करि के हिंसा माहीं।
मानै धर्म सो हि मिथ्याती, जामैं समकित नाहीं।।2171।।

अर्थ :– वे जीव–दया को ही धर्म मानते हैं। जैनधर्म में ही दया का प्रतिपालन होता है, अन्य धर्मों में करुणा नहीं है, वहाँ तो प्रत्यक्ष में ही जीवों का घात करते हैं। जो मूर्ख लज्जा, लोभ तथा भय से भी हिंसा में धर्म मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। उनमें सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है।

पंचम अंग नाम उपगूहन, ताकौ सुनहु विवेका।
पर जीवनिकें आंखिनि देखैं, ढांकै दोष अनेका।।
आप जु दोष करै नहिं ज्ञानी, सुकृत रूप सदा ही।
अपने सुकृत नाहिं प्रकाशै, धरै न एक मदा ही।।2172।।

अर्थ :– पाँचवाँ अंग उपगूहन है। हे विवेकी जनो! अब उसे सुनो। आँखों से प्रत्यक्ष रूप में ही देखे हुए दूसरे के अनेक दोषों को जो ढँकते हैं और स्वयं कभी कोई दोष नहीं करते हैं, वे ज्ञानी

सदा सुकृत रूप ही रहते हैं, कभी अपने सुकृत प्रकाशित नहीं करते हैं और न ही उस सुकृत कार्यों का मद ही करते हैं।

दोहा

ढांकै अपने शुभ गुण, ढाके पर के दोष।
गावै गुण परजीव के, रहै सदा निरदोष।।2173।।

अर्थ :– जो अपने गुणों को ढँकते हैं और पर के दोषों को ढँकते हैं। स्वयं सदा निर्दोष रहते हैं और पर के गुणों की प्रशंसा करते रहते हैं।

जो कदाचि दूषण लगै, मन वच काय करेय।
तौ गुरु पै परकाशि कै, ताकौ दंड जु लेय।।2174।।

अर्थ :– यदि क्वचित् कदाचित् मन, वचन या काय से कोई दूषण लग भी जाये तो गुरु से यथावत् कह कर उसका प्रायश्चित्त लेते हैं।

जप तप व्रत दानादि कर, दूषण सर्व हरेय।
करै जु निंदा आपकी, परनिंदा न करेय।।2175।।

अर्थ :– जप, तप, व्रत और दान आदि द्वारा लगे हुए दोषों को दूर करते हैं, अपनी निन्दा करते हैं; पर की निन्दा कभी नहीं करते हैं।

जे परकासै परके, औगुन तेहि अयान।
जे परकासैं आपके, औगुन तेहि सयान।।2176।।

अर्थ :– जो पर-अवगुणों को प्रकाशित करते हैं, वे मूर्ख हैं और जो अपने अवगुणों का प्रकाशन करते हैं, वे ही चतुर हैं।

जे गावैं गुन अपने, ते मिथ्याती आनि।
जे गावैं गुन गुरुनि के, ते सम्यदृष्टि जानि।।2177।।

अर्थ :– जो अपने गुण गाते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं और जो गुरुजनों के गुणों का कीर्तन करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं।

छट्ठो अंग कहों अबै, थिरकरणा गुणवान।
धर्म थकी विचलेनि कूं प्रतिबोधै मतिवान।।2178।।

अर्थ :– अब गुणों के भण्डार स्वरूप स्थिति करण नाम के छठे अंग को कहता हूँ। यह अंग

धर्म से विचलित होने वालों का प्रतिबोध प्राप्त करता है।

थापैं धर्म मंझार जो, करै धर्म की पक्ष।
आप डिगै नहिं धर्म तैं, भावै भाव अलक्ष।।2179।।

अर्थ :– जो धर्म का पक्ष लेते हैं, विचलित होने वाले को धर्म में स्थित करते हैं और आप कभी धर्म से नहीं डिगते तथा अपूर्व भावों को भाते हैं।

थिरता गुण सम्यक् कौ, प्रकट बात है एक।
चित्त अथिरता रूप जो, तौ मिथ्यात गिनेह।।2180।।

अर्थ :– निर्णीत बात एक ही है कि जहाँ स्थिरता गुण है, वहीं सम्यक्त्व है और जहाँ चित्त में अस्थिरता है, वहाँ मिथ्यात्व ही माने।

सुनों सातमूं अंग अब, जिन मारग सों नेह।
जिनधर्मी कूं देखि करि, बरसै आनन्द मेह।।2181।।

अर्थ :– अब सातवाँ अंग सुनो। इस अंग वालों को जिनमार्ग से स्नेह होता है, जिनधर्मी को देखकर उनके हृदय में आनन्द रूप मेघ बरसने लगते हैं।

तुरत जात बछरानि परि, नेह धरैं ज्यूं गाय।
त्यूं यह साधर्मी उपरि, नेह करै अधिकाय।।2182।।

अर्थ :– जैसे सद्य:प्रसूता गाय अपने बालक पर सहज स्नेह करती है, वैसे ही वे साधर्मियों के ऊपर अधिकाधिक स्नेह रखते हैं।

जे ज्ञानी धरमातमा, मुनि श्रावक व्रतवंत।
आर्या और सुश्राविका, चउविधि संघ महंत।।2183।।
तथा अव्रती समकिती, जिनधर्मी जग माहिं।
तिनसों राखै प्रीति जो, या मैं संशय नाहिं।।2184।।

अर्थ :– जो ज्ञानी हैं, धर्मात्मा हैं, मुनि हैं, व्रतवान श्रावक हैं, आर्यिका हैं, उत्तम श्राविका हैं, चतुर्विध संघ के जो महंत (आचार्य) हैं और जो अव्रती सम्यग्दृष्टि हैं तथा जग में जो-जो जैनधर्मावलम्बी हैं, उन सब पर वह प्रीति रखते हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।

तन मन धन जिनधर्म परि, जो नर वारै डारि।
सो वात्सल्य जु अंग है, भाख्यौ सूत्र विचारि।।2185।।

अर्थ :– जो मनुष्य अपना तन, मन और धन सब कुछ जैनधर्म पर न्योछावर कर देते हैं, वे ही वात्सल्य अंग के धारी होते हैं। ऐसा जिनागम ने कहा है।

अष्टम अंग प्रभावना, कह्यौ सुनों धरि कान।
जा विधि सिद्धान्तनि विषै, भाख्यौ श्रीभगवान।।2186।।

अर्थ :– अष्टम अंग प्रभावना है। भगवान जिनेन्द्र ने जैसा कहा है और आगम में उसकी जो विधि प्रतिपादित है, मैं उसी प्रकार कह रहा हूँ; सो आप एकाग्र मन से सुनें।

भाँति–भाँति करि भासई, जिनमारग कों जो हि।
करै प्रतिष्ठा जैन की, अंग आठमो होहि।।2187।।

अर्थ :– जैनमार्ग को अनेकानेक प्रकार से कहा गया है। ऐसे इस जैनधर्म की प्रतिष्ठा करना आठवाँ प्रभावना अंग है।

जिनमंदिर जिनतीरथा, जिनप्रतिमा जिनधर्म।
जिनधर्मी जिनसूत्र की, करै सेव बिन भर्म।।2188।।

अर्थ :– निःशंक होते हुए जिनमन्दिर, जिनतीर्थ, जिनप्रतिमा, जैनधर्म, जिनधर्मी और जिनागम की सेवा करें।

जो अति श्रद्धा करि करैं, जिनशासन की सेव।
बोलै प्रिय वाणी महा, ताहि प्रशंसै देव।।2189।।

अर्थ :– जो अत्यन्त श्रद्धापूर्वक जिन–शासन की सेवा करते हैं और प्रिय वाणी बोलते हैं, उनकी प्रशंसा देव भी करते हैं।

जो दशलक्षण धर्म की, महिमा करै सुजान।
इन्द्रिन के सुख कों गिनै, नरक निगोद निसान।।2190।।

अर्थ :– जो सुबुद्धि जन, इन्द्रिय सुखों को नरक निगोद की निशानी मानते हैं और दशलक्षण धर्म की महिमा करते हैं, वे प्रभावना अंग के धारी हैं।

कथनी करै न पारकी, पुनि–पुनि ध्यावै तत्त्व।
भावै आतमभाव जो, त्यागै सर्व ममत्व।।2191।।

अर्थ :– जो विकथाएँ नहीं करते हैं, बार–बार तत्त्वों का ही ध्यान करते हैं और सर्व ममत्व त्याग कर आत्मभाव को ही भाते हैं, वे ही प्रभावना अंग धारी हैं।

कहे अंग ये प्रथम ही, मूलगुणनि के माहिं।
अब हू पड़िमा मैं कहै, इन सम और जु नाहिं।।2192।।

अर्थ :– ये आठों अंग सर्वप्रथम मूलगुणों के प्रकरण में कहे गये हैं। अब प्रतिमा (रूपी व्रत) के विषय में पुन: कहे जा रहे हैं; क्योंकि इनके समान और कोई नहीं है।

बार–बार थुति जोग ये, सम्यकदरसन अंग।
इनकों धारै सो सुधी, करै कर्म कौ भंग।।2193।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन के अंग होने से ये बार–बार स्तुति के योग्य हैं। जो बुद्धिमान इन्हें धारण करते हैं, वे नियमत: कर्मों का नाश करते हैं।

अष्ट अंग कौ धारिवौ, अष्ट मदिनि कौ त्याग।
षट् अनायतन त्यागिवौ, अतीचार नहिं लाग।।2194।।

ते भाषै गुरु पंच विधि, बहुरि मूढ़ता तीन।
तजिवौ सातों व्यसन कौ, भय सातौं नहिं कीन।।2195।।

ए सब पहले हू कहै, अब हू भाषे वीर।
बार–बार सम्यक्त्व की, महिमा गावैं धीर।।2196।।

अर्थ :– अष्ट अंग धारण करना, अष्ट मदों का त्याग, छह अनायतनों का त्याग, तीन मूढ़ताओं का त्याग और पाँचों अतिचारों का त्याग ये पाँच प्रकार श्री गुरुदेव ने कहे हैं। सात व्यसन और सातों भय का भी त्याग करना। ये सब पहले कहे जा चुके हैं। हे वीर! इन्हें अब पुन: कहा जा रहा है; क्योंकि धीर पुरुष ही बार–बार सम्यक्त्व की महिमा को गाते हैं।

अंग निशंकित आदि बहु, अठ गुण संवेगादि।
अष्ट मदनि कौ त्याग पुनि, अर वसु मूलगुणादि।।2197।।

सात व्यसनकौ त्यागिवौ, अर तजिवौ भय सात।
तीन मूढ़ता त्यागिवौ, तीन शल्य पुनि भ्रात।।2198।।

षट् अनायतन त्यागिवौ, अर पाँचों अतिचार।
ए त्रेसठ त्यागै जु कोउ, सो समदृष्टि सार।।2199।।

अर्थ :– नि:शंकित आदि आठ मदों का त्याग, सप्तव्यसन त्याग, सप्तभय त्याग, तीन मूढ़ता और तीन शल्यों का त्याग, छह अनायतनों का त्याग और पाँच अतीचारों का त्याग इन (8+8+8+7+7+3+3+6+5=63) त्रेसठ का यथायोग्य पालन एवं त्याग करने वाला ही सम्यग्दृष्टि

होता है।

चौथे गुणठाणें तनी, कही बात ए भ्रात।
है अव्रत परि जगत में, विरकित रूप रहात।।2200।।

अर्थ :– हे भ्रात! यह सब विषय चतुर्थ गुणस्थान की कही गयी है। ये अव्रती होते हैं, किन्तु इस जगत से विरक्त स्वरूप ही रहते है।

नहिं चाहै अव्रत दशा, चाहे व्रत–विधान।
मन में मुनिव्रत की लगन, सो नर सम्यकवान।।2201।।

अर्थ :– जो अव्रत अवस्था में रहना नहीं चाहते, व्रतों को धारण करना चाहते हैं और जिनके मन में मुनिव्रत धारण करने की ही लगन लगी रहती है, वे ही मनुष्य सम्यग्दृष्टि होते हैं।

जैसे परकरयौ चोर कूं, दे तलवर दुख घोर।
परवश वध बन्धन सहै, नहीं चोर कौ जोर।।2202।।

त्यूं हि अप्रत्याख्यान ने, पकरयौ सम्यकवन्त।
परवश अव्रत में रहै, चाहै व्रत महन्त।।2203।।

अर्थ :– जैसे कोतवाल चोर को पकड़ कर भयंकर कष्ट देता है। उस चोर का कोई जोर नहीं चल पा रहा है, वह परवश होकर ही वध–बन्धन आदि के अनेक दुख सहन कर रहा है; उसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण कषाय ने सम्यग्दृष्टि को पकड़ रखा है, वह महान व्रतों को धारण करने की भावना रखता है, किन्तु परवशता से अव्रत अवस्था में रह रहा है।

चाहै चोर जु छूटिवाँ, यथा बन्ध तें वीर।
चाहै गृह तै छूटिवाँ, त्यों सम्यक धर धीर।।2204।।

अर्थ :– जैसे वह बलिष्ठ चोर बन्धन से छूटना चाहता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि धीर पुरुष गृहवास से छूटना चाहता है।

सात प्रकृति के त्याग तें, जेती घिरता जोय।
तेती चौथे ठाणि है, इह जिन आज्ञा होय।।2205।।

अर्थ :– सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय एवं क्षयोपशम से जितनी स्थिरता प्राप्त होती है, उतनी स्थिरता चतुर्थ गुणस्थान में होती है। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

।। अथ ग्यारह व्रत वर्णन ।।

दोहा

ग्यारा प्रकृति वियोग तैं, होय पंचमो ठाण।
तब पड़िमा धारै सुधी, एकादश परिमाण।।2206।।

अर्थ :– ग्यारह प्रकृतियों के वियोग से पाँचवाँ गुणस्थान होता है, तब वह जीव ग्यारह प्रतिमा तक धारण करता है।

तिनके नाम सुनों सुधी, जा विधि कहै जिनंद।
धारैं श्रावक धीर जे, तिन सम नाहिं नरिंद।।2207।।

अर्थ :– हे सुधी! जिनेन्द्र भगवान ने जैसे कहे हैं, वैसे ही उनके नाम सुनो। इन्हें धैर्यवान श्रावक की धारण करते हैं और उन व्रती श्रावकों के समान और कोई राजा नहीं है।

दरसन प्रतिमा प्रथम है, दूजी व्रत अधिकार।
तीजी सामायिक महा, चौथी पोसह धार।।2208।।
सचित्तत्याग है पंचमी, छट्ठी दिन–तिय–त्याग।
तथा रात्रि–अनसन व्रती, धारै तपसों राग।।2209।।

अर्थ :– पहली दर्शन प्रतिमा है, दूसरी व्रत, तीसरी सामायिक, चौथी प्रोषधोपवास, पाँचवीं सचित्त त्याग, छठी दिवामैथुनत्याग अथवा रात्रिभुक्ति त्याग – इन प्रतिमाओं के तप के अनुराग से धारण करते हैं।

जानों पड़िमा सातवीं, ब्रह्मचर्य व्रत धार।
तजी नारि नागिन गिनै, तजै मोह जंजार।।2210।।

अर्थ :– पश्चात् नारी को नागिन–सदृश समझकर स्त्रीमात्र का त्याग कर देते हैं और मोह जंजाल को भी छोड़कर सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करते हैं।

निरारंभ ह्वै अष्टमी, नवमी परिग्रह त्याग।
लौकिक वचन न बोलिवौ, सो दशमी बड़भाग।।2211।।

अर्थ :– आरम्भत्याग आठवीं, परिग्रहत्याग नवमी और लौकिक वचन न बोलना, यह दसवीं प्रतिमा है, इसे पुण्यवान जीव ही धारण करते हैं।

एकादशमी दोय विधि, क्षुल्लक ऐलि विवेक।
है उदंडाहार द्वै, तिनमैं मुनिव्रत एक।।2212।।

अर्थ :– ग्यारह प्रतिमा के क्षुल्लक और ऐलक के भेद से दो प्रकार हैं। मुनिव्रत के समान ये दोनों भी अनुद्दिष्ट आहार ही ग्रहण करते हैं।

ऐलि महा उतकृष्ट हैं, ऐलि समान न कोय।
मुनि आर्या अर ऐलि ए, लिंग तीन शुभ होय।।2213।।

अर्थ :– ऐलक सर्वोत्कृष्ट श्रावक हैं, इसके समान और कोई नहीं है। मुनि, आर्यिका और ऐलक – ये तीन ही लिंग शुभ कहे हैं।

भाषी एकादश सबे, प्रतिमा नाम जु मात्र।
अब इनकौ विस्तार सुनि, ए सब मध्य सुपात्र।।2214।।

अर्थ :– अभी ग्यारह प्रतिमाओं के नाम मात्र कहे हैं। अब इनका विस्तार सुनो। ये सब मध्यम सुपात्र कहलाते हैं।

चौपाई

प्रथम हि दरशन प्रतिमा सुणों, आतमरूप अनूप जु मुणों।
दरशन मोक्ष–बीज हैं सही, दरशन करि शिव परसन लही।।2215।।

अर्थ :– अब पहली दर्शन प्रतिमा का स्वरूप सुनो। इसमें अपने आत्मस्वरूप की श्रद्धा होती हे। सम्यग्दर्शन मोक्ष का बीज है। सम्यग्दर्शन से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

दरशन सहित मूलगुण धरै, सात व्यसन मन वच तन हरै।
बिन अरहंत देव नहिं कोय, गुरु निर्ग्रन्थ बिना नहिं होय।।2216।।
जीवदया बिन और न धर्म, इह निहचै करि टारै भर्म।
संजम बिन तप होय न कदा, इह प्रतीति धारै बुध सदा।।2217।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन सहित अष्ट मूलगुण धारण करते हैं और मन, वचन एवं काय से सप्त व्यसनों का त्याग करते हैं। अरहन्त देव के अतिरिक्त कोई देन नहीं है, निर्ग्रन्थ गुरु के बिना कोई गुरु नहीं है और जीवदया के अतिरिक्त कोई धर्म नहीं है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा से भ्रम का निवारण कर देते हैं तथा वह बुद्धिमान सदा ऐसी श्रद्धा रखते हैं कि संयम के बिना तप कदापि नहीं हो सकता है।

पहली प्रतिमा कौ सो धनी, दरशनवन्त कुमति सब हनी।

आठ मूलगुण व्यसन जु सात, भाषै प्रथम कथन मैं भ्रात।।2218।।

तातैं कथन कियौ अब नाहिं, श्रावक बहु आरम्भ तजाहिं।
है स्वारथ मैं सांचों सदा, कूट कपट धारै नहिं कदा।।2219।।

अर्थ :– हे भ्रात! जो दर्शन प्रतिमा के धारी होते हैं, वे कुमति का नाश कर देते हैं और आठ मूलगुण धारण करते हैं एवं सप्त व्यसन का त्याग करते हैं। इन दोनों का कथन पहले कर आये हैं; इसलिए अब यहाँ नहीं कर रहे हैं। व्रती श्रावक बहुत आरम्भ का त्याग कर देते हैं, अपने स्वार्थ हेतु भी सदा सत्य व्यवहार करते हैं। कभी भी कूट, कपट धारण नहीं करते हैं।

धरै शुद्ध व्यवहार सुधीर, परपीड़ा हरहै जगवीर।
सम्यक्दर्शन दृढ़ करि धरै, पापकर्म की परिणति हरै।।2220।।

अर्थ :– वे धीर-वीर सबसे शुद्ध व्यवहार करते हैं, पर की पीड़ा का हरण करते हैं, पापरूप परिणति का त्याग कर देते हैं और सम्यग्दर्शन को दृढ़ता से धारण करते हैं।

क्रय विक्रय मैं कसर न होय, लेन देन मैं कपट न होय।
कियौ करार न लोपै जोहि, सो पहिली पड़िमा गुण होहि।।2221।।

अर्थ :– क्रय-विक्रय में हीनाधिक नहीं करते हैं, लेन-देन में कपट नहीं करते और दिये हुए वचन का लोप नहीं करते। ये पहली प्रतिमा के गुण हैं।

जाके उर कालिम नहिं रंच, जाके घट मैं नाहिं प्रपंच।
जिनपूजा जप तप व्रत दान, धर्मध्यान धारे हि सुजान।।2222।।

अर्थ :– जिसके हृदय में रंचमात्र कालिमा नहीं है, रंचमात्र प्रपंच नहीं है और जो सज्जन जिनपूजा, जप, तप, व्रत और दानादि रूप धर्मध्यान में लगे रहते हैं।

गुण इकतिस प्रथम जे कहै, ते पहली पड़िमा मैं लहै।
अब सुनी दूजी पडिमाधार, द्वादश व्रत पालै अविकार।।2223।।

अर्थ :– पहले जो इकतीस गुण कहे जा चुके हैं, वे पहली प्रतिमा को जाने। अब दूसरी प्रतिमा को सुनो। इसमें बारह व्रत निरतिचार पालन किये जाते हैं।

पंच अणुव्रत गुणव्रत तीन, शिक्षाव्रत धारै परवीन।
निरतिचार महामतिवान, जिनकौ पहले कियौ बखान।।2224।।

अर्थ :– पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत – इनका विवेचन पहले किया जा

चुका है। जो महा बुद्धिमान इन बारह व्रतों का पालन करते हैं, वे व्रती हैं।

अब तीजी पड़िमा सुनि संत, सामायिक धारी गुणवन्त।
मुनि सम सामायिक की वार, थिरता भाव अतुल्य अपार।।2225।।

अर्थ :– अब तीसरी प्रतिमा का लक्षण सुनो। जो गुणवन्त श्रावक सामायिक प्रतिमा धारण करते हैं, वे मुनिराज के सामायिक का जो समय है, उसी समय अतुल्य स्थिर भावपूर्वक सामायिक करते हैं।

करि तन कौ मन तैं, परित्याग, भव भोगिन तैं होइ विराग।
धरि कायोत्सर्ग वर वीर, अथवा पदमासन धरि धीर।।2226।।

अर्थ :– संसार और भोगों को मन और तन से त्याग कर विराग भावपूर्वक वे उत्कृष्ट धीर-वीर कायोत्सर्ग मुद्रा या पद्मासन मुद्रा धारण कर लेते हैं।

षट् षट् घटिका तीनूं काल, ध्यावै केवलरूप विशाल।
सब जीवनि सूं समता भाव, पंच परम पद सेवै पांव।।2227।।

अर्थ :– तीनों कालों में छह-छह घटिका पर्यन्त विशाल केवलज्ञान स्वरूप अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं। सब जीवों के प्रति समताभाव रखते हैं और पंच परमेष्ठियों के चरण-कमल की सेवा करते हैं।

सो सब वर्णन पहले कियौ, बारा वरत कथन मैं लियौ।
चौथी प्रतिमा पोसह जानि, पोसह मैं, थिरता परवानि।।2228।।

सो पोसह कौ सर्व सूरप, आगे गायौ अब न प्ररूप।
पोसा समये साधु समान, होवै चौथी प्रतिमावान।।2229।।

अर्थ :– बारह व्रत के कथन में पहले सब वर्णन किया जा चुका है। चौथी प्रतिमा प्रोषधोपवास है। प्रोषध में भी तज्जन्य स्थिरता आनी ही चाहिए। प्रोषध प्रतिमा का सर्व स्वरूप पूर्व में कहा जा चुका है, अत: यहाँ नहीं कर रहे हैं। चौथी प्रतिमा वाले प्रोषध के समय मुनिराज के सदृश होता है।

दूजी पड़िमा धारक जेहि, सामायिक पोसह विधि तेहि।
धारै परि इनकी सम नाहिं, नहिं ऐसी थिरता तिन माहिं।।2230।।

अर्थ :– दूसरी प्रतिमाधारी श्रावक भी सामायिक और प्रोषध करते हैं, किन्तु जो स्थिरता आदि इन प्रतिमाधारियों को होती है, वैसी उनको नहीं होती है।

तीजी सामायिक निरदोष, चौथी पड़िमा पौसह पोष।
पंचम पड़िमा धरि बड़भाग, करै सचित्त वस्तुनि कौ त्याग।।2231।।

अर्थ :– तीसरी सामायिक प्रतिमा निर्दोष पालते हैं, चौथी में प्रोषधोपवास करते हैं और पुण्यशाली जीव पाँचवीं प्रतिमा ग्रहण कर सचित्त वस्तु का त्याग कर देते हैं।

काचौ जल अर कोरो धान, दल फल फूल तजै बुधिवान।
छाल मूल कन्दादि न चखै, कूंपल बीज अंकुर न भखै।।2232।।

अर्थ :– कच्चा जल, साबुत धान्य तथा पत्ते, फल एवं फूलों का भी वे बुद्धिमान त्याग कर देते हैं। छाल, मूल और कन्दादि तथा कोपल, बीज एवं अंकुर आदि भी नहीं खाते हैं।

हरितकाय को त्यागी होय, जीवदया को पालक सोय।
सूको फल फोड्या बिना नाहिं, लेवौ जोगि न ग्रन्थनि माहिं।।2233।।

अर्थ :– वे हरितकाय को त्याग कर जीव दया का पालन करते हैं। सूखे फल भी बिना फोड़े अथवा शोधन किये बिना नहीं खाते। शास्त्रों में इस तरह बिना फोड़े खाना अयोग्य कहा है।

लोंन न ऊपरसे ले धीर, लोंन हु सचित्त गिनै वर वीर।
माटी हाथ धोयवे काज, लेय अचित्त दया के काज।।2234।।

अर्थ :– हे श्रेष्ठ वीर! नमक को भी सचित्त कहा गया है, अत: यह भी ऊपर से लेकर नहीं खाना चाहिए। दया–पालन करने के लिए हाथ धोने की मिट्टी भी अचित्त ही लेनी चाहिए।

खार तथा माटी जो जली, सोई लेप न काची डली।
पृथ्वीकाय विराधै नाहिं, जीव असंख कहैं ता माहिं।।2235।।

अर्थ :– खार और मिट्टी जली हुई ही लेना चाहिए। मिट्टी की कच्ची डली में पृथ्वीकायिक होने से ऐसी मिट्टी को उपयोग में नहीं लेना चाहिए। जीव रहते हैं, उनकी विराधना नहीं होनी चाहिए।

जलकाया की पालै दया, सर्व जीव को भाई भया।
अगनिकायसों नाहिं विरोध, दयावन्त पावै निज बोध।।2236।।

अर्थ :– हे भाई! सब जीवों को जलकायिक जीवों की भी दया का पालन करना चाहिए। दयावन्त जीवों को आत्मबोध हो जाने से व अग्निकायिक जीवों से भी विरोध नहीं रखते हैं।

पवन करै न करावे सोय, षट काया को पीहर होय।
नाहिं वनस्पति करै विराध, जिनशासन की धरै अगाध।।2237।।

अर्थ :– स्वयं ही हवा न करें और न दूसरों ही से करावें। छह–काय के जीवों की पीड़ा को हरण करें अर्थात् छह काय के जीवों की रक्षा करें। वनस्पतिकाय की भी विराधना न करें और जैनशासन पर अगाध श्रद्धा रखें।

विकलत्रय अर नर तिर्यंच, सबको मित्र रहित परपंच।
जो सचित्त कौ त्यागी होय, दयावान कहिये नर सोय।।2238।।

अर्थ :– जो विकलत्रय जीवों पर और सब तिर्यंच एवं मनुष्यों पर प्रपंच तज कर सहज हृदय से मैत्रीभाव रखते हैं, ऐसे दयावान मुनष्य ही सचित्त त्याग प्रतिमाधारी होते हैं।

आप भखै नहिं सचित्त कदेय, भोजन सचित्त न औरहिं देय।
जिह सचित्त को कीयौ त्याग, जीती जीभ तज्यौ रस–राग।।2239।।

अर्थ :– स्वयं सचित्त भोजन आदि नहीं करते और दूसरों को भी सचित्त भोजन नहीं करने देते हैं। जिन्होंने सचित्त का त्याग कर दिया है, उन्होंने सब रसों के अनुराग छोड़ कर अपनी जिह्वा पर विजय प्राप्त कर ली है।

दयाधर्म धारयौ तिह धीर, पाल्यौ जैन वचन गम्भीर।
अब सुनि छट्ठी प्रतिमा संत, जा विधि भाषी वीर महन्त।।2240।।

अर्थ :– धीरवान सचित्त त्यागी ने दी दयाधर्म का पालन किया है और अगाध जैन वचनों का पालन किया है। हे सज्जन पुरुषों! अब छठी प्रतिमा की जो विधि, महावीर भगवान ने कही है, वह सुनो।

द्वै मुहूर्त जब बाकी रहै, दिवस तहां ते अनशन गहै।
द्वै मुहूर्त जब चढ़िहै भान तो लग अनशन रूप बखान।।2241।।

अर्थ :– सूर्योदय के दो घड़ी (48 मिनिट) बाद से सूर्यास्त होने के दो घड़ी पूर्व तक दिन में ही भोजन करें अर्थात् सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व से सूर्योदय के दो घड़ी पश्चात् तक अनशन व्रत रखते हैं।

दिन में शील धरै जो कोय, सो छट्ठी प्रतिमाधार होय।
खान पान नहिं रैनि मझार, दिवस नारिको है परिहार।।2242।।

अर्थ :– जो दिवामैथुन का त्याग कर दिन में शीलव्रत धारण करते हैं और रात्रि को भोजन–पान नहीं करते, वे छठी प्रतिमाधारी होते हैं।

पूछै प्रश्न यहाँ भवि लोग, निशिभोजन अर दिनको भोग।
ज्ञानी जीव न कोई करै छट्ठो कहा विशेष जु धरै।।2243।।

अर्थ :– यहाँ कोई भव्य जीव प्रश्न करते हैं कि ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) जीव तो रात्रि में भोजन और दिन में भोग वैसे ही नहीं करते हैं, फिर यहाँ छठी प्रतिमा में इनका त्याग करने को विशेष रूप से क्यों कहा गया है।

ताकौ उत्तर धारौ एह औरनि को व्रत न्यून गिनेह।
मन वचन तन कृत कारित त्याग, करै न अनुमोदन बड़भाग।।2244।।

अर्थ :– इसका उत्तर यह है कि इससे पूर्व ये व्रत निम्न कोटि के होते हैं, किन्तु छठी प्रतिमाधारी पुण्यशाली जीव इन दोनों व्रतों का पालन मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना के त्यागपूर्वक करते हैं।

तब त्यागी कहिते श्रुति मांहि, या माहीं कछु संशय नाहिं।
गमनागमन सकल आरम्भ, तजै रैनि में नाहिं अचंभ।।2245।।

अर्थ :– आगम के इस प्रकार नौ कोटि से सत्याग करने वाले को ही छठी प्रतिमाधारी त्यागी कहा है। इसमें कोई संशय नहीं है, ऐसे व्रती रात्रि में गमनागमन और सर्व आरम्भ छोड़ देते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

महाधीर वर वीर विशाल, दिन को ब्रह्मचर्य प्रतिपाल।
निरतिचार विचार विशेष, त्यागै पापारम्भ अशेष।।2246।।

अर्थ :– महाधैर्यवान श्रेष्ठ वीर और विशाल हृदय भव्य जीव ही दिन को ब्रह्मचर्य का पालन, सर्व पापारम्भ का त्याग और प्रतिमा का निरतिचार पालन करते हैं।

जैनी जिनदासनि को दास, जिनशासन को करे प्रकाश।
जो निशिभोजन त्यागी होय, छः मासा उपवासी सोय।।2247।।

वर्ष एक में इहै विचार, जावो जीव लगै विस्तार।
ह्वै उपवासनि कों सुनि वीर, तातैं निशिभोजन तजि धीर।।2248।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान के दासों के दास (मुनि-भक्त) जैनी ही जिनशासन की प्रभावना करते हैं। रात्रिभोजन त्यागी के एक वर्ष में छह मास के उपवास हो जाते हैं। ऐसा विचार कर हे धीर-वीर! सुनो, कि रात्रिभोजन का त्याग कर अपने मन को सहज होने वाले इन उपवासों के विस्तार में लगाओ।

जो निशि कों त्यागै आरम्भ, दिन हूं जाके अलपारम्भ।
अब सुनि सप्तम पड़िमा धनी, नारि कूं नागिन सम गिनी।।2249।।

अर्थ :– छठी प्रतिमाधारी रात्रि में आरम्भ का त्याग कर देते हैं और दिन में भी अल्पारम्भ करते हैं। अब सप्तम प्रतिमा सुनो। इस प्रतिमा के धनी स्त्री को नागिन के समान मानते हैं।

धार्‌यौ ब्रह्मचर्य व्रत शुद्ध, जिनमारग मैं भयो प्रबुद्ध।
निशिवासर नारी कों त्याग, तज्यौ सकल जाने अनुराग।।2250।।

अर्थ :– जिसने नारी का सर्वथा त्याग कर सर्व अनुराग छोड़ दिया है और शुद्ध ब्रह्मचर्य धारण कर लिया है, जिनमार्ग में वही प्रबुद्ध हुआ है।

मन वच काय तजी सब नारि, कृत कारित अनुमोद विचारि।
योनिरंध्र नारी को महा, दुरगति–द्वार इहै उर लहा।।2251।।

अर्थ :– नारी का योनिरन्ध्र भयंकर दुर्गति का द्वार है। हृदय में ऐसा निश्चय कर मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना से नारी मात्र का त्याग कर दें।

इन्द्राणी चक्राणी देखि, निंद्य वस्तु सम गिनै विशेष।
विषय–वासना में नहिं राग, जाने भोगजू काले नाग।।2252।।

अर्थ :– विषय–वासना में जिनका राग नहीं है, जो भोगों को काले नाग के समान समझते हैं; वे इन्द्राणी और चक्राणी को देखकर भी उन्हें निंद्य वस्तु के समान देखते हैं।

विषय–मगनता अति हि मलीन, विषयी जग में दीखै दीन।
विषय समान न बैरी कोय, जीवनि कूं भरमावै सोय।।2253।।

अर्थ :– विषय संलग्नता अति मलिन है। इस जगत में विषयी जन दीन–सदृश दिखते हैं। विषय–समान बैरी कोई दूसरा नहीं है। ये विषय जीव को व्यर्थ भ्रमण कराते हैं।

शील समान न सार न कोय, भवसागर तारक है सोय।
अब सुनि अष्टम पड़िमा भेद, सर्वारम्भ तजै निरखेद।।2254।।

अर्थ :– इस जगत में शील समान सारभूत पदार्थ और कोई नहीं है। यह शील ही भवसागर से तारने वाला है। अब अष्टम प्रतिमा का वर्णन सुनो। इसमें बिना संक्लेश के सर्व आरम्भ का त्याग किया जाता है।

आप करै नहिं कछु आरम्भ, तजै लोभ छल त्यागै दंभ।

करवावै न करै अनुमोद, साधुनि कों लखि धरै प्रमोद।।2255।।

अर्थ :– अष्टम प्रतिमाधारी व्रती लोभ, छल, कपट और दम्भ को छोड़कर मन, वचन और काय से सर्व आरम्भ का त्याग कर देते हैं और साधुओं को देखकर प्रमुदित होते हैं।

मन वच काय शुद्ध करि संत, जग धंधा धारै न महंत।
जीव घात तें कांप्यौ जोहि, सो अष्टम पड़िमाधर होहि।।2256।।

अर्थ :– जो सज्जन पुरुष मन, वचन और काय की शुद्धतापूर्वक जग-धन्धा छोड़ देते हैं और जीव-घात से कम्पायमान होते हैं, वे अष्टम प्रतिमाधारी होते हैं।

असि मसि कृषि वाणिज इत्यादि, तजै जगत कारज गति वादि।
जाय पराये जीमै सोइ, गृह आरम्भ कछू नहिं होइ।।2257।।

अर्थ :– ये असि, मसि, कृषि और वाणिज्य आदि का और व्यर्थ के आवागमन का त्याग कर देते हैं। दूसरों के यहाँ निमन्त्रण से भोजन करते हैं और गृह का कोई भी आरम्भ नहीं करते हैं।

कहि करवावै नाहीं वीर, सहज मिलै तों जीमें धीर।
ले जावै कुल किरियावन्त, ताके भोजन ले बुधिवन्त।।2258।।

अर्थ :– ये वीर अपने मुख से भोजन के लिए नहीं कहते हैं, जो सहज प्राप्त होता है, वही भोजन करते हैं। ये बुद्धिवन्त उत्तम कुल वालों में भी क्रियावान श्रावकों के यहाँ ही भोजन करते हैं।

जगत काज तजि आतम काज, करै सदा ध्यावै जिनराज।
दया नहीं आरम्भ मँझार, करि आरम्भ भ्रमै संसार।।2259।।

अर्थ :– जगत के कार्यों का त्याग कर आत्म कार्य में ही संलग्न रहते हैं। निरन्तर जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करते हैं। जो आरम्भ करते हुए दया नहीं रखते, वे उस हिंसामयी आरम्भ से सांर परिभ्रमण करते हैं।

तातैं तजै गृहस्थारंभ, जीवदया कौ रोप्यौ थंभ।
करि कुटुम्बकौ त्याग सुजान, हिंसारम्भ तजै मतिवान।।2260।।

अर्थ :– इसलिए बुद्धिमान जन गृहस्थारम्भ का त्याग कर जीव-दया का स्तम्भ खड़ा करते हैं और हिंसारम्भ का एवं कुटुम्ब का भी त्याग कर देते हैं।

दया समान न जग में कोइ, दया हेत त्यागै जग सोइ।
अब नवमी प्रतिमा कौ रूप, धारौ भवि तजि जगत विरूप।।2261।।

अर्थ :– दया के समान इस जगत में और कोई नहीं है, इसलिए ये दया के लिए जगत का त्याग कर देते हैं। हे भव्य जन! अब इस विरूप जगत का त्याग कर नवमी प्रतिमा का रूप धारण करो।

नवमी पड़िमा धारक धीर, तजै परिग्रहकों वर वीर।
अन्तरंग के त्यागै संग, रागादिक को नाहिं प्रसंग।।2262।।

अर्थ :– नवमी प्रतिमा धारण करने वाले धीर–वीर पुरुष परिग्रह का त्याग कर देते हैं। अन्तरंग परिग्रह का त्याग कर देने से रागादि को कोई प्रसंग (स्थान) ही नहीं मिलता है।

बाहिर के परिग्रह घर आदि, त्यागै सर्व धातु रतनादि।
वस्त्र मात्र राखै बुधिवन्त, कनकादिक भीटे न महंत।।2263।।

अर्थ :– बाह्य परिग्रह में गृह, धातु एवं रत्न आदि सभी का त्याग कर देते हैं। वे बुद्धिमान महापुरुष वस्त्र मात्र परिग्रह रखते हैं, स्वर्ण आदि का कभी भी स्पर्श नहीं करते।

वस्त्र हु बहु माले नहिं गहै, अलप वस्त्र ले आनन्द लहै।
परिग्रह कों जानै दुखरूप, इह परिग्रह है पापस्वरूप।।2264।।

अर्थ :– बहुमूल्य और बहुत सारे वस्त्र नहीं रखते। अल्प मूल्य वाले अल्प वस्त्रों की मर्यादा लेकर ही आनन्दित रहते हैं। यह पापरूप परिग्रह दुख देने वाला ही है, ऐसा जानते हैं।।80।।

जहां परिग्रह लोभ वहां हि, या करि दया सत्य विनशाहि।
हिंसारम्भ उपावै एह, या सम और न शत्रु गिनेह।।2265।।

अर्थ :– जहाँ परिग्रह का लोभ है, वहीं दया और सत्य का विनाश है। परिग्रह से ही हिंसारम्भ उत्पन्न होता है। इस परिग्रह के समान और कोई शत्रु नहीं है।

तजै परिग्रह सो हि सुजान, तृष्णा त्याग करै बुधिवान।
जाकी चाह गई सो सुखी, चाह करैं ते दीखैं दुखी।।2266।।

अर्थ :– जो बुद्धिमान तृष्णा का त्याग कर देते हैं, वे सज्जन ही परिग्रह का त्याग कर पाते हैं। जिसकी चाह गई वही सुखी है, जो चाह करते हैं; वे ही दुखी दिखाई देते हैं।

बाहिज ग्रन्थ–रहित जग माहिं, दारिद्री मानव शक नाहिं।
ते नहिं परिग्रह–त्यागी कहैं, चाह करंते अति दुख लहैं।।2267।।

अर्थ :– इस जगत में बाह्य परिग्रह रहित जो मनुष्य दिखाई दे रहे हैं, वे मनुष्य दरिद्री हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है। वे परिग्रह त्यागी नहीं कहे जा सकते हैं; क्योंकि उनके पीछे जो चाह लगी हुई

है, उससे वे अत्यधिक दुख प्राप्त करते हैं।

जे अभ्यन्तर त्यागै संग, मूर्च्छा रहित लहै निजरंग।
जे परिग्रहत्यागी है राम, वांछा-रहित सदा सुखधाम।।2268।।

अर्थ :- जो अभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर, मूर्च्छा रहित अपने निज रंग में लीन रहते हैं, वे ही परिग्रह त्यागी कहलाते हैं। ऐसे वांछा रहित जीव ही सदा सुखधाम को प्राप्त होते हैं।

ज्ञानी बिन भीतर को संग और न त्यागि सकें दुख अंग।
राग-द्वेष मिथ्यात विभाव, ए भीतर के संग कहाव।।2269।।

अर्थ :- राग-द्वेष और मिथ्यात्व आदि विभाव भाव ही अन्तरंग परिग्रह कहलाते हैं, दुख रूप इस अन्तरंग परिग्रह का त्याग ज्ञानी पुरुषों के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता।

तजि भीतर के बाहिर तजै, सो बुध नवमी पड़िमा भजै।
वस्त्र मात्र है परिग्रह जहाँ, धातुमात्र को लेश न तहाँ।।2270।।

अर्थ :- जो वस्त्रों के परिग्रह के अतिरिक्त धातु आदि का लेशमात्र भी परिग्रह नहीं रखते और अन्तरंग परिग्रह के साथ-साथ बाह्य परिग्रह का भी त्याग कर देते हैं, वे बुद्धिमान नवमी प्रतिमाधारी कहलाते हैं।

नर्म पूंजणी धारै धीर, षट् कयनि की टारैं पीर।
जल-भाजन राखे शुचि-काज, त्यागै धन धान्यादि समाज।।2271।।

काठ तथा माटी को जोय और पात्र राखै नहिं कोय।
जाय बुलायो जीमें जोय, श्रावक के घर भोजन होंय।।2272।।

दशमी प्रतिमा-घर बड़भाग, लौकिक वचन थको नहिं राग।
बिना जैनवानी कछु बोल, जो नहिं बोलै चित्त अडोल।।2273।।

अर्थ :- जो धन-धान्य एवं जन-समाज आदि का त्याग कर शुद्धि के लिए मात्र जल पात्र रखते हैं, षट्काय के जीवों की रक्षा के लिए नर्म वस्त्र रखते हैं, मिट्टी तथा काष्ठ आदि का कोई भी पात्र नहीं रखते, लौकिक वचन-कलाप से जिन्हें कोई राग नहीं है, जो बुलाये जाने पर ही श्रावक के घर पर भोजन करने जाते हैं और चित्त स्थिर होने से जो जैनवाणी के अतिरिक्त और कोई वचन नहीं बोलते; वे पुण्य पुरुष दशम प्रतिमाधारी होते हैं।

जगत काज सबही दुखरूप, पापमूल परपंच स्वरूप।
तातैं लौकिक वचन न कहै, जिनमारग की सरधा गहै।।2274।।

अर्थ :– जगत के सर्व कार्य दुख रूप हैं, पाप के मूल हैं और प्रपंच स्वरूप हैं; इसलिए लौकिक वचन नहीं बोलते, किन्तु जैनमार्ग पर दृढ़ श्रद्धा रखते है।

मौन गहै जग सेती सोय, सो दशमी पड़िमाधर होय।
श्रुति अनुसार धर्म की कथा, करै जिनेश्वर भाषी यथा।।2275।।

अर्थ :– जो दशम प्रतिमाधारी हैं, वे जगत के कार्यों में मौन रखते हैं। जैसी जिनेन्द्र देव ने कही है, वैसी ही धर्मकथा आगमानुसार बोलते हैं।

जगत काज को नहिं उपदेश, ध्यावै धीरज धारि जिनेश।
बोलै अमृत वानी वीर, षट् कायनि की टारै पीर।।2276।।

अर्थ :– जगत के कार्यों का उपदेश नहीं देते, छह–काय के जीवों की पीड़ा हरण करते हैं; वे वीर अमृत–वाणी बोलते हैं और धैर्यपूर्वक जिनेन्द्र का ध्यान करते हैं।

तजै शुभाशुभ जग के काम, भयो कामना–रहित अकाम।
जे नर करे शुभाशुभ काज, ते नहिं लहै देश जिनराज।।2277।।

अर्थ :– जगत के सारे शुभाशुभ कार्यों का त्याग कर देते हैं और कामना रहित होते हुए अकाम–सदृश रहते हैं। जो मनुष्य शुभाशुभ कार्य करते हैं, वे जिनेन्द्र की देशना को प्राप्त नहीं होते।

राग–द्वेष कलह के धाम, दीसै सकल जगत के काम।
जगत रीति में जे नर बसा, सो नहिं पावै उत्तम दशा।।2278।।

अर्थ :– जगत के सर्व कार्य राग–द्वेष और कलह के ही स्थान हैं। जो मनुष्य जगत की रीति में फँसे रहते हैं, वे कभी उत्तम अवस्था को प्राप्त नहीं हो पाते।

दशमी पड़िमा धारक सन्त, ज्ञानी ध्यानी अति मतिवन्त।
गिनें रतन–पाहन सम जेह, तृण–कंचन सम जाने तेह।।2279।।

अर्थ :– ज्ञानी, ध्यानी और बुद्धिमान जो दशम प्रतिमाधारी सज्जन पुरुष हैं; वे रत्न और पत्थर को एक समान मानते हैं तथा तृण और कंचन को समान मानते है।

शत्रु–मित्र सम राजा–रंक, तुल्य गिनें मन में नहिं शंक।
बांधव–पुत्र कुटुम्ब धनादि, तिनकूं भूलि गये गनि वादि।।2280।।

अर्थ :– शत्रु और मित्र को तथा राजा और रंक को एक समान मानते हैं, अपने मन में किसी प्रकार की शंका नहीं रखते। बांधव, पुत्र, कुटुम्ब और धन आदि को निष्प्रयोजन मान कर भूल

जाते हैं।

जानें सकल जीव समरूप, गई विषमता भागि विरूप।
पर घर भोजन करें सुजान, श्रावककुल जो किरियावान।।2281।।

अल्प अहार तहां लें धीर, नहिं चिन्ता धारें वर वीर।
कोमल पिछी कमंडलु एक, बिना धातुकी परम विवेक।।2282।।

अर्थ :– मन को विकृत करने वाली विषमता जिनकी भाग चुकी है और जो सब जीवों पर समता भाव रखते हैं और जो सुजान उत्तम कुल वाले क्रियावान श्रावकों के घर पर ही भोजन करते हैं; वे धीर-वीर वहाँ जाकर अल्पाहार लेते हैं और मन में किसी प्रकार की चिंता नहीं करते।

इक कोपिन कणगति लया, छह हस्ता इक वस्त्र हु भया।
इक तेह एक पाटकौ जोय, यही रीति दशमी की होय।।2283।।

अर्थ :– कणगती लगी हुई एक लँगोटी तथा एक तह और एक पाटका छह हाथ का एक चद्दर (चादर) ही शरीर पर रखते हैं। दशम प्रतिमा की यही रीति है।

जिन शासन को है अभ्यास, आगम अध्यातम अध्यास।
अब सुनि एकादशमी धार, सब में उतकृष्टे निरधार।।2284।।

अर्थ :– उन्हें जिनशासन का अभ्यास होता है, वे सतत आगम और अध्यात्म में रति करते हैं। जो श्रावकों के सर्वोत्कृष्ट पद पर हैं। ऐसी ग्यारहवीं प्रतिमा का वर्णन सुनो।

वनवासी निरदोष अहार, कृत कारित अनुमोदन कार।
मन वच काय शुद्ध अविकार, सो एकादश पड़िमा धार।।2285।।

अर्थ :– जो वन में रहते हैं और विकार रहित तथा मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना – इन नौ कोटि से शुद्ध आहार करते हैं, वे ग्यारहवीं प्रतिमाधारी होते हैं।

ताके दोय भेद हैं भया, क्षुल्लक ऐलक श्रावक लया।
क्षुल्लक खण्डित कपड़ा धरै, अरु कमण्डलु पीछी आदरै।।2286।।

अर्थ :– इस प्रतिमाधारी श्रावक के क्षुल्लक और ऐलक – ऐसे दो भेद हैं। क्षुल्लक खण्डित वस्त्र धारण करते हैं और कमण्डलु-पीछी रखते हैं।

इक कोपीन कणगतो गहै और कछू नहिं परिग्रह चहै।
जिनशासन कौ दासा होय, क्षुल्लक ब्रह्मचारि है सोय।।2287।।

अर्थ :– ये क्षुल्लक ब्रह्मचारी होते हैं, ***कणगती*** लगी हुई लँगोटी (और एक चादर) के अतिरिक्त और कोई परिग्रह नहीं रखते हैं, ये जिनशासन के भक्त होते हैं।

ऐलि धरें कोपीन हि मात्र, अर इक शौच तनूं है पात्र।
कोमल पीछी दया निमित्त, जिनवानी कौ पाठ पवित्र।।2288।।

अर्थ :– ऐलक मात्र एक लँगोटी रखते हैं, शौच के निमित्त एक पात्र और दया निमित्त कोमल पीछी रखते हैं तथा जिनवाणी का पवित्र पाठ करते हैं।

पंच घरनि में एक घरेहि, भोजन मुनि की भाँति करेहिं।
ये है चिदानन्दमैं लीन, धर्मध्यान के पात्र प्रवीन।।2289।।

अर्थ :– ये धर्मध्यान के पवित्र पात्र होते हैं, चिदानन्द में लीन रहते हैं और पाँच घरों में से एक घर में मुनिराज की भाँति ही आहार ग्रहण करते हैं।

क्षुल्लक जीमैं पात्र मँझार, ऐलि करैं करपात्र अहार।
मुनिवर ऊभा लेय अहार, ऐलि आर्यिका बैठा सार।।2290।।

अर्थ :– क्षुल्लक पात्र में और ऐलक कर-पात्र में आहार करते हैं। मुनिराज खड़े-खड़े आहार करते हैं। ऐलक और आर्यिका बैठकर कर-पात्र में आहार करते हैं।

क्षुल्लक कतरावै निज केश, ऐलि करें शिरलोंच अशेष।
पहली पड़िमा आदि जु लेय, क्षुल्लक लों व्रत सबकूं देय।।2291।।

अर्थ :– क्षुल्लक बाल कतरवाते हैं, किन्तु ऐलक केशलोंच करते हैं। पहली प्रतिमा से क्षुल्लक व्रत पर्यन्त सबको व्रत देते हैं अर्थात् चारों वर्ण ये व्रत पाल सकते हैं।

श्रीगुरु तीन वर्ण बिन कदे, नहिं मुनि ऐलितनें व्रत दे।
पहली सौं छट्ठी लों जेहि, जघन्य श्रावक जानों तेहि।।2292।।

सप्तमि अष्टमि नवमी धार, मध्य सरावक है अविकार।
दशमी एकादशमीवन्त, उतकृष्टे भाषें भगवन्त।।2293।।

अर्थ :– आचार्यश्री कहते हैं कि मुनि और ऐलक के व्रत तीन वर्ण वालों को ही दिये जाते हैं। पहली प्रतिमा से छठी प्रतिमा पर्यन्त जघन्य श्रावक कहलाते हैं। सातववीं, आठवीं और नवमीं प्रतिमाधारी मध्यम श्रावक कहलाते हैं और दसवीं ग्यरहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।

तिनहू में ऐलि जु निरधार, ऐलिथ की मुनि बड़े विचार।

मुनिगण में गणधर बड़े, ते जिनवर के सनमुख खड़े।।2294।।

अर्थ :– इनमें ऐलक बड़े हैं, ऐलक से मुनि बड़े हैं, मुनि से गणधर देव बड़े हैं और गणधर भी जिनेन्द्र के आगे हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं।

जिनपति शुद्ध रूप है भया, सिद्ध परें नहिं दूजौ लया।
सिद्ध मनुज बिन और न कोय, चहुंगति मैं नहिं नर सम कोय।।2295।।

अर्थ :– जिनेन्द्र देव शुद्ध रूप हैं। जिनेन्द्र से बड़े सिद्ध हैं, सिद्ध से बड़े और कोई नहीं है। मनुष्य के बिना और कोई सिद्ध नहीं बन सकता है; अत: चतुर्गति में मनुष्य के समान और कोई नहीं है।

नरमें सम्यकदृष्टि नरा, तिन तें वर श्रावक व्रत धरा।
षोडश स्वर्गलोक लों जाहिं, अनुक्रम मोक्षपुरी पहुंचाहिं।।2296।।

अर्थ :– मनुष्यों में सम्यग्दृष्टि बड़े होते हैं, उनसे श्रावक व्रतधारी बड़े होते हैं, जो सोलह स्वर्ग पर्यन्त जा सकते हैं। पश्चात् अनुक्रम से मोक्ष जाते हैं।

पंचम ठाणें ग्यारा भेद, धारें तेहि करें अघ–छेद।
इह श्रावक की रीति जु कही, निकट भ्य जीवनि नें गही।।2297।।

अर्थ :– पंचम गुणस्थान के ग्यारह भेद होते हैं। इन्हें धारण करने वाले पापों का नाश करते हैं। यह श्रावक की रीति कही है, निकट भव्य जीव ही इन्हें ग्रहण कर पाते हैं।

ऊपरि ऊपरि चढ़ते भाव, विरकत भाव अधिक ठहराव।
नहींव होय मंदिर के यथा, सर्व व्रतनि के सम्यक तथा।।2298।।

अर्थ :– जैसे मंदिर का मूल नींव है, वैसे ही सर्व व्रतों का मूल सम्यक्त्व है। पश्चात् ऊपर–ऊपर जैसे–जैसे चढ़ते हुए विरक्त भाव होते हैं, वैसे–वैसे अधिक ठहराव होता है।

।। अथ दान वर्णन ।।

दोहा

प्रतिमा ग्यारा कौ कथन, जिन आज्ञा परवान।
परिपूरण कीनूँ भया, अब सुनि दान बखान।।2299।।

अर्थ :– जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा प्रमाण ग्यारह प्रतिमाओं का कथन परिपूर्ण किया, अब दान का व्याख्यान सुनो।

कियौ दान वरणन प्रथम, अतिथिविभाग के माहिं।
अबहू दान प्रबन्ध कछु, कडि हौं दूषण नाहिं।।2300।।

अर्थ :– पहले अतिथिसंविभाग में दान का वर्णन किया है। अब पुन: दान का कुछ कथन करता हूँ। इसमें कोई दूषण नहीं है।

मनोहर छन्द

ए मूढ़ अचेतो कछु इक चेतौ, आखिर जग मैं मरना है।
धन रह ही इहां ही संग न जाहीं, तातैं दान सु करना है।।2301।।

अर्थ :– हे मूढ़! तू अचेत हो रहा है, कुछ तो सचेत हो, इस जग में आने वाले को आखिर मरना ही है। सब धन यहाँ ही रह जायेगा, साथ जाने वाला नहीं है; अत: दान अवश्य करना चाहिए।

बिन दान न सिद्धी ह्वै अघवृद्धि, दुरगति दुख अनुसरना है।
करपणता धारी शठमति भारी, तिनहिं शुभ गति वरना है।।2302।।

अर्थ :– बिना दान सिद्धि नहीं होती है, अपितु अघ (पाप) की ही वृद्धि होती है, जो दुर्गतियों में दुख का अनुसरण कराती है। कृपणता धारी अत्यधिक मूढ़ बुद्धि होते हैं। इन्हें कभी उत्तमगति की प्राप्ति नहीं होती।

या मैं नहिं संसा नृप श्रेयंसा, कियउ दान दुख हरना है।
सो ऋषभ प्रतापें त्याग त्रितापे, पायौ धाम अमरना है।।2303।।

अर्थ :– राजा श्रेयांस ने दुखों का हरण करने वाला दान दिया था; अत: ऋषभदेव के प्रताप से उन्होंने जन्म, मरण और जरा रूपी तीनों तापों को त्याग कर अमर पद प्राप्त कर लिया।

श्रीषेण सुराजा दान प्रभावा, गहि जिनशासन शरना है।
लहि सुख बहु भांति ह्वै जिन शांती, पायो वर्ण अवर्णा है।।2304।।

अर्थ :– जिनशासन की शरण ग्रहण करने वाले श्रीषेण नाम के उत्तम राजा थे, जिन्होंने दान के प्रभाव से बहुत प्रकार की सुख और शांति प्राप्त की तथा अवर्ण पद प्राप्त किया।

इक अकृतपुण्या कियउ सुपुण्या, लहिउ तुरत जिय मरना है।
ह्वै धन्यकुमारा चारित धारा, सरवारथ सिधि धरना है।।2305।।

अर्थ :– जीवन-मरण करने वाले एक अकृतपुण्य नामक मनुष्य ने दान की अनुमोदना से

उत्तम पुण्य प्राप्त किया, जिसके प्रभाव से वे धन्यकुमार नाम के श्रेष्ठी हुए और चारित्र धारण कर सर्वार्थसिद्धि गये।

शूकर अर नाहर नकुल रु वान रु, नमि चारन मुनि चरना है।
करि दान प्रशंसा लहि शुभ वंशा, हरै जनम जर मरना है।।2306।।

अर्थ :– शूकर, नाहर (सिंह), नकुल (नेवला) और बन्दर – ये चार पशु नमि नाम के चारण ऋद्धिधारी मुनिराज के चरणों में आये तथा दान की अनुमोदना के फल से उत्तम वंश में पैदा हुए एवं जन्म, जरा और मरण का नाश कर सिद्ध-पद को प्राप्त हुए।

दोहा

वज्रजंघ अर श्रीमती, दानतनें परभाव।
नर सुख सुख लहि उत्तमा, भये जगत की नाव।।2307।।

अर्थ :– वज्रजंघ और श्रीमती – ये दोनों पति-पत्नी दान के प्रभाव से मनुष्यों और देवों के उत्तम सुख भोग कर जगत से पार होने वाले जीवों के लिए नाव-सदृश बन गये।

वज्रजंघ आदीश्वरा, भए जगत के ईश।
भये दानपति श्रीमती, कुल कर माहिं अधीश।।2308।।

अर्थ :– वज्रजंघ राजा तीन जगत के ईश आदिनाथ तीर्थंकर हुए और रानी श्रीमती अपने कुल के अधीश्वर दानपति श्रेयांस हुए।

अन्नदान मुनिराज कों, देत हुए श्रीराम।
करि अनुमोदन गीध इक, पंछी अति अभिराम।।2309।।

भयौ धर्मथी अणुव्रती, कियौ राम कौ संग।
राम मुखै जिन नाम सुनि, लह्यौ स्वर्ग अतिरंग।।2310।।

अर्थ :– आठवें बलभद्र श्री रामचन्द्र जी जिस समय जंगल में मुनिराज को आहारदान दे रहे थे। उस समय एक गृद्ध पक्षी उस दान की अनुमोदना कर रहा था, जिससे वह अति सुन्दर शरीर वाला हो गया। मुनिराज ने उसे अणुव्रत दिये। रामचन्द्र जी ने उस पक्षी को अपने साथ ही रखा। रामचन्द्रजी के मुख से जिनेन्द्र भगवान का नाम सुनते हुए उसने प्राण विसर्जन किये और स्वर्ग में उत्तम देव हुआ।

अनुक्रम पहुँचेगौ भया, राम सुरग वह जीव।

धारेगौ निजभाव जहु, तजि कै भाव अजीव।।2311।।

अर्थ :– अजीव भावों का त्याग कर और अपने निज–भावों को धारण कर रामचन्द्रजी मोक्ष गए और सुर–लोक जाने वाला उस पक्षी का जीव अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

दान कारका अमित ही, सीझे भवथी भ्रात।
बहुरि दान अनुमोद का, को लग नाम गिनात।।2312।।

अर्थ :– दान करने वाले को अपरिमित फल प्राप्त होता है, हे भाई! वह जीव इस भव से पार हो जाता है। दान के फल की अनुमोदना के फल भी नहीं गिनाये जा सकते हैं।

पात्र दान सम दान अर, करुणा दान बखान।
सकल दान है अन्तिमों, जिन आज्ञा वरदान।।2313।।

अर्थ :– पात्रदान के समान तथा करुणादान के समान और कोई दान नहीं है। सकल दानों में अन्तिम दान है जिनेन्द्र आज्ञा का वरदान प्राप्त होना।

आप थकी गुण अधिक जो, ताहि चतुरविधि दान।
देवौ है अति भक्ति करि, पात्र दान सो जान।।2314।।

अर्थ :– जो आपसे गुणों में अधिक हैं, उन्हें अति भक्तिपूर्वक चारों प्रकार का दान देना, सो पात्रदान कहलाता है।

जो पुनि सम गुण आपतैं, ताकों दैनों दान।
सो समदान कहैं बुधा, करिकै बहु सनमान।।2315।।

अर्थ :– जो अपने समान ही गुणवाले हैं, उन्हें सम्मानपूर्वक दान देना, उसे बुद्धिमानों ने सम–दान कहा है।

दुखी देखि करुणा करै, देवै विविध प्रकार।
सो है करुणादान शुभ, भाषै मुनिगणधार।।2316।।

अर्थ :– आचार्यों ने कहा है कि दुखी जनों को देखकर नाना प्रकार से दान देना, सो करुणादान कहलाता है।

सकल त्यागि ऋषिव्रत धरैं, अथवा अनशन लेइ।
सो है सकल प्रदानवर, जाकरि भव उतरेइ।।2317।।

अर्थ :– सकल परिग्रह त्याग कर मुनिव्रत धारण करना अथवा अनशन तप करना, सर्व दानों

में श्रेष्ठ दान है। यह दान भव-समुद्र से पार उतार देता है।।33।।

दान अनेक प्रकार के, तिनमैं मुखिया चार।
भोजन औषधि शास्त्र अर, अभयदान अविकार।।2318।।

अर्थ :- दान अनेक प्रकार के हैं। उनमें आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान - ये चार दान निर्दोष हैं।

तिनकौ वर्णन प्रथम ही, अतिथि विभाग मंझार।
कियौ अबै पुनरुक्त के, कारण नहिं विसतार।।2319।।

अर्थ :- इन सब दानों का वर्ण अतिथिसंविभाग व्रत के मध्य किया जा चुका है। पुनरुक्त दोष के भय से अब इनका विस्तार नहीं किया जा रहा है।

।। सप्तक्षेत्र वर्णन ।।

जो करवावै जिनभवन, धन खरचै अधिकाय।
सो सुर नर सुख पाय कै, लहै धाम जिनराय।।2320।।

अर्थ :- जो बहुत धन खर्च करके जिनेन्द्र भगवान का मंदिर बनवाते हैं, वे मनुष्य और देवों के सुख भोग कर जिनराज का धाम प्राप्त कर लेते हैं।

जो करवावै विधि थकी, जिनप्रतिमा बुधिवन्त।
मंदिर मैं पधरावई, सो सुख लहै अनन्त।।2321।।

अर्थ :- जो बुद्धिमान विधिपूर्वक जिन प्रतिमा बनवा कर मंदिरजी में स्थापित करवाते हैं, वे अनन्त सुख प्राप्त करते हैं।

यव-समान जिनराज की, प्रतिमा जो पधराय।
किंदूरी-सम देहुरा, सो हू धन्य कहाय।।2322।।

अर्थ :- जो किन्दूरी पत्र के बराबर मंदिर बनवा कर, यव (जव) के बराबर जिनेन्द्र प्रतिमा स्थापित करते हैं, वे धन्य हैं।

शिखर बंध करवावई, जिन चेत्यालय कोय।
प्रतिमा उच्च करावई, पावै शिवपुर सोइ।।2323।।

अर्थ :- जो शिखरबन्ध मंदिर बनवा कर, विशाल जिनेन्द्र प्रतिमा स्थापित करते हैं; वे शिवपुर

प्राप्त करते हैं।

जल चंदन अक्षत पहुप, अर नैवेद्य सुदीप।
धूप फलनि जिन पूजई, सो ह्वै जग अवनीप।।2324।।

अर्थ :- जो जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवैद्य, उत्तम दीप, उत्तम धूप और फलों से जिनेन्द्र देव की पूजन करते हैं, उनके संसार का विनाश हो जाता है।

जो देवल करि विधि थकी, करै प्रतिष्ठा धीर।
सुर नर पति के भोग लहि, सो उतरै भवतीर।।2325।।

अर्थ :- जो धीर पुरुष जिनमंदिर बनवा कर, विधिपूर्वक प्रतिष्ठा करवाते हैं, वे सुरपति (देवेन्द्र) और नरपति (चक्रवर्ती आदि) के सुख भोग कर भव-समुद्र से पार उतर जाते हैं।

जो जिन तीरथ को महा, यात्रा करै सुजान।
सफल जनम ताही तनों, भाषैं पुरुष प्रधान।।2326।।

अर्थ :- जो सुजान! जिन तीर्थों की महायात्रा करते हैं, उन्हीं का मनुष्य जन्म सफल होता है। ऐसा प्रधान पुरुषों ने कहा है।

चउ अनुयोगमई महा, द्वादशांग अविकार।
सो जिनवाणी है भया, करै जगत थी पार।।2327।।

अर्थ :- चार अनुयोगमयी जो निर्दोष महा द्वादशांग रूप जिनवाणी है, वही इस जगत से पार करने वाली है।।43।।

ताके पुस्तक बोधकर, लिखै लिखावै शुद्ध।
धन खरचै या वस्तु में, सो होवै प्रतिबुद्ध।।2328।।

अर्थ :- जो ज्ञान प्राप्ति के कारणभूत शास्त्रों को स्वयं लिखते हैं अथवा दूसरों से लिखाने में अपने धन का सदुपयोग करते हैं, वे प्रतिबुद्धता को प्राप्त होते हैं।

ग्रन्थनि कूं पूठे करै, करवावै धरि चित्त।
भले भले वस्त्रनि विषैं, राखै महा पवित्त।।2329।।

अर्थ :- स्थिरचित्त होकर महापवित्र ग्रन्थों पर पुट्ठे (कवर) लगावे या जिल्द बाँधे अथवा दूसरों को प्रेरणा देकर उन्हें सुव्यवस्थित करावे। उत्तम-उत्तम वस्त्रों में उन्हें बाँध कर रखें।

जीरणि ग्रन्थनि के महा, जतन करै बुधिवान।
ज्ञानदान देवै सदा, सो पावै निरवान।।2330।।

अर्थ :– जो बुद्धिमान जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थों की महायत्न से सुव्यवस्था करते हैं और सदा ज्ञानदान देते हैं, वे निर्वाण पद प्राप्त करते हैं।

जीरण जिनमंदिर तणी, मरमत जो मतिवान।
करवावै अति भक्ति सों, सो सुख लहै निदान।।2331।।

अर्थ :– जो बुद्धिमान अति भक्ति से जीर्ण मंदिरों का जीर्णोद्धार करवाते हैं, वे परम सुख को प्राप्त होते हैं।

शिखर चढ़ावै देहुरा, धन खरचै या भांति।
कलश धरै जिनमंदिरां, पावै पूरण शांति।।2332।।

अर्थ :– जो अपनी सम्पत्ति खर्च करके मंदिर के ऊपर शिखर और शिखर के ऊपर कलश चढ़ाते हैं, वे पूर्ण शांति प्राप्त करते हैं।

छत्र चमर घंटादिका, बहुत उपकरणां कोय।
पधरावै चेत्यालये, पावै शिवपुर सोय।।2333।।

अर्थ :– जो छत्र, चमर और घण्टा आदि बहुत उपकरण मंदिर जी में चढ़ाते हैं, वे मोक्ष-सुख को प्राप्त करते हैं।

टीप करावै द्रव्य दे, धवलावै जिनगेह।
धुजा चढ़ावै देवलों, पावै धाम विदेह।।2334।।

अर्थ :– जो अपना द्रव्य देकर मंदिर की टीप कराते हैं, मंदिर में सफेदी कराते हैं और ध्वजा चढ़ाते हैं, वे विदेह धाम (मोक्ष पद) को प्राप्त करते हैं।

जो जिन मंदिर कारनें, धरती देय सु वीर।
सो पावै अष्टम धरा, मोक्ष काम गंभीर।।2335।।

अर्थ :– जो वीर जिनमंदिर बनाने के लिए भूमि का दान करते हैं, वे मोक्ष-सम्बन्धी गम्भीर कार्य को करके अष्टम पृथ्वी को प्राप्त होते हैं।

चउविधि संघनि की भया, मन वच तन करि भक्ति।
करै हरै पीरा सबै, सो पावै निज शक्ति।।2336।।

अर्थ :– जो मन, वचन और काय से भक्तिपूर्वक चतुर्विध संघ की पीड़ाहरण (वैयावृत्ति) करते हैं, वे ही अपनी निजशक्ति को प्राप्त करते हैं।

सप्त क्षेत्र ये धर्म के, कहे जिनागमरूप।
इनमैं धन खरचे बुधा, पावै वित्त अनूप।।2337।।

अर्थ :– धर्म के ये सात क्षेत्र (मंदिर निर्माण, प्रतिमा निर्माण, पूजा, प्रतिष्ठा, जिनवाणी सेवा, तीर्थयात्रा और चतुर्विध संघ की वैयावृत्ति) आगमानुसार कहे हैं। जो बुद्धिमान इन क्षेत्रों में दान देते हैं, वे अनुपम धन प्राप्त करते हैं।

अथ वचनिका

प्रतिमा करावैं, देवल करावै, पूजा तथा प्रतिष्ठा करै, जिनतीरथ की यात्रा करै, शास्त्र लिखावै, चउविधि संघ की भक्ति करै – ए सप्त क्षेत्र जानि।

यहाँ कोई प्रश्न करै, प्रतिमाजी अचेतन छै, निग्रह अनुग्रह करवा समर्थ नाहीं, सो प्रतिमा का सेवन थकी स्वर्ग-मुक्ति फल प्राप्ति किसी भाँति होय?

ताका समाधान। प्रतिमाजी शांत स्वरूप ने धार्या छै, ध्यान की रीतिने दिखावे छै। दृढ़ आसन, नासाग्र दृष्टि, नगन, निराभरण, निर्विकार जिसौ भगवान कौ साक्षात् स्वरूप छै; तिस्यौ प्रतिमाजी ने देख्यां आदि आवै छै। परिणाम ऐते निर्मल होइ छै। अर श्रीप्रतिमाजी ने सांगोपांग अपना चित्त मैं ध्यावै तो वीतराग भाव ने पावै। यथा स्त्री को **रूति** चित्राम की, पाषाण की काष्ठादिक की देखि विकारभाव उपजै छै तथा वीतराग की प्रतिमा का दर्शन थकी ध्यान थकी निर्विकार चित्त होइ छै। अर आन देव की मूरति रागी द्वेषी छै। उन्मादने धारै छै। सो वाका दरशन ध्यान करि रोग द्वेष उन्माद बढ़ै छै। तीसौं आराधन जोग्य, दरसन जोग्य, धय्यान जोग्य जिनप्रतिमा ही छै। जीवां ने भुक्ति, मुक्ति दाता छै। यथा कलपवृक्ष, चिंतामणि औषधि, मन्त्रादिक सर्व अचेतन छै, पणि फल दाता छै तथा भगवत की प्रतिमा अचेतन छै, परन्तु फल दाता छै। ज्ञानी तो एक शांतीव का अभिलाषी छै। सो शांतभाव ने जिनप्रतिमा मूर्तवन्त दिखावै छै। तीसूं ज्ञानी जनांने सदा वन्दिवा ध्यावा जोग्य छे। अर जगत का प्राणी संसारीक भोग चावै छै। सो जिनप्रतिमा का पूजनथकी सर्व प्राप्ति होय छै। ऐसा जानि, हित मानि, संशय भानि जिन प्रतिमा की सेवा जोग्य छै।

अर्थ :– प्रतिमा बनवाना, मंदिर बनवाना, पूजा करना, प्रतिष्ठा कराना, तीर्थ यात्रा करना, शास्त्र लिखवाना और चतुर्विध संघ की सेवा करना, दान देने के ये सात क्षेत्र हैं।

यहाँ कोई **प्रश्न** करता है कि प्रतिमा जी अचेतन है, अत: किसी का भी निग्रह या अनुग्रह करने में समर्थ नहीं है, तब फिर प्रतिमाजी की सेवा करने से स्वर्ग एवं मोक्ष-फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

इसका **समाधान** यह है कि प्रतिमा जी का स्वरूप अत्यन्त शांत है, वह ध्यान की रीति दिखाती है। दृढ़ आसन, नासाग्र दृष्टि, नग्न, निराभरण और निर्विकारता – यह जिनेन्द्र भगवान का साक्षात् स्वरूप है। ऐसा ही स्वरूप प्रतिमाजी का है, इससे परिणाम निर्मल होते हैं। अपने चित्त में सांगोपांग प्रतिमा का ध्यान करने से वीतराग भावों की प्राप्ति होती है।

जैसे – चित्राम, पाषाण एवं काष्ठ आदि की बनी हुई स्त्री की मूर्ति देखने से विकार भाव उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार वीतराग प्रतिमा के दर्शन से अथवा ध्यान करने से चित्त निर्विकार हो जाता है और अन्य रागी, द्वेषी एवं उन्माद धारी मूर्तियों का दर्शन एवं ध्यान करने से राग-द्वेष एवं उन्माद की वृद्धि हो जाती है; इसलिए आराधना करने योग्य, दर्शन करने योग्य, ध्यान करने योग्य जिनप्रतिमा ही है। जीवों की भुक्ति और मुक्ति देने वाली भी जिनप्रतिमा ही है।

जैसे – कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न, औषधि और मन्त्र आदि ये सब अचेतन होते हुए भी फलदाता हैं; उसी प्रकार अचेतन होते हुए भी प्रतिमा फलप्रदा है। ज्ञानी तो मात्र एक शांतिभाव का ही अभिलाषी है। जिनप्रतिमा उन शांतिभावों को मूर्तिमान के सदृश दिखा देती है, इसलिए यह प्रतिमा ज्ञानी जनों के द्वारा सदा वन्दनीक और ध्यान करने योग्य है। जगत के प्राणी सांसारिक भोग चाहते हैं, सो जिनेन्द्र प्रतिमा की पूजन से सबकी प्राप्ति हो जाती है। ऐसा जानकर, हित मान कर, संशय त्याग कर, जिनप्रतिमा की सेवा पूजा करना ही योग्य है।

कवित्त

श्रीजिनदेव तनी अरचा अर, साधु दिगम्बर की अतिसेव।
श्रीजिन सूत्र सुनै गुरु सन्मुख , त्यागै कुगुरु कुधर्म कुदेव।।2338।।

अर्थ :– कुगुरु, कुधर्म और कुदेव को त्याग कर श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा करना, दिगम्बर साधुओं की अत्याधिक सेवा करना और गुरु-मुख से जिनागम सुनना।

धारै दान शील तप उत्तम, ध्यावै आतमभाव अछेव।
सो सब जीव लखै आपन सम, जाके सहज दया की टेव।।2339।।

दानतनी विधि है जु अनंत, सबै महिं मुख्य किमिच्छक दाना।
ताके अर्थ सुनूं मनवांछित, दान करै भवि सूत्र प्रवाना।।2340।।

अर्थ :– दान देना, शील और तप धारण करना, आत्मभाव का निरन्तर ध्यान करना, सब जीवों को अपने समान मानना और सहज ही दयाभाव का स्वभाव होना। इसप्रकार दान की अनन्त विधियाँ हैं। इन सबमें मुख्य किमच्छिक दान है, अब उसका अर्थ सुनो। भव्य जीव आगमानुसार जो

मनवांछित दान देते हैं, वह किमच्छिक दान कहलाता है।

तीरथ कारक चक्र जु धारक, देहि सकें इह दान निधाना।
और सबै निज शक्ति प्रमाण, करैं शुभ दान महा मतिवाना।।2341।।

अर्थ :– तीर्थंकर और चक्रवर्ती ही यह किमिच्छिक दान देते हैं और जो अन्य सब भव्य जीव अपनी शक्ति के अनुसार दान देते हैं, वही शुभ दान माना गया है।

सोरठा

कोउ कुबुद्धि कूर, चितवै चित में इह भया।
लहिहौं धन अतिपूर, तब करिहूँ दानहि विधी।।2342।।

अर्थ :– कोई कुबुद्धि और क्रूर जीव अपने चित्त में ऐसा विचार करते हैं कि जब हमारे पास भरपूर धन हो जायेगा, तब हम विधिपूर्वक दान करेंगे।

अब तो धन कछु नाहिं, पास हमारे दान कों।
किस विधि दान कराहिं, इह मन में धरि कृपण ह्वै।।2343।।

अर्थ :– वे कृपण ऐसा सोचते हैं कि अभी तो हमारे पास कोई विशेष धन नहीं है। हम किस प्रकार दान करें।

यो न विचारै मूढ़, शक्ति प्रमाणें त्याग है।
होय धर्म आरूढ़, करे दान जिनवैन सुनि।।2344।।

अर्थ :– जिनवाणी सुन कर शक्ति प्रमाण दान देना ही उत्तम धर्म है, वे मूढ़ ऐसा नहीं सोच पाते।

कछु हू नाहिं जुरै जु, तौ हू रोटी एक ही।
ज्ञानी दान करै जु, दान बिना धृग जनम है।।2345।।

अर्थ :– ज्ञानी पुरुष के पास कुछ भी न हो मात्र एक रोटी हो तो भी वह दान करता है; क्योंकि दान बिना जीवन धिक्कार योग्य है।

रोटी एक हु माहिं, तोहू रोटी आध ही।
जिनमारग के माहिं, दान बिना भोजन नहीं।।2346।।

अर्थ :– यदि एक ही रोटी है तो उसकी आधी रोटी दान में देना चाहिए; क्योंकि जैनागम ने दान दिये बिना भोजन की आज्ञा नहीं दी है।

एक ग्रास ही मात्र, देवै परि अतिहि अशक्त जो।
अर्ध ग्रास ही मात्र, देवै, परि नहि कृपण ह्वै।।2347।।

अर्थ :– एक ग्रास ही दान में देवें, यदि अति शक्तिहीन है तो आधे ग्रास का ही दान करें; किन्तु कृपण न बनें।

गेह मसान समान, भाषै किरपण को श्रुति।
मृत्तक समान बखान, जीवत ही कृपणा नरा।।2348।।

अर्थ :– आगम में कहा है कि कृपण का गृह श्मशान के समान है और जीते हुए भी कृपण मृतक के समान है।

जानौ गृद्ध समान, ताके सुत दारादिका।
जो नहिं करै सुदान, ताकौ धन आमिष समा।।2349।।

अर्थ :– जो उत्तम दान नहीं देते, उनका धन मांस के समान है और उनके स्त्री–पुत्र आदि गृद्ध पक्षी के समान हैं।

जैसे आमिष खाय, गिरध मसाणा मृतक कौ।
तैसे धन विनशाहिं, कृपण तनों सुत–दारका।।2350।।

अर्थ :– जैसे श्मशान में मृतक का मांस गृद्ध पक्षी खाते हैं, वैसे ही कृपण का धन स्त्री–पुत्रादि में ही विनाश हो जाता है।

सबकों देनौ दान, नाकारौ नहिं कोइ सूं।
करुणा भाव प्रधान, सब ही आतमराम हैं।।2351।।

अर्थ :– सब आत्माएँ एक समान हैं, अत: सबको दान देना चाहिए, किसी को भी 'न' नहीं करना चाहिए; क्योंकि करुणादान प्रधान दान है।

सब ही प्राणिन कों जु, अन्न वस्त्र जल औषधी।
सूखे तृण विधि सों जु, देने तिरजंचानि कों।।2352।।

अर्थ :– सब प्राणियों को भोजन, जल, वस्त्र और औषधि देना चाहिए और पशुओं को सूखा घास देना चाहिए।

गुनी देखि अति भक्ति, भाव थकी देनौ महा।
दान भुक्ति अरु मुक्ति, कारण मूल कहैं गुरु।।2353।।

अर्थ :– गुणी जनों को देख कर अत्यधिक भक्तिभाव से विशेष दान देवें। आचार्यों ने कहा है कि भुक्ति और मुक्ति का मूल कारण दान है।

पर परिणति कौ त्याग, ता सम आन न दान कोउ।
देहादिक को राग, त्यागें ते दाता बड़े।।2354।।

अर्थ :– पर-परिणति के त्याग के सदृश कोई दान नहीं है। जो देहादिक से राग का त्याग कर देते हैं, वे ही श्रेष्ठ दाता हैं।

कह्यौ दान परभाव, अब सुनि जलगालण विधि।
छांडौ मुगध स्वभाव, जलगालण विधि आदरौ।।2355।।

अर्थ :– दान का प्रभाव कहा। अब जल छानने की विधि सुनो। अपना मूढ़ स्वभाव छोड़कर जलगालन विधि का आदर करो।

।। अथ जलगालण विधि ।।

अब जलगालन रीति सुनौ बुध कान दे, जीव असंखिनि को हि प्राण को दान दे।
जो जल बरतै छांडि सोहि किरिया धनी, जलगालण की रीति धर्म में मुखी भनी।।2356।।

अर्थ :– हे बुधजन! जल छानने की विधि ध्यान देकर सुनो। जल छानना अर्थात् असंख्यात जीवों को प्राण दान देना है। जो छने हुए जल का ही प्रयोग करते हैं, वे ही क्रिया प्रधान श्रावक हैं। धर्म में जल छानने की विधि ही प्रधान मानी गयी है।

नूतन गाढ़ौ वस्त्र गुड़ी, बिनु जो भया, ताकौ गलनो करै चित्त धरिके दया।
डेढ़ हाथ लम्बो जु हाथ चौरो गहै, ताहि दुपड़पो करै छांणि जल सुख लहै।।2357।।

अर्थ :– नवीन, गाढ़ा (मोटा) और सल रहित वस्त्र का छन्ना (पानी छानने का वस्त्र) करना चाहिए। अपने चित्त में दया धारण कर डेढ़ हाथ चौड़ा और दो हाथ लम्बा वस्त्र लेकर उसे दुहरा कर, जल छानने से अगले भवों तक सुख प्राप्त होता है।

वस्त्र पुरानो अवर रंग को नांतिनां, राखै तिनतैं ज्ञानवन्त की पांति नां।
छांणन एक हु बूंद महीपरि जो परै, भाषैं श्रीगुरुदेव जीव अगणित मरैं।।2358।।

अर्थ :– पानी छानने के लिए पुराना या रंगीन वस्त्र रखना, यह ज्ञानवीरों की पहचान नहीं है। जल छानते समय यदि बिना छने जल की एक बूँद भी जमीन पर गिरती है तो असंख्यात जीव मरते

हैं – ऐसा आचार्य देव ने कहा है।

बरतैं मूरख लोग अगाल्यौ नीर जे, तिनकों केतौ पाप सुनो नर धीर जे।
असी बरस लों पाप करै धीवर महा, अवर पारधी भील वागुरादिक लहा।।2359।।

तेतो पाप लहै जु एक ही बार जे, अणछाण्यूं बरतें हि वारि तनधार जे।
ऐसौ जानि कदापि अगाल्यौ तोय जी, बरतौ मति ता माहिं महा अघ होय।।2360।।

अर्थ :– जो मूर्ख स्त्री-पुरुष बिना छने जल का उपयोग करते हैं, उन्हें कितना पाप लगता है? उसे हे धीरजन! ध्यानपूर्वक सुनो। धीवर, भील, पारधी और वागुरा अस्सी वर्ष पर्यन्त जो पाप करते हैं, उतना पाप एक ही बार बिना छने जल का प्रयोग करने वाले को लगता है। ऐसा जान कर बिना छने जल का प्रयोग कदापि मत करो, इसमें बहुत पाप लगता है।

मकरी के मुख थकी तन्तु निकसैं जिसौ, अति सूक्षम जो वीर नरी कृमि है तिसौ।
तामें जीव असंखि उडैं ह्वै भ्रमर ही, जम्बूद्वीप न भाय जिनेश्वर यों कही।।2361।।

अर्थ :– मकड़ी के मुख से जो तन्तु निकलते हैं, ऐसे असंख्यात सूक्ष्म जीव हे वीर! जल में होते हैं। यदि वे जीव भ्रमर बन कर उड़ें तो पूरे जम्बूद्वीप में न समायें। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

शुद्ध नातणे छांणि पान जल कों करै, छाण्यां जल थी धोय नांतणो जो धरै।
जतन थकी मतिवन्त जिवाण्यूं जलविषैं, पहुँचावै सो धन्य श्रुतविषै यूं लिखें।।2362।।

अर्थ :– शास्त्रों में लिखा है कि जो बुद्धिमान शुद्ध एवं प्रमाण युक्त वस्त्र से जल छान कर पीते हैं, छन्ना छने हुए जल से धोकर ही रखते हैं और जल की जीवानी बड़े यत्न से उसी स्थान पर पहुँचाते हैं, वे धन्य हैं।

जा निर्वाण को होय नीर ताहि महै, मधरावैं बुधिवान परम गुरु यों कहें।
ओछै कपड़े तीर गालहि जे नरा, पावै ओछी योनि कहें मनि श्रुतधरा।।2363।।

अर्थ :– आचार्यश्री कहते हैं कि जिस स्थान का जल है, उसी स्थान पर जीवानी पहुँचाने वाले ही बुद्धिमान हैं। श्रुतधारी मुनिराज कहते हैं कि प्रमाण से न्यून (छोटे) माप के वस्त्र से जल छानने वाले ओछी ही योनियों में जन्म लेते हैं।

जलगालन सम किरिया और नांही कही, जलगालन में निपुण सोहि श्रावक सही।
चउथी पड़िमा लगें लेई काचौ जला, आगे काचौ नाहिं प्रासुकों निर्मला।।2364।।

अर्थ :– जल छानने के समान और कोई क्रिया नहीं है। जो जल छानने की क्रिया में निपुण हैं, वे ही श्रावक हैं। चौथी प्रतिमा तक कच्चा पानी लिया जा सकता है, इसके बाद प्रासुक निर्मल

जल का ही उपयोग करना चाहिए।

जाण्यूं काचौ नीर इकेन्द्रो जानिये, द्वै घटिका त्रसजीव रहित सो मानिये।
प्रासुक मिरच लवंग कपूरादिक मिला, बहुरि कसेला आदि वस्तु तें जो मिला।।2365।।

सों लेनों दोय पहर पहली ही जैन में, आगें त्रस निपजन्त कह्यौ जिनवैन में।
तातौ भात उकालि वारि वसु पहर ही, आगे जंगम जीवहु उपजै सहज ही।।2366।।

अर्थ :– छान लेने पर भी कच्चा जल एकेन्द्रिय है, उसमें दो घड़ी (अड़तालीस मिनिट) पर्यन्त त्रस जीव नहीं रहते। मिर्च, लवंग, कपूर आदि तथा कसैली वस्तुएँ डालकर जो जल प्रासुक किया जाता है, दो पहर के पहले-पहले ही प्रासुक है, दो पहर (6 घण्टे) बाद उसमें त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं - ऐसा आगम में कहा है। इसलिए हे भाई! उबले हुए जल का उपयोग भी आठ पहर (24 घंटे) पर्यंत करना चाहिए। उसके पश्चात् उसमें भी त्रस जीव सहज ही उत्पन्न हो जाते हैं।

चौपाई

जे नर जिन आज्ञा नहिं जानै, चित्त में आवै सो ही ठानैं।
भात उकाल करैं नहिं, पानी, कछू इक उष्ण करै मनमानी।।2367।।

ताहि जु वरतैं अष्टहि पहरा, ते व्रत वर्जित अर श्रुति बहरा।
मरजादा माफिक नहिं सोई, ऐसें वरतो भवि मति कोई।।2368।।

अर्थ :– चावल जिसमें उबलने लग जावें, ऐसे गर्म जल की मर्यादा आठ पहर की है। जो मनुष्य जिनेन्द्र की आज्ञा नहीं जानते हैं तथा अपने मन में जो आता है, वही करते हैं। थोड़ा गर्म किया हुआ ही जल आठ पहर तक काम में लेते हैं, वे मनुष्य व्रत से रहित हैं और जिनवाणी को सुनने में मानो बहरे हैं। इसलिए हे भव्यों! जो जल मर्यादा के बाहर है, कोई भी उसका उपयोग मत करो।

जो जन जैनधर्म प्रतिपाला, ता घरि जल की है इह चाला।
काचौ प्रासुक तातौ नीरा, मरजादा में वरतैं वीरा।।2369।।

अर्थ :– जो मनुष्य जैनधर्म का प्रतिपालन करने वाले हैं, वे वीर पुरुष ही कच्चा जल, प्रासुक जल और कम गर्म जल का मर्यादा के भीतर ही प्रयोग करते हैं तथा आगमानुसार ही जल छानने आदि की विधि करते हैं।

प्रथमहिं श्रावक को आचारा, जलगालण विधि है निरधारा।
जे अणछाण्यों पीवैं पाणी, ते धीवर वागुर सम जाणी।।2370।।

अर्थ :– श्रावक का सर्वप्रथम आचरण विधिपूर्वक जल छानना है। जो अनछना जल पीते हैं, उन्हें धीवर और वागुर के समान जानना चाहिए।

बिन गाल्यो औरे नहिं प्याजे, अभख न खाजै और न ख्वाजै।
तजि आलस अर सब परमादा, गालै जल चित्त धरि अहलादा।।2371।।

अर्थ :– बिना छना जल दूसरों को भी न पिलावें। स्वयं अभक्ष्य न खावें और दूसरों को भी न खिलावें। आलस्य का त्याग कर, मर्यादापूर्वक कार्य करें और आह्लादित चित्त से विधिपूर्वक जल छानें।

जलगालण नहिं चित करै जो, जल छानन मै चित धरै जो।
अणछाण्यां की बूंद हु धरती, नाखै नहीं कदाचित् वरती।।2372।।

अर्थ :– जो जल छानने में प्रमाद नहीं करते हैं, उपयोगपूर्वक जल छानते हैं और क्वचित् कदाचित् भी बिना छने जल की बूँद जमीन पर नहीं गिरने देते, वे ही व्रती हैं।

बुन्द परैं तौ ले प्रायश्चित्ता, जाकें घट मैं दया पवित्ता।
यह जलगालण विधि भाई, गुरु आज्ञा अनुसार बताई।।2373।।

अर्थ :– जिनके हृदय में पवित्र दया का निवास है, उनके द्वारा यदि एक बूँद भी बिना छने जल की जमीन पर गिर जाती है तो वे प्रायश्चित लेते हैं। हे भाई! जल छानने की विधि गुरु-आज्ञा के अनुसार ही कही गई है।

।। निशि-भोजन का दोष ।।

दोहा

अब सुनि रात्रि अहारका, दोष महा दुखदाय।
द्वै मुहुरत दिन जब रहै, तबतैं त्याग कराय।।2374।।

अर्थ :– अब महादुख देने वाले रात्रिभोजन के दोष सुनो। सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व ही भोजन का त्याग कर दें।

दिवस मुहूरत द्वै चढ़ै, तब लों अनसन होय।
निशि अहार परिहार सो, व्रत न दूजौ कोय।।2375।।

अर्थ :– सूर्योदय के दो घड़ी पश्चात् तक जिन्हें भोजन का त्याग होता है, उन्हें ही रात्रिभोजन त्यागी जानें। इससे बड़ा अन्य कोई व्रत नहीं है।

निशिभोजन के त्याग तैं, पावै उत्तम लोक।
सुन नर विद्या धरन के, लहै महासुख थोक।।2376।।

अर्थ :- निशिभोजन त्याग से उत्तम गति प्राप्त होती है। मनुष्य को विद्याधर और देवों के महासुखों का समूह प्राप्त होता है।

जे निशि भोजन कारका, तेहि निशाचर जानि।
पावै नित्य निगोद के, जनम महा दुख खानि।।2377।।

अर्थ :- जो रात्रिभोजन करते हैं, उन्हें निशाचर जानो। ऐसे जीव सदैव महादुख की खान स्वरूप निगोद में जन्म लेते हैं।

निशि वासर कौ भेद नहिं, खात तृप्ति नहिं होय।
सो काहे के मानवा, पशुहूं तैं अधिकोय।।2378।।

अर्थ :- जिन्हें दिन-रात्रि का भेद नहीं है और जो रात-दिन खाते हुए भी तृप्त नहीं होते, वे क्या मनुष्य हैं? वे तो पशु से भी अधिक पापी हैं।

नाम निशाचर चारकौ, चोर समाना तेहि।
चरैं निशा कों पापिया, हरैं धर्ममति जे हि।।2379।।

अर्थ :- धर्मबुद्धि नष्ट हो जाने से जो पापी रात्रि में भोजन करते हैं, वे चोर के समान हैं और आचरण से निशाचर ही हैं।

बहुरि निशाचर नाम है, राक्षस कौ श्रुतिमाहिं।
राक्षस सम जो नर कुधी, रात्रि अहार कराहिं।।2380।।

अर्थ :- आगम में निशाचर नाम राक्षस का है। जो दुर्बुद्धि रात्रि को भोजन करते हैं, वे राक्षस ही हैं।

दिन भोजन तजि रैनि मैं, भोजन करे विमूढ़।
ते उलूक सम जानिये, महापाप आरूढ़।।2381।।

अर्थ :- जो मूर्ख दिन में न खाकर रात्रि में भोजन करते हैं, वे महापाप में आरूढ़ उल्लू के समान ही हैं।

मांस अहारी सारिखे, निशिभोजी मतिहीन।
जनम जनम या पाप तैं, लहै कुगति दुखदीन।।2382।।

अर्थ :– बुद्धिहीन रात्रिभोजी मनुष्य मांसाहारी के सदृश ही हैं। इस पाप के फलस्वरूप वे पापी महादुख और दीनता से भरी हुई कुयोनियों में जन्म-जन्म तक पैदा होते रहते हैं।

नाराच छन्द

अलूक काक औ बिलाव श्वान गर्दभादि का,
गहै कुजन्म पापिया जु ग्राम शूकरादि का।
कुछार छोवि माहिं कीट होय रात्रिभोजन का,
तजैं निशा अहार कों विमुक्ति पंथ खोज का।।2383।।

अर्थ :– रात्रिभोजी मनुष्य उस पाप के फलस्वरूप उल्लू, काक, बिलाव, गर्दभ और शूकर आदि कुयोनियों में तथा कछार एवं खेतों आदि में कीड़ों आदि की पर्याय में जन्म लेते हैं और रात्रिभोजन त्यागी हैं, वे मोक्षमार्ग को खोजते है।

निशा महै करें अहार तें, हि मूढ़धी नरा,
लहैं अनेक दोष कूं युधर्महीन पामरा।
जु कीट पाछरादिको भखैं अहार माहिं ते,
महा अधर्म धेरिके जु नर्क माहिं जाहिं तें।।2384।।

अर्थ :– जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य रात्रि को भोजन करते हैं, धर्महीन वे पापी अनेक दोषों को प्राप्त होते हैं। रात्रि के भोजन में वे कीट एवं मच्छर आदि को खा लेते हैं, जिसके पाप से वे अधर्मी नरकों में उत्पन्न होते हैं।

छन्द चाल

निशि माहीं भोजन करही, ते पिंडु अभखते भरही।
भोजन मैं कीड़ा खाये, तातैं बुधि मूल नशाये।।2385।।

अर्थ :– जो रात्रि में भोजन करते हैं, वे अभक्ष्य से ही पेट भरते हैं; भोजन में कीड़े आदि खा लेते हैं, इससे उनकी बुद्धि मूल से ही नाश हो जाती है।

जो जूंका उरदें जाये, तौ रोग जलोदर पाये।
मांखी भोजन मैं आवै, ततखिन सो वमन उपावै।।2386।।

अर्थ :– पेट में जूँ जले जाने से जलोदर रोग हो जाता है और यदि मक्खी पेट में चली जाये तो तत्काल वमन हो जाता है।

मकरी आवै भोजन मैं तो कुष्ठरोग हो तन में।
कंटक अरु काठ जु खंडा, फसि है जा गले परचंडा।।2387।।

तौ कंठ विथा विस्तारे, इत्यादिक दोष निहारे।
भोजन मैं आवै बाला, सुर, भंग होय ततकाला।।2388।।

अर्थ :– भोजन में मकड़ी पेट में जाने से सारे शरीर में कुष्ठ रोग हो जाता है। प्रचण्ड काष्ठ, खण्ड एवं काँटा आदि गले में फँस जाता है, जिससे कण्ठ में बहुत पीड़ा आदि हो जाती है और बाल खा जाने से तत्काल स्वर भंग हो जाता है। इस प्रकार रात्रिभोजन में बहुत दोष हैं।

निशिभोजन करके जीवा, पावैं दुख कष्ट सदीवा।
होवैं अति ही जु विरूपा, मनुजा अति विकल कुरूपा।।2389।।

अर्थ :– रात्रिभोजन करने वाले सदैव अति कष्ट और दुख पाते हैं, अति विरूप होते हैं, विकल होते हैं और कुरूप होते हैं।

अति रोगी आयुस थोरा, ह्वै भागहीन निरजोरा।
आदर–रहिता सुख–रहिता, अति ऊँच–नीचता सहिता।।2390।।

अर्थ :– ऐसे मनुष्य अति रोगी, अल्पायु, भाग्यहीन, कमजोर, निरादर योग्य, दुखी और अति नीच होते हैं।

इक बात सुनो मन लाई, हथनापुर पुर है भाई।
तामै इक हूतौ विप्रा, मिथ्यामत धारक लिप्ता।।2391।।

अर्थ :– हे भाई! मन लगा कर एक बात सुनो। हस्तिनापुर में मिथ्या मत में लिप्त एक ब्राह्मण रहता था।

रुद्रदत्त नाम है जाकौ, हिंसामारग मत ताकौ।
सो रात्रि–अहारी मूढ़ा, कुगुरुनि के मत आरूढ़ा।।2392।।

अर्थ :– उसका नाम रुद्रदत्त था। कुगुरुओं के मत में आरूढ़ रहने से वह हिंसामत का पोषक था और वह मूढ़ रात्रि में भोजन करता था।

इक निशि कों भोंदू भाई, रोटी मैं चींटी खाई।
बैंगन मैं मींडक खायौ, उत्तम कुल तिंह विनशायौ।।2393।।

अर्थ :– किसी एक रात्रि में उस मूढ़ ने रोटी में चींटी खा ली और किसी एक दिन बैंगन की

शाक में मेंढक खाकर, अपने उत्तम कुल का विनाश कर दिया।

कालान्तर तजि निज प्राणा, सो घू घू भयौ अयाणा।
पुनि मरि करि गयौ जु नर्का, पायौ अति दुख सम्पर्का।।2394।।

अर्थ :– कालान्तर में प्राण छोड़ कर (मरण) उल्लू हुआ और वह अज्ञानी वहाँ से मर कर नरक गया, वहाँ अति दुख भोगे।

नीसरि नरक जु तैं कागा, वह भयौ पाप–पथ लागा।
बहुरें नर्क जु के कष्टा, पायौ ताने जु सपष्टा।।2395।।

अर्थ :– पाप–पंथ का पोषक वह जीव नरक से निकल कर कागला हुआ, पश्चात् मरण कर पुनः नरक गया।

पुनि भयौ विडाल सु पापी, जीवनि कूं अति संतापी।
सो गयौ नर्क मैं दुष्टा, हिंसा करिके वो पुष्टा।।2396।।

अर्थ :– वहाँ से निकल कर जीवों को अत्यन्त सन्ताप देने वाला और हिंसा से ही शरीर पुष्ट करने वाला बिलाव हुआ, पश्चात् फिर नरक गया।

तहां तैं जु भयौ वह गृद्धा, पुनि गयौ नर्क अघवृद्धा।
नर्क जु तैं नीसरि पापी, हूवौ पसु पाप–प्रतापि।।2397।।

अर्थ :– वहाँ से निकल कर पाप की वृद्धि करने वाला वह पापी गृद्ध पक्षी हुआ और पुनः नरक गया। वहाँ से निकल कर वह पापी पाप के प्रभाव से पशु हुआ।

बहुरे जु गयौ शठ कुगती, घोर जु नर्के अति विमति।
नीसरि कै तिरजंच हूवौ, बहु पाप करी पशु मूवौ।।2398।।

पुनि गयौ नर्क में कुमती, नारक तैं अजगर अमती।
अजगर तैं बहुरि नर्का, पायौ अति दुख सम्पर्का।।2399।।

अर्थ :– मूढ़ और अत्यन्त खोटी बुद्धिवाला वह पशु पुनः कुगति रूपी नरक गया, वहाँ से निकल कर पशु हुआ और पाप बहलता से पुनः नरक गया। वहाँ से निकल कर वह मूढ़ अजगर हुआ। वह अजगर मर कर पाप बहुलता से पुनः नरक गया।

नर्क जु तैं भयौ वघेरा, तहां किये पाप बहुतेरा।
बहुरें नारकगति पाई, तहां तैं गोधा पशु जाई।।2400।।

अर्थ :– नरक से निकल कर वह बघेरा हुआ वहाँ बहुत पाप किये अत: पुन: नरक गया, वहाँ से निकल कर गोधा नामक पशु हुआ।

गोधा तै नर्क निवासा, नारक तैं मच्छ विभासा।
सो मच्छ नरक मैं जायौ, नारक मैं बहु दुख पायौ।।2401।।

अर्थ :– वह गोधा पशु नरक गया, वहाँ से निकल कर मच्छ हुआ, वह मच्छ मर कर पुन: नरक गया और वहाँ बहुत दुख भोगे।

नारक तें नीसरि सोई, बहुरि द्विजकुल में होई।
लोमस प्रोहित को पुत्रा सो धर्मकर्म के शत्रा।।2402।।

अर्थ :– नरक से निकल कर वह जीव ब्राह्मण कुल में लोमस नामक पुरोहित का पुत्र हुआ, जो धार्मिक क्रियाओं का शत्रु था।

जो महीदत्त है नामा, सातों विसन जुसों कामा।
नग्र जुतैं लह्यौ निकासा, मामा के गयौ निरासा।।2403।।

मामे हु राख्यौ नाही, तब काशी के वनमाहिं।
मुनिवर भेटे निरग्रन्था, जे देहि मुकति को पंथा।।2404।।

अर्थ :– उसका नाम महीदत्त था। सप्त व्यसनों में रत रहने के कारण वह नगर से निकाला गया। वहाँ से मामा के यहाँ गया, मामा ने भी उसे नहीं रखा, तब वह काशी गया। वहाँ उसकी भेंट मुक्ति पंथ को देने वाले एक निर्ग्रन्थ मुनिराज से हो गई।

ज्ञानी ध्यानी निज रत्ता, भव–भोग–शरीर–विरत्ता।
जानैं जन्मान्तर बातें, जिनके जिय में नहिं घाते।।2405।।

अर्थ :– वे मुनिराज ज्ञानी–ध्यानी थे, आत्मरत रहते थे। वे संसार, शरीर और भोगों से विरक्त थे, अवधिज्ञानी थे और दया की मूर्ति थे।

तिनकों लखि द्विज शिर नायौ, सब पापकर्म विनशायौ।
पूछी जन्मान्तर बातां, जो विधि पाई बहु घातां।।2406।।

सो मुनि ने सारी भाखी, कछु बात चीच नहिं राखी।
निशिभोजन सम नहिं पापा, जाकरि पायौ दुखतापा।।2407।।

अर्थ :– ऐसे मुनिराज को देख कर उस ब्राह्मण ने उन्हें नमस्कार किया और अपने सर्व पापों का विनाश किया तथा मुनिराज से अपने भवान्तर पूछे। जिस प्रकार उसने अपनी आत्मा का घात

किया था, वह सब बात मुनिराज ने उसे बता दी, कुछ भी बात शेष नहीं रखी और कहा कि रात्रि भोजन के समान और कोई पाप नहीं है। इसी पाप के कारण तूने बहुत दुख-संताप सहे हैं।

सुनि करि मुनिवर के बैना, ब्राह्मण धार्यो मत जैना।
सम्यक्त्व अणुव्रत धारी, श्रावक हूवौ अविकारी।।2408।।

अर्थ :- मुनिराज के वचन सुन कर उस ब्राह्मण ने जैन धर्म धारण कर लिया। सम्यक्त्व और अणुव्रत धारण कर वह शुद्ध श्रावक हो गया।

दोहा

मात पिता अति हित कियौ, दियौ भूप अति मान।
पुण्य उदय लक्षमी अतुल, पाप किये बहु दान।।2409।।

अर्थ :- माता-पिता ने उससे बहुत हित जनाया और राजा ने उसका बहुत सम्मान किया। नीति कहती है कि पुण्य उदय से अतुल लक्ष्मी प्राप्त होती है और पाप से बहुत हानि होती है।

चौपाई

पूजा करै जपै अरहन्त, महीदत्त हूवौ अति सन्त।
जिनमंदिर जिनबिम्ब रचाय, करी प्रतिष्ठा पुण्य उपाय।।2410।।

अर्थ :- धर्म के प्रभाव से महीदत्त एक सन्त के सदृश हो गया। प्रतिदिन भगवान की पूजा करता और अरहन्त प्रभु का जाप्य करता। उसने जिनमंदिर का निर्माण करा कर, जिनमूर्ति बनवा कर, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराई और विशिष्ट पुण्य उपार्जन किया।

सिद्धक्षेत्र वन्दै अधिकाय, जिनसिद्धान्त सुनै अधिकाय।
केतौ काल गयै इह भांति, समय पाय धारी उपशांति।।2411।।

शुभ भावनि तें छांडै प्रान, पायो षोडश स्वर्ग विमान।
ऋद्धि महा अणिमादिकलई, आयु बीस द्वैसागर भई।।2412।।

अर्थ :- सिद्धक्षेत्रों की अनेक बार वन्दना की और जैन सिद्धान्त भी अनेक बार सुना। कुछ समय व्यतीत हो जाने के बाद, समय पाकर उसने उपशांत भाव धारण किये। शुभ भावों से प्राण विजर्सन किये और सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुआ, वहाँ अणिमादि महाऋद्धियों का स्वामी हुआ और बाईस सागर की आयु प्राप्त की।

चयौ स्वर्ग थी सो परवीन, राजपुत्र हूवौ शुभ लीन।
देश अवन्ती उत्तम बसै, नगर उजैणी अति ही लसै।।2413।।

तहां नरपति पृथ्वीमल्ल, जिनधर्मी सम्यक्ति अचल्ल।
प्रेमकारिणी रानी महा, ताके उदर जन्म सो लहा।।2414।।

अर्थ :– स्वर्ग से चय कर शुभ भावों में लीन रहने वाला चतुर राजकुमार हुआ। अवन्ती देश की उज्जयनी नगरी का राजा पृथ्वीमल्ल था, जो जैनधर्मावलम्बी और दृढ़ सम्यक्त्वी था। उसकी प्रेमकारिणी नाम की रानी के गर्भ से उस राजकुमार ने जन्म लिया।

नाम सुधारस ताकौ भयौ, मात पिता अति आनन्द लयौ।
अनुक्रम वर्ष सातको जबै, विद्या पढ़ने सोप्यौ तबै।।2415।।

अर्थ :– माता–पिता को अत्यन्त आनन्द हुआ और उसका नाम सुधारस रखा गया। अनुक्रम से जब वह सात वर्ष का हुआ, तब पढ़ने को सौंपा गया।

शस्त्र शास्त्र में बहु परवीण, भयौ अणुव्रती समकित लीन।
जोवनवंत भयौ सुकुमार, ब्याह कियौ नहिं धर्म सम्हार।।2416।।

अर्थ :– वह शस्त्र विद्या में और शास्त्रों में अति निपुण हो गया। सम्यक्त्व में लीन रहते हुए उसने अणुव्रत धारण कर लिये। जब वह सुकुमार यौवनवन्त हुआ, तब भी धर्म में ही लीन रहा। उसने विवाह नहीं किया।

एक दिवस वनक्रीड़ा गयौ, बड़तरु विजुरीतै क्षय भयौ।
ताकों लखि उपनो वैराग, अनुप्रेक्षा चितई बड़मागा।।2417।।

अर्थ :– एक दिन वह वनक्रीड़ा के लिए गया। वहाँ उसने एक विशाल बड़े वृक्ष को बिजली गिरने के कारण नष्ट हुआ देखा, उसे देखते ही वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह पुण्यवान बारह भावनाओं का चिन्तन करने लगा।

चन्द्रकीर्ति मुनि के ढिग जाय, जिनदीक्षा लीनी शिर नाय।
अभ्यन्तर बाहिर चौबीस, ग्रन्थ तजै मुनि कूं नमि शीश।।2418।।

अर्थ :– उन्होंने चन्द्रकीर्ति मुनिराज के पास जाकर नमस्कार किया और बाह्य–अभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रह का त्याग कर, जिन–दीक्षा धारण कर ली।

पंच महाव्रत गुप्ति जु तीन, पंच समिति धारी परवीन।
सुकल ध्यान करि कर्म विनाि, केवल पायौ अति सुखराशि।।2419।।

अर्थ :– पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों में प्रवीणता प्राप्त करते हुए, शुक्लध्यान के बल से कर्मों का नाश कर सुख की राशि स्वरूप केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

बहुत भव्य उपदेशे जिनें, आयुकर्म पूरण करि तिनें।
शेष अघातिय को करि नाश, पायौ मोक्षपुरी सुखवास।।2420।।

अर्थ :– बहुत भव्य जीवों को उपदेश दे, वे जिनेन्द्र आयु कर्म के पूर्ण होते ही, शेष अघातिया कर्मों का नाश कर सुख के निवास–सदृश मोक्षपुरी को प्राप्त हुए।

निशि भोजन तैं जे दुख लये, अर त्यागे तें सुख अनुये।
तिनके फल को वर्णन करी, कथा अणणमी पूरण करी।।2421।।

अर्थ :– रात्रिभोजन करने से उस जीव ने जो दुख भोगे और रात्रिभोजन त्याग से जो सुख प्राप्त किये, उनके फल का वर्णन करने वाली यह कथा पूर्ण हुई।

छप्पय

इक चंडाली सुरझि व्रत सेठनि पैं लीयौ।
मन वच तन दृढ़ होय त्यागि निशिभोजन कीयौ।।
व्रत्त तनों परभाव त्याग तन अंतिज जाया।
वाही सेठनि के जु उदर उपजी वर काया।
गहि जैनधर्म धरि शीलव्रत, पापकर्म सब ही दहा।
लहि सुरगलोक नरलोक सुख, लोकशिखर कौ पथ गहा।।2422।।

अर्थ :– एक सुरझि नाम की चाण्डालिनी ने मन, वचन और काय की दृढ़तापूर्वक रात्रिभोजन त्याग व्रत एक सेठानी जी से लिया। उस अंतिज पुत्री ने अपना शरीर त्यागा और उस व्रत के प्रभाव से उसी सेठानी के उदर से उत्तम शरीरधारी कन्या के रूप में उत्पन्न हुई। जैनधर्म और शीलव्रत ग्रहण कर, सर्व पाप कर्मों को नष्ट कर तथा स्वर्गलोक और मनुष्यलोक के सुख भोग कर, मोक्ष शिखर के पंथ को ग्रहण कर लिया।।38।।

एक हुतौ जु शृगाल कर सुदरशन मुनिराया।
त्यागौ निशि को खान पान जिनधर्म सुहाया।
मरि करि हूवौ सेठ नाम प्रीतंकर जाकौ।
अद्‌भुत रूपनिधान धर्म मैं अति चित ताकौ।
भयौ मुनीश्वर सब त्यागि कै, केवल लहि शिवपुर गयौ।
नहिं रात्रिभुक्ति परित्याग सम और दूसरौ व्रत लयौ।।2423।।

अर्थ :– एक शृगाल था। उसने सुदर्शन मुनिराज से रात्रि में सर्व प्रकार के जल–भोजन का

त्याग कर जैनधर्म धारण किया। वह शृगाल मर कर अद्भुत रूप-सम्पदा को धारण करता हुआ, प्रीतिंकर नाम का सेठ हुआ। उसका चित्त धर्म में अत्यन्त लीन रहता था। वह सर्व परिग्रह का त्याग कर मुनीश्वर हुआ तथा केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गया। रात्रिभोजन त्याग व्रत के समान और कोई दूसरा व्रत नहीं है।

सोरठा

निशि भोजन करि जीव, हिंसक ह्वै चहुंगति भ्रमैं।
जे त्यागैं जु सदीव, निशिभोजन ते शिव लहैं।।2424।।

अर्थ :- रात्रिभोजन करने वाले जीव हिंसक होते हुए, चतुर्गति संसार में भ्रमण करते हैं और सदा के लिए रात्रिभोजन त्याग करने वाले मोक्ष-पद प्राप्त कर लेते हैं।

अर्ध उमरि उपवास, माहीं बीतै तिन तनी।
जे जन है जिनदास, निशिभोजन त्यागैं सुधी।।2425।।

अर्थ :- जिनेन्द्र भगवान के दास होकर जो बुद्धिमान रात्रिभोजन का त्याग कर देते हैं, उनकी आधी आयु उपवास में ही व्यतीत होती है।

दिवस नारि कौ त्याग, निशि कों भोजन त्यागई।
निशिदिन जिनमत राग, सदा व्रत मूरति बुधा।।2426।।

अर्थ :- जो बुद्धिमान दिन में स्त्री भोग का त्याग कर देते हैं और रात्रि में आहार-जल का त्याग कर देते हैं तथा अहर्निश जैनधर्म में ही अनुरक्त रहते हैं, वे सदा व्रत की मूर्ति ही हैं।

एक मास मैं भ्रात, पाख उपास फलैं फला।
जे निशि माहिं न खात, चारि अहारा धीधना।।2427।।

अर्थ :- जो धी-धन, रात्रि में चारों प्रकार के आहार जल का त्याग कर देते हैं, वे एक मास में एक पक्ष के उपवास सदृश फल को प्राप्त करते हैं।

निशि भोजन सम दोष, भयौ न ह्वै है होयेगौ।
महा पाप कौ कोष, मद्य मांस आहार सम।।2428।।

अर्थ :- रात्रिभोजन मद्य-मांस के आहार के समान है और महापाप का खजाना है। अत: इसके समान और कोई दोष न था, न है और न भविष्य में होगा।

त्यागै निशि कौ खान, तिन्हें हमारी वंदना।

देही अभय प्रदान, जीवगणनि कों ते नरा।।2429।।

अर्थ :– जो रात्रिभोजन का त्याग करते हैं, वे मनुष्य बहुत जीव-समूह को अभय प्रदान करते हैं, अत: हम (दौलतराम जी) उनकी वन्दना करते हैं।

कौ लग कहैं सुवीर, निशि भोजन के अवगुणा।
जानैं श्री महावीर, केवलज्ञान महन्त सब।।2430।।

अर्थ :– हे सुवीर! हम रात्रिभोजन के अवगुणों को कहाँ तक कहें? उसके अवगुण महावीर स्वामी जानते हैं और सर्व केवलज्ञानी महन्त जानते हैं।

।। अथ रत्नत्रय वर्णन ।।

सोरठा

अब सुनि दरसन ज्ञान, चरण मोक्ष के मूल हैं।
रतनत्रय निज ध्यान, तिन बिन मोक्ष न ह्वै भया।।2431।।

अर्थ :– हे भाई! जो मोक्ष का मूल है – ऐसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को सुनो। यह रत्नत्रय ही निजध्यान है। इसके बिना आज तक न तो किसी को मोक्ष हुआ है और न होगा।

सम्यग्दर्शन सो हि, आतम रुचि श्रद्धा महा।
करनों निश्चय जो हि, अपने शुद्ध स्वभाव कों।।2432।।

अर्थ :– अपने आत्मा की रुचि होना, अपने आत्मा की दृढ़ श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। हमें अपने शुद्ध स्वभाव का निश्चय करना चाहिए।

निज कौ जानपनो हि, सम्यग्ज्ञान कहैं जिना।
थिरता भाव घनो हि, सो सम्यक् चारित्र है।।2433।।

अर्थ :– अपने आत्मा का जानपना जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्ज्ञान कहा है। स्वयं में स्थिरता अर्थात् लीनता होना, सो उसका नाम सम्यक्चारित्र है।

चौपाई

प्रथमहि अखिल जतन करि भाई, सम्यक् दरसन चित्त धराई।
ताके होत सहज ही होई, सम्यग्ज्ञान चरन गुन दोई।।2434।।

अर्थ :– हे भाई! सर्वप्रथम प्रयत्न करके सम्यग्दर्शन को धारण करो। इसके होते ही सहज रूप से सम्यग्ज्ञान–चारित्र रूप दोनों गुण हो जाते हैं।

जीवाजीवादिक नव अर्था, तिनकी श्रद्धा बिन सब व्यर्था।
है श्रद्धान रहित विपरीता, आतमरूप अनूप अजीता।।2435।।

अर्थ :– आत्मा का स्वरूप अनुपम और अजीत है। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा से रहित परिणाम ही मिथ्यात्व है। जीव–अजीव आदि नौ पदार्थों की श्रद्धा के बिना सब व्यर्थ है।

सकल वस्तु हैं उभय स्वरूपा, अस्ति–नास्तिरूपी जु निरूपा।
अनेकांतमय नित्य अनित्या, भगवतने भाषे सहु सत्या।।2436।।

अर्थ :– सत्यभाषी भगवान ने कहा है कि सम्पूर्ण वस्तुएँ अस्ति–नास्तिरूप होने से उभय धर्म स्वरूप हैं और नित्य–अनित्यात्मक होने से अनेकान्तमय हैं।

तामैं संसै नाहिं जु करनौ, सम्यक दरसन ही दिढ़ धरनौ।
या भवमैं विभवादि न चाहै, परभव भोगनिकूं न उमाहै।।2437।।

अर्थ :– इनमें संशय नहीं करना – यही सम्यग्दर्शन की दृढ़ श्रद्धा है। इस भव में वैभव की चाह नहीं करना और पर–भव के भोगों की भी वांछा नहीं करना।

चक्री केशवादि जे पदई, इंद्रादिक शुभ पदई गिनई।
कबहू वांछै कछु हि न भोगा, ते कहिये भगवत के लोगा।।2438।।

अर्थ :– चक्रवर्ती एवं नारायण आदि के पदों की तथा इन्द्र आदि के शुभ पदों की और अन्य भी किन्हीं भोगों की जो कभी वांछा नहीं करते, वे ही भगवत् के लोग अर्थात् सम्यग्दृष्टि कहे जाते हैं।

जो एकांतवाद करि दूषित, परमत गुण करि नाहिं जु भूषित।
ताहि न चाहै मन वच तन करि, ते दरसन धारी उरमैं धरि।।2439।।

अर्थ :– आप अपने हृदय में ऐसा निश्चय रखो कि जो सिद्धांत एकांतवाद से दूषित है और पर–मत से भूषित (युक्त) है; उसे मन–वचन–काय से नहीं चाहने वाले ही सम्यग्दृष्टि हैं।

क्षुधा तृषा अर उष्ण जु सीता, इनहिं आदि सुखभाव वितीता।
दुखकारणमैं नाहिं गिलानी, सो सम्यकदरसन गुणखानी।।2440।।

अर्थ :– क्षुधा, तृषा, गर्मी और सर्दी आदि से उत्पन्न सुख–स्वभाव में जो अनुरक्त

नहीं हैं और इनसे उत्पन्न दुखों में जिसे ग्लानि नहीं है, वही सम्यग्दर्शन गुणधारी है।

लोकविषैं नहिं मूढ़तभावा, श्रुति अनुसार लखै निरदोषा।
जैनशास्त्र बिनु और जु ग्रंथा, शास्त्राभ्यास गिनै अघपंथा।।2441।।

जैन समय बिनु और जु समया, समयाभास गिनै सहु अदया।
बिनु जिनदेव और हैं जेते, लखै जु देवाभास सु तेते।।2442।।

श्रद्धानी सो तत्त्वविज्ञानी, धरै सुदर्शन आतमध्यानी।
करै धर्म की जो बढ़वारी, सदा सु मार्दव आर्जवधारी।।2443।।

अर्थ :– जो लौकिक चमत्कारों में मूढ़ नहीं होते हैं, आगमानुसार ही देखते हैं, जैनागम के अतिरिक्त और ग्रन्थों को पाप-पन्थी एवं शास्त्राभ्यास मानते हैं। जैन धर्म के अलावा और जो भी लोक-प्रचलित हिंसा-पोषक धर्मों को जो समयाभास मानते हैं, उन सभी को अधर्म मानते हैं तथा जिनदेव के अलावा और जो भी हैं, उन्हें देवाभास/कुदेव मानते हैं; वह सम्यग्दृष्टि जीव सात तत्त्व का श्रद्धानी होता है, सात तत्त्वों का जानने वाला होता है तथा आत्मध्यानी होता है; वह धर्म की प्रशंसा करता है तथा मृदुता और सरलता का धारक होता है।

पर औगुन ढाँके बुधिवंता, सो सम्यग्दरशन धर संता।
काम क्रोध मद आदि विकारा, तिनकरि भये विकलमति धारा।।2444।।

न्यायमार्गतैं विचल्यौ चाहै, मिथ्यामारग कौ जु उमाहै।
तिनकों ज्ञानी थिरचित कारै, युक्तथकी भ्रमभाव निवारै।।2445।।

अर्थ :– जो बुद्धिमान दूसरों के अवगुण ढँकते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं। काम, क्रोध, मद आदि विकारों से जिसकी बुद्धि विकल हो रही हो, जो न्याय मार्ग से विचलित हो रहे हों और जिनका झुकाव मिथ्यामार्ग की ओर हो रहा हो, युक्ति से उनका भ्रम-निवारण कर उनका चित्त ज्ञान में स्थिर करना।

आप सुथिर औरें थिर कारै, सो सम्यकदरशन गुण धारै।
दयाधर्ममैं जो हि निरंतर, करै भावना उर अभ्यंतर।।2446।।

अर्थ :– रत्नत्रय में जो आप स्थिर रहते हैं, दूसरों को भी स्थिर करते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं। अपने हृदय में जो निरन्त दया भावना रखते हैं, वे सम्यग्दृष्टि हैं।

शिवसुख लक्ष्मी कारण धर्मो, जिनभाषित भवनाशित पर्मो।

तासौं प्रीति धरै अधिकेरी, अर जिनधर्मिनसूं बहुतेरी।।2447।।

प्रीति करै सो दर्शनधारी, पावै लोकशिखर अविकारी।
यथा तुरत के बछरा ऊपरि, गो हित राखै मनवचतन करि।।2448।।

तथा धर्म धर्मिनसौं प्रीती, जाके, ताने शठता जीती।
आतम निर्मल करणों भाई, अतिसयरूप महा सुखदाई।।2449।।

अर्थ :– दयाधर्म जिनेन्द्र द्वारा कथित है, भव का नाश करने वाला है और मोक्ष–सुख रूपी लक्ष्मी का कारण है। जैन धर्मावलम्बियों के प्रति बहुत अधिक प्रीति रखनी चाहिए। ऐसी प्रीति रखने वाले ही सम्यग्दृष्टि होते हैं और निर्विकार मोक्ष–शिखर को प्राप्त करते हैं। सद्यःप्रसूत गाय की अपने बछड़े पर जैसी प्रीति होती है, मायाचारी रहित ऐसी ही प्रीति धर्म और धर्मात्माओं के प्रति होनी चाहिए।

हे भाई! अपने आत्म–परिणामों की निर्मलता ही अतिशय सुख देने वाली है।

दर्शन ज्ञान चरण सेवन करि, केवल उतपति करनौ भ्रम हरि।
सो सम्यक परभाव न होई, परभावनकौ लेश न कोई।।2450।।

अर्थ :– जहाँ भ्रम नष्ट हो जाता है, पर–भावों का लेशमात्र नहीं रहता और जहाँ सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की सेवा केवलज्ञान की उत्पत्ति का कारण बनता है, वहाँ सम्यक्त्व का प्रभावना अंग होता है।

दान तपो जिनपूजा करिकै, विद्या अतिशय आदि जु धरिकै।
जैनधर्म की महिमा कारै, सो सम्यकदरशन गुण धारै।।2451।।

अर्थ :– जो दान देकर, तपश्चरण करके, जिनेन्द्र की पूजा करके या कराके तथा विद्या की अतिशयता धारण करके जो जैनधर्म की महिमा का प्रकाशन करते हैं, वे सम्यग्दर्शन गुण के धारी हैं।

ए दरशन के अष्ट जु अंगा, जे धारैं उर माहिं अभंगा।
ते सम्यक्ती कहिये वीरा, जिन आज्ञा पालक ते धीरा।।2452।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन के इन आठ अंगों को अपने हृदय में अतिचार रहित धारण करते हैं, वे वीर सम्यग्दृष्टि हैं और वे ही धीर पुरुष जिनेन्द्र की आज्ञा के पालक हैं।

सेवनीय है सम्यकज्ञानी, माया मिथ्या ममता भानी।

सदा आत्मरस पीवैं धन्या, ते ज्ञानी कहिये नहिं अन्या।।2453।।

अर्थ :– जो सदा आत्म-रस पीते हैं, वे ही धन्य हैं और वे ही ज्ञानी हैं; अन्य नहीं। माया, मिथ्या और ममता को छोड़ने वाले ऐसे सम्यग्ज्ञानी ही सेवनीय हैं।

यद्यपि दरशन ज्ञान न भिन्ना, एकरूप हैं सदा अभिन्ना।
सहभावी ए दोऊ भाई, तौ पनि किंचित् भेद धराई।।2454।।

अर्थ :– यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान – ये दोनों भिन्न नहीं हैं, एक रूप हैं; सदैव अभिन्न हैं। हे भाई! ये दोनों सहभावी हैं, फिर भी किंचित् भेदों को धारण करते हैं।

भिन्न-भिन्न आराधन तिनका, ज्ञानवंत के होई जिनका।
एक चेतना के द्वै भावा, दरसन ज्ञान महा सुप्रभावा।।2455।।

अर्थ :– सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये महाप्रभावक एक चेतना के ही दो भाव हैं। ज्ञानवान भव्य इनका भिन्न-भिन्न आराधन करते हैं।

दरसन है सामान्य स्वरूपा, ज्ञान विशेष स्वरूप निरूपा।
दरसन कारन ज्ञान सु कार्या, ए दोऊ न लहैं हि अनार्या।।2456।।

अर्थ :– दर्शन वस्तु के सामान्य धर्म को ग्रहण करता है और ज्ञान उसी वस्तु के विशेष धर्म को ग्रहण करता है। दर्शन कारण है और ज्ञान उसका कार्य है। ये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अनार्य मनुष्यों को नहीं होते हैं।

निराकार दर्शन उपयोगा, ज्ञान धरै साकार नियोगा।
कोऊ प्रश्न करै इह भाई, एककाल उत्पत्ति बताई।।2457।।
दरसन ज्ञान दुहुन की तातैं, कारन कारिज होई न तातैं।
ताकौ समाधान गुरु भाषैं, जे धारैं ते निजरस चाखैं।।2458।।

अर्थ :– दर्शनोपयोग निराकार है और ज्ञानोपयोग साकार हैं। हे भाई! यहाँ कोई शंका करता है कि दर्शन और ज्ञान – इन दोनों की जब एक ही काल में उत्पत्ति कही गई, तब दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता है? इसका उत्तर गुरुदेव कहते हैं। जो इसे अपने हृदय में धारण करते हैं, वे ही आत्मरस का अनुभव करते हैं।

जैसैं दीपक अर परकासा, एक काल उपजैं निजरूपा।
दरसन कारनरूपी कहिये, कारिजरूपी ज्ञान सु गहिये।।2459।।

अर्थ :– जैसे दीपक और प्रकाश का एक ही काल में प्रतिभास होता है, फिर भी उस प्रकाश में दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है।

तैसैं दर्शन ज्ञान अनूपा, एक काल उपजै निजरूपा।
दर्शन कारनरूपी कहिए, कारिजरूपी ज्ञान सु गहिए।।2460।।

अर्थ :– उसी प्रकार ये अनुपम दर्शन और ज्ञान अपने स्वरूप से एक ही काल में उत्पन्न होते हैं, फिर भी दर्शन कारण स्वरूप है और ज्ञान उसके कार्य स्वरूप है। ऐसा जानना।

विद्यमान हैं तत्त्व सबैं ही, अनेकांततारूप फबैं ही।
तिनकौ जानपनों जो भाई, संशय विभ्रम मोह नशाई।।2461।।

अर्थ :– विद्यमान सब तत्त्व अनेकान्तता से ही शोभायमान होते हैं। हे भाई! इन तत्त्वों को यथावत् जानने से संशय, विभ्रम और मोह का नाश हो जाता है।

जो विपरीत रहित निजरूपा, आतमभाव अनूप निरूपा।
सौ है सम्यग्ज्ञान महंता, निजकौ जानपनों विलसंता।।2462।।

अर्थ :– निजरूप जो आत्मभाव है, वह विपरीतता रहित, अनुपम और निरूपी है; वही महान सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान निज को निज के जानने से ही शोभायमान होता है।

अष्ट अंगकरि शोभित सोई, सम्यकज्ञान सिद्धकर होई।
ते धारौ भवि आठों शुद्धा, जिनवाणी अनुसार प्रबुद्धा।।2463।।

अर्थ :– जो सम्यग्ज्ञान आठ अंगों से सुशोभित होता है, वही सिद्धि का दाता होता है। अत: हे प्रबुद्ध भव्यजन! आगमानुसार इन शुद्ध आठ अंगों को धारण करो।

शब्द शुद्धता पहलो अंगा, शुद्ध पाठ पढ़ई जु अभंगा।
अर्थशुद्धता अंग द्वितीया, करै शुद्ध अर्थ जु बिधि लीया।।2464।।

अर्थ :– स्खलित हुए बिना शुद्ध पाठ बोलना 'शब्द शुद्धता' नाम का प्रथम अंग है और विधिपूर्वक शुद्ध अर्थ करना 'अर्थ शुद्धता' नाम का दूसरा अंग है।

शब्द अर्थ दुहु की निर्मलता, मन वच तन काया निहचलता।
सो है तीजो अंग विशुद्धा, सम्यक्ती धारै प्रतिबुद्धा।।2465।।

अर्थ :– मन, वचन और काय की निश्चलतापूर्वक शब्द और अर्थ इन दोनों की निर्मलता रखना तीसरा अंग है। प्रबुद्ध ऐसी सम्यक्त्वता को धारण करते हैं।

कालाध्ययन चतुर्थम अंगा, ताकौ भेद सुनौ अतिरंगा।
जा विरियां जो पाठ उचित्ता, सो ही पाठ करै जु पवित्ता।।2466।।

अर्थ :– सुकाल अध्ययन नाम का चौथा अंग है। इसके अनेक भेद हैं, उन्हें सुनो। जिस समय जो पाठ करना उचित है, उस समय वही पवित्र पाठ करना चाहिए।

विनय अंग है पंचम भाई, विनयरूप रहिवौ सुखदाई।
सो उपधान है छट्टम अंगा, योग्य क्रिया करिवौ जु अभंगा।।2467।।

अर्थ :– हे भाई! पाँचवाँ विनय नाम का अंग है। विनयरूप रहना अर्थात् विनयपूर्वक ही स्वाध्याय आदि करना ही सुखदायी है। उपधान नामक छठवाँ अंग है। इसमें योग्य क्रिया करना ही उचित है।

जिनभाषितकों अंगीकरनौ, सो उपधान अंग कौ धरनौ।
सत्तम है बहुमान विख्याता, ताकौ अर्थ सुनूं तजि घाता।।2468।।

अर्थ :– अंगी को जिनेन्द्र द्वारा कथित उपधान अंग को धारण करना चाहिए। बहुमान नाम का सातवाँ विख्यात अंग है। अभिमान छोड़कर अब इस अंग का अर्थ सुनो।

बहु सतकार सु आदर करिकै, जिन आज्ञा पालै उर धरिकै।
अष्टम अंग अनिह्नव धारैं, ते अष्टम भूमी जु निहारैं।।2469।।

अर्थ :– भगवान जिनेन्द्र की आज्ञा हृदय में धारण करके बहुत सत्कार और आदरपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए। जो अनिह्नव नाम के आठवें अंग को धारण करते हैं, वे ही आठवीं पृथ्वी की ओर देखते हैं।

जा गुरु के ढिग तत्त्वविज्ञाना, पायौ अद्भुत रूप निधाना।
ता गुरुकौ नहिं नाम छिपावै, बारंबार महागुण गावै।।2470।।

अर्थ :– जिस गुरु से तत्त्वज्ञान रूप अद्भुत निधान को प्राप्त किया, उस गुरु का नाम नहीं छिपाना चाहिए, अपितु बारम्बार महागुण गाना चाहिए।

सो कहिये जु अनिह्नव अंगा, ज्ञानस्वरूप अनूप अभंगा।
सम्यग्ज्ञान तनूं आराधन, ज्ञानिनकों करनूं शिवसाधन।।2471।।

दरशनमोह रहित जो ज्ञानी, तत्त्वभावना दृढ़ ठहरानी।
जे हि जथारथ जानैं भावा, ते चारित्र धरैं निरदावा।।2472।।

अर्थ :– जिस गुरु से तत्त्वज्ञानरूप, अद्भुत रूप निधान स्वरूप तत्त्वविज्ञान प्राप्त किया है, उसका नाम नहीं छिपाना; अपितु बार-बार उनका गुणगान ही करना, वह ज्ञानस्वरूप अनुपम और अभंग अनिह्नव नामक अंग है। ज्ञानियों को इस प्रकार सम्यग्ज्ञान का आराधन का शिव का साधन करना चाहिए।

बिना ज्ञान नहिं चारित सोहै, बिना ज्ञान मनमथ मन मोहै।
तातैं ज्ञान पाछे जु चरित्रा, भाख्यौ जिनवर परम पवित्रा।।2473।।

अर्थ :– बिना ज्ञान के चरित्र सुशोभित नहीं होता है; क्योंकि ज्ञान के बिना मन्मथ आदि विकारी भाव मोहित कर लेते हैं, इसलिए जिनेन्द्र देव ने ज्ञान के बाद होने वाले चारित्र को ही पवित्र कहा है।

चारित्र का वर्णन

सर्व पापमारग परिहारा, सकल कषायरहित अविकारा।
निर्मल उदासीनता रूपा, आतमभाव सु चरन अनूपा।।2474।।

अर्थ :– जिन्होंने सर्व पापमार्ग का त्याग कर दिया है, जो (अनन्तानुबन्धी) कषाय से रहित होने के कारण अविकारी हैं, निर्मल हैं और उदासीन हैं; वे ही अनुपम आत्मभाव में आचरण करते हैं।

सो चारित्र दोय विधि भाई, मुनि-श्रावक व्रत प्रकट कराई।
मुनिकौ चारित सर्व जु त्यागा, पापरीति के पंथ न लागा।।2475।।

अर्थ :– हे भाई! मुनिव्रत और श्रावकव्रत के भेद से उस चारित्र की दो विधियाँ हैं। इनमें से मुनि का चारित्र परिग्रह के त्याग से और पापरीति के मार्ग का परित्याग करने से ही होता है।

ताके तेरह भेद बखानैं, जिनवानी अनुसार प्रवानैं।
पंच महाव्रत पंच जु समिती, तीन गुपति के धारक सुजती।।2476।।

अर्थ :– आगमानुसार मुनि-चारित्र के तेरह भेद कहे गये हैं, इन्हें प्रमाण मानना चाहिए। पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति के धारक ही उत्तम यति होते हैं।

चउ विधि जंगम पंचम थावर, निश्चयनय करि सब हि बराबर।
तिन सर्वनि की रक्षा करिवौ, सो पहलो सु महाव्रत धरिवौ।।2477।।

अर्थ :– निश्चयनय से चार प्रकार के त्रसजीव और पाँच प्रकार के स्थावर जीव समान

हैं। इन सर्व जीवों की रक्षा करना प्रथम महाव्रत है।

संतत सत्य वचनकौ कहिवौ, अथवा मौनव्रत्तकों गहिवौ।
मृषावाद बोलै नहिं जोई, दूजौ महाव्रत्त है सोई।।2478।।

अर्थ :– सदा सत्य बोलना अथवा मौन व्रत ग्रहण करना, किन्तु असत्य कभी भी नहीं बोलना; सो दूसरा महाव्रत है।

कौड़ी आदि रतन परजंता, घटि अघटित तसु भेद अनंता।
दत्त अदत्त न परसै जोई, तीजौ महाव्रत्त है सोई।।2479।।

अर्थ :– एक कौड़ी से रत्न पर्यन्त के निर्मूल्य अथवा बहुमूल्य किसी भी दत्त अथवा अदत्त पदार्थों का स्पर्श नहीं करना, सो तीसरा महाव्रत है।

पशु पंछी नर दानव देवा, भववासी रमनी–रत मेवा।
तजै निरंतर मदन विकारा, सो चौथौ जु महाव्रत भारा।।2480।।

अर्थ :– पशु, पक्षी, मनुष्य, देव एवं दानव आदि सब जीव स्त्री में रत रहते हैं, जिसके फलस्वरूप वे जगत के वास को नहीं छोड़ते हैं। ऐसे मदन विकार को सदा–सदा के लिए त्याग कर देना चौथा महाव्रत है।

द्विविधि परिगृह त्यागै भाई, अंतर बाहिर संग न काई।
नगर दिगंबर मुद्रा धारा, सो हि महाव्रत पंचम सारा।।2481।।

अर्थ :– हे भाई! बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग कर नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण करना पाँचवाँ महाव्रत है।

ईर्या समिति ऋषी जो चालै, भाषासमिति कुभाषा टालै।
भखै अहार अदोष मुनीशा, ताहि एषणा कहैं अधीशा।।2482।।

अर्थ :– मुनिजनों द्वारा चार हाथ भूमि देखकर चलना ईर्या समिति है, कुभाषा टाल कर बोलना भाषा समिति है और मुनिराजों के द्वारा जो निर्दोष आहार ग्रहण किया जाता है; वह एषणा समिति है। ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

है आदाननिक्षेपा सोई, लेहि निरखि शास्त्रादिक जोई।
अर परिठवणा पंचम समिती, निरखि भूमि डारै मल सुजती।।2483।।

अर्थ :– शास्त्रादि को देखकर उठाना–रखना, आदान–निक्षेपण समिति है। निर्जन्तु

भूमि देखकर मल-त्याग करना प्रतिष्ठापना नाम की पाँचवीं समिति है।

मनोगुप्ति कहिये मन रोधा, वचनगुप्ति जो वचन निरोधा।
कायगुप्ति काया बस करिवौ, ए तेरह विधि चारित धरिवौ।।2484।।

अर्थ :- मन का रोध करना मनोगुप्ति है, वचन का निरोध करना वचनगुप्ति है। काया पर नियंत्रण होना कायगुप्ति है। मुनिराज यह तेरह प्रकार का चारित्र धारण करते हैं।

एकदेश गृहपति चारित्रा, द्वादश व्रतरूपी हि पवित्रता।
जो पहली भाख्यौ अब तातैं, कह्यौ नहीं श्रावकव्रत तातैं।।2485।।

अर्थ :- श्रावक का बारह व्रत रूपी पवित्र चारित्र एक देश कहा जाता है। श्रावक के व्रतों का कथन पहले कर चुके हैं, अत: अब यहाँ नहीं कर रहे हैं।

इह रतनत्रय मुनि के पूरा, होवैं अष्टकर्म दल चूरा।
श्रावक के नहिं पूरण होई, धरै न्यूनतारूप जु सोई।।2486।।

अर्थ :- यह रत्नत्रय मुनिजनों के पूर्ण होता है, जो अष्ट कर्म को नष्ट कर देता है। श्रावकों के यह रत्नत्रय पूर्ण नहीं होता है, कुछ न्यून होता है।

इह रतनत्रय करि शिव लेवै, चहुँ गति कों भवि पानी देवे।
या करि सीझे अरु सीझेंगे, यह लहि पर में नहिं रीझेंगे।।2487।।

अर्थ :- भव्य जीव इस रत्नत्रय से चतुर्गतियों को तिलांजलि देकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। इस रत्नत्रय को प्राप्त करके भव्यजन पर में नहीं रीझते, अत: इसी से मोक्ष जाते हैं और जावेंगे।

या करि इन्द्रादिक पद होवै, सो दूषण शुभको बुध जोवै।
इह तौ केवल मुक्ति प्रदाई, बंधनरूप होय नहिं पाई।।2488।।

अर्थ :- इस रत्नत्रय से इन्द्रादिक पद भी प्राप्त होते हैं, किन्तु बुद्धिमान जन इन पदों की प्राप्ति में शुभराग का ही दूषण मानते हैं; क्योंकि रत्नत्रय बन्धनरूप नहीं होता, यह तो मुक्ति-प्रदाता ही होता है।

बंध-विदारन मुक्ति-सुकारण, इह रतनत्रय जगत उधारण।
रतनत्रय सम और न दूजौ, इह रतनत्रय त्रिभुवन पूजो।।2489।।

अर्थ :– यह रत्नत्रय जग से उद्धार कराने वाला है, बन्ध का विदारन करने वाला है और मुक्ति का उत्तम कारण है। यह रत्नत्रय त्रिभुवन पूज्य है। इस रत्नत्रय के समान और कोई दूसरा नहीं है।

रतनत्रय बिनु मोक्ष न होई, कोटि उपाव करै जो कोई।
नमस्कार या रतनत्रय कों, जो दै परमभाव अक्षय कों।।2490।।

अर्थ :– कोई व्यक्ति भले करोड़ों उपाय कर ले, किन्तु रत्नत्रय के बिना मोक्ष कदापि नहीं हो सकता; अत: जो परमभाव और अक्षय पद देने वाला है, ऐसे रत्नत्रय को नमस्कार हो।

रतनत्रय की महिमा पूरन, जानि सकै वसु कर्म–विचूरन।
मुनिवर हू पूरण नहिं जानैं, जिन–आज्ञा अनुसार प्रवानैं।।2491।।

अर्थ :– जो आठ कर्मों का नाश कर देते हैं, वे ही इस रत्नत्रय की महिमा को पूर्ण रूपेण जान सकते हैं। जिनेन्द्राज्ञानुसार प्रवर्तन करने वाले मुनिराज भी इस रत्नत्रय की पूर्ण महिमा को नहीं जान सकते।

सहस जीभ करि वरणन करई, तिन हूँ पै नहिं जाय वरणई।
हमसे अलपमती कहो कैसे, भाषै बुधजन धारहु ऐसे।।2492।।

अर्थ :– बुद्धिमान जन स्वयं विचार कर लें कि जब हजार जिह्वाओं को धारण करने वाले भी इस रत्नत्रय की पूर्ण महिमा का वर्णन नहीं कर सकते हैं, तब हम (दौलतराम) जैसे अल्पज्ञ कैसे कर सकते हैं।

त्रेपन किरिया कौ यह मूला, रतनत्रय चेतन अनुकूला।
जिन धार्यो तिन आपौ तार्यो, याकरि बहुतनि कारिज सार्यो।।2493।।

अर्थ :– यह रत्नत्रय चेतन के अनुकूल है और श्रावक की त्रेपन क्रियाओं का मूल है। जिसने भी इसे धारण कर लिया, उसी ने अपनी आत्मा का उद्धार कर लिया। इस रत्नत्रय ने बहुत भव्य जीवों के कार्य पूर्ण किये हैं।

धन्य घरी वह ह्वैगी भाई, रतनत्रय सों जीव मिलाई।
पहुंचेगो शिवपुर अविनाशी, होवेगो अति आनन्द राशी।।2494।।

अर्थ :– हे भाई! मेरी यह धन्य घड़ी कब होगी, जब मेरे जीव (आत्मा) से रत्नत्रय का एकाकार होगा और मैं मोक्ष जाकर अविनाशी आनन्द–समूह का भोग करूँगा।

सब ग्रंथनि में त्रेपन किरिया, इन करि, इन बिन भव वन फिरिया।
जो ए त्रेपन किरिया धारै, सो भवि अपना कारिज सारै।।2495।।

अर्थ :– सब ग्रन्थों में त्रेपन क्रियाएँ कहीं गई हैं। इनको धारण किये बिना यह जीव संसाररूपी वन में परिभ्रमण कर रहा है। जो भव्य इन त्रेपन क्रियाओं को धारण कर लेते हैं, वे अपना कार्य साध लेते हैं।

सुरग मुकति दाता ए किरिया, जिनवानी सुनि जिन ए धरिया।
बिन पाई निज परणति शुद्धा, ज्ञानस्वरूपा अति प्रतिबुद्धा।।2496।।

अर्थ :– ये त्रेपन क्रियाएँ स्वर्ग और मुक्ति देने वाली हैं। जो भव्य आगम से इन त्रेपन क्रियाओं को सुन कर, भलीभाँति जानकर उन्हें धारण करते हैं; वे अतिप्रतिबुद्ध होते हुए ज्ञानस्वरूप अपनी निज शुद्ध परिणति को प्राप्त कर लेते हैं।

है अनादि सिद्धा ए सर्वा, ए किरिया धारिवौ तजि गर्वा।
ठौर ठौर इनको जस भाई, ए किरिया गावै जिनराई।।2497।।

अर्थ :– ये सर्व क्रियाएँ अनादि सिद्ध हैं, अत: इनको निर्गर्व हो कर धारण करो। हे भाई! जिनेन्द्र देव ने आगम में इन क्रियाओं का स्थान-स्थान पर यश गाया है।

गणधर गावैं मुनिवर गावैं, देव भाष में शबद सुनावैं।
पंचम काल माहिं सुर भाषा, विरता समझै जिनमत साखा।।2498।।

तातें यह नर-भाषा कीनी, सुर-भाषा अनुसारे लीनी।
जो नर-नारि पढ़ै मन लाई, सो सुख पावै अति अधिकाई।।2499।।

अर्थ :– गणधर देव भी इनका यश गाते हैं और मुनिराज भी गाते हैं। जैनधर्म की इन शिक्षाओं को वे संस्कृत भाषा में ही समझाते हैं, किन्तु इस पंचम काल में संस्कृत भाषा विरले जीव ही समझ पाते हैं, इसलिए संस्कृत भाषा के अनुसार ही इनका विवेचन नर (हिन्दी) भाषा में किया है। जो नर-नारी इसे मन लगाकर पढ़ेंगे, वे अत्यधिक सुख प्राप्त करेंगे।

संवत सत्रासै पच्याण्णव, भादव सुदि बारस तिथि जाणव।
मंगलवार उदयपुर माहैं, पूरन कीनी संशय नाहैं।।2501।।

अर्थ :– संवत् सत्रह सौ पंचानवे (1795) में भाद्रपद शुक्ला द्वादशी, मंगलवार को उदयपुर नगर में यह कार्य पूर्ण किया। इसमें कोई संशय नहीं है।

आनन्द–सुत जयसुत कौ मंत्री, जयकौ अनुचर जाहि कहै।
सो दौलत जिन–दासनि दासा, जिनमारग की शरण गहै।।2502।।

अर्थ :– आनन्दराम का पुत्र, जय के पुत्र का मंत्री, जिसे जय का अनुचर कहा जाता है, ऐसा दौलतराम जो 'जिन' के दासों का भी दास है। वह जिनमार्ग की शरण ग्रहण करता है।